समर्पण

मेजर जेनरल सी० ए० स्प्रौसन, एम० डी०,
एफ़० आर० सी० पी०, सी० आई० ई०,
आई० एम० एस; डाइरेक्टर जेनरल
इंडियन मेडिकल सर्विस,
महोदय की सेवा में
सादर समर्पित ।

प्राक्कथन

क्षयरोग जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर इस ढंग की पुस्तक की आवश्यकता बतलाने के लिए कुछ कहना व्यर्थ है। जन-संख्या की द्रुत वृद्धि और आर्थिक दुर्दशा के साथ-साथ यह दुष्ट रोग लगभग सारे देश में और विशेष कर हमारे प्रान्त में बड़ा भयंकर रूप धारण कर रहा है। ऐसी स्थिति में हिन्दी में इस विषय पर एक ऐसी पुस्तक लिखकर लेखक ने भारी देश-सेवा का कार्य किया है और जो लोग अंग्रेज़ी से अपरिचित हैं, उनकी शिक्षा के लिए उपयुक्त सामग्री एकत्रित कर दी है। हमारी देशी चिकित्सा-पद्धतियाँ जिस उत्साह के साथ आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों के समकक्ष होने की निरन्तर चेष्टा कर रही हैं, उसको देखते हुए ऐसी पुस्तक का लिखा जाना ठीक ही नहीं, बल्कि परमावश्यक है।

डा० शंकरलाल ने आठ वर्ष से भी अधिक समय तक यू० पी० जेल सैनेटोरियम के सुपरिंटेंडेंट के पद पर काम करके क्षयरोग के सभी रूपों का वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया है। उन्होंने इस उपयोगी पुस्तक की रचना में अपने अमूल्य अनुभव का उपयोग किया है। जिस सफलता के साथ उन्होंने शुद्ध हिन्दी में ऐसे कठिन चिकित्सा सम्बंधी विशिष्ट वैज्ञानिक विषय का स्पष्टीकरण किया है उससे उनकी हिन्दी की पूर्ण योग्यता प्रदर्शित होती है। उन्हें ऐसा करने में अनेकों कठिनाइयों को पार करना पड़ा है; हिन्दी में कितने ही वैज्ञानिक शब्द गढ़ने पड़े हैं जो सम्भवतः जब तक हिन्दी भाषा रहेगी, जीवित रहेंगे। आशा है, इस महान कृति को लेखक के परिश्रम के अनुरूप ही सफलता मिलेगी। लेखक ने इसके लिखने में कितना परिश्रम किया है, इसका पता इस बात से भी लगता है कि इस पुस्तक को न केवल आवश्यक शुद्ध चित्रों से ही विभूषित किया गया है बल्कि रोग के कारण, निदान और परीक्षा इत्यादि विषयों की छोटी से छोटी बातों पर भी ध्यान दिया गया है।

देशी चिकित्सा-पद्धतियों के पृष्ठपोषकों को तो डा० शंकरलाल का और भी कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली पर हिन्दी में क्षय-रोग पर एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की है। इसके द्वारा उनके विद्यार्थियों को इस रोग के विषय में आधुनिक ढंग से वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने में सुगमता मिलेगी।

यह पुस्तक सर्वथा इस योग्य है कि सरकार तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, हिन्दी नागरी-प्रचारिणी-सभा और हिन्दुस्तानी एकेडेमी आदि साहित्यिक संस्थायें इसको पूर्णतया अपनावें और ग्रन्थकार के उत्साह को बढ़ावें।

लखनऊ
२० नवम्बर, १९३३

बी० एन० व्यास,
एम० बी०, राय बहादुर,
प्रधानाध्यक्ष, निघंटु-विभाग,
किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

भूमिका

भारतवर्ष में क्षय-रोग का भयंकर प्रसार है। हर साल लाखों मनुष्य इसकी भेंट चढ़ जाते हैं। विश्वस्त आँकड़े बतलाते हैं कि यह रोग किस प्रकार दिन-बदिन बढ़ती पर है। कोई प्रान्त नहीं, जहाँ इसकी संहारलीला जारी न हो; कोई घर नहीं, जहाँ यह मेहमान न हो। जितने मनुष्य इससे मरते हैं, उससे कई गुने अधिक बीमार पड़े रहते हैं। इस रोग के कारण देश में कितना धन और जन का नाश होरहा है, इसका अनुमान करना सहज नहीं है।

परन्तु ऐसे भयंकर रोग के प्रतिकार के लिए इस देश में अभीतक कोई सन्तोषजनक उद्योग नहीं हुआ है। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि यथोचित उपाय करने से क्षय-रोग से बचाव हो सकता है और उसका प्रसार कम किया जा सकता है। यूरोप तथा अमेरिका में क्षय-निवारक समितियों को इस रोग के रोकने के प्रयत्न में आश्चर्यजनक सफलता मिली है। इस सफलता का प्रभाव भारतवर्ष में भी पड़ा है। फलतः विचारशील लोगों का ध्यान अब क्षय-रोग की समस्या की ओर आकर्षित हुआ है और जगह-जगह क्षय-निवारक समितियाँ खोली जा रही हैं।

इस कार्य में सबसे बड़ी कठिनाई है देश की जनता में क्षय-रोग के सम्बन्ध में फैला हुआ अज्ञान; अशिक्षितों का तो पूछना ही क्या है, जो लोग शिक्षित और समाज के अगुआ हैं, वे भी इस रोग के बारे में अंधकार में हैं। इसका कारण है हिन्दी में क्षय-रोग-सम्बंधी साहित्य का नितान्त अभाव। हिन्दी इस देश के जनसाधारण की प्रमुख भाषा होते हुए भी, खेद की बात है कि उसमें विज्ञान-विषयक पुस्तकें बहुत थोड़ी हैं। क्षय-रोग पर तो कोई पुस्तक है ही नहीं, कहना चाहिए। इने-गिने अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के प्रयत्न से क्षय-रोग के निवारण में सफलता नहीं मिल

सकती। जब तक कि हिन्दी में इस विषय के साहित्य की यथेष्ट वृद्धि न होगी, घर-घर में सच्चा ज्ञान नहीं फैलाया जायगा, जनसाधारण में क्षय-रोग से न जूझने की शक्ति पैदा होगी और न वे क्षय-निवारण के कार्य में सहयोग कर सकेंगे। इन्हीं बातों को सामने रखकर मैं 'क्षय-रोग' को लिखने में प्रवृत्त हुआ हूँ। मुझे आशा है, कि इस पुस्तक के प्रकाशन से उपर्युक्त उद्देश्यों की कुछ अंश तक पूर्ति अवश्य होगी। साधारण हिन्दी के जाननेवाले इसे पढ़कर इस बात को भलीभाँति समझ जायेंगे कि क्षय-रोग एक छूत की बीमारी है और सतर्कता तथा उचित उपायों के अवलम्बन से इसका प्रसार रोका जा सकता है।

चिकित्सकों, वैद्यों और विद्यार्थियों के लिये तो मैंने इस पुस्तक को विशेष रूप से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। क्षय-रोग-सम्बन्धी नई से नई खोजों तथा उनसे ज्ञात अनेक बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के समाधान तथा रोग की चिकित्सा सम्बन्धी कितनी ही गुत्थियों को सुलझाने के लिये इस विषय के भिन्न-भिन्न पाश्चात्य विद्वानों और आधुनिक लेखकों के मतों की विशद आलोचना की गई है। आजकल के वैद्यों और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिये केवल चरक और सुश्रुत का अध्ययन ही यथेष्ट नहीं है। समय के समकक्ष बने रहने के लिए उनको नई नई परीक्षा-विधियों तथा इलाजों से परिचित होना चाहिये। इस पुस्तक में इन सभी बातों का समावेश है। महत्वपूर्ण अंशों को ध्यानाकर्षक बनाने के लिए, उनको 'वक्राक्षरों' में दे दिया गया है। जटिल विषयों को समझाने के लिए पर्याप्त संख्या में चित्र भी दिये गये हैं।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। हिन्दी-भाषा का न मैं कोई विद्वान हूँ और न मुझे अच्छी हिन्दी लिखने का दावा ही है। मामूली बोलचाल की भाषा का ज्ञान रखते हुए केवल हिन्दी के प्रेम और जनसाधारण में क्षय-रोग के बारे में जागृति फैलाने की भावनाओं से प्रेरित होकर ही मैंने कुछ लिखने का साहस किया है। मेरे इस प्रथम प्रयास में भाषासम्बन्धी तथा और अनेक ऐसी त्रुटियाँ रह गई हैं जिनका दूर करना दूसरी आवृत्ति ही में सम्भव होगा। आशा है, पाठकगण इन दोषों पर ध्यान न देकर पुस्तक को उसकी उपयोगिता ही की दृष्टि से देखेंगे।

इस पुस्तक में अनेक नए वैज्ञानिक शब्दों की रचना की गई है। इस सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन करना अनुचित न होगा। हिन्दी में आधुनिक वैज्ञानिक शब्दों का अभाव है और उसका पूरा करना परमावश्यक है। परन्तु यह प्रश्न जितना ही महत्वपूर्ण है, उतना ही कठिन और विवाद-ग्रस्त भी है। कुछ लोगों का मत है कि अंग्रेज़ी के वैज्ञानिक शब्दों को ज्यों का त्यों हिन्दी में ले लेना चाहिए। इससे एक तो बने बनाए शब्द मिल जाँयगे और दूसरा लाभ यह होगा कि भारतवर्ष की सब प्रान्तीय भाषाओं में एक-से शब्द रहेंगे, जिससे उनका परस्पर भेद कम हो जायगा। यदि हिन्दी में संस्कृत के शब्द लिये गये और उर्दू में फ़ारसी और अरबी के, तो उनकी बीच की खाई और भी बढ़ जायगी। राजनैतिक दृष्टि से भी यह एक बड़े महत्व का प्रश्न है।

परन्तु भाषा की दृष्टि से इस मत का समर्थन करना कठिन होजाता है। अँग्रेज़ी के शब्दों को ज्यों का त्यों लेने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जो लोग अँग्रेज़ी नहीं जानते, वे उन शब्दों का न तो ठीक-ठीक उच्चारण कर सकते हैं, न उन्हें आसानी से समझ सकते हैं और न स्मरण रख सकते हैं।

अन्य लोगों का मत है कि भारतवर्ष की अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं का संस्कृत से सामान्य सम्बन्ध है। प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत का वही स्थान है जो यूरोप की भाषाओं में लैटिन का है। अँग्रेज़ी के अधिकांश वैज्ञानिक शब्दों की उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं में जितने आयुर्वेदिक शब्दों का प्रयोग होता है वे प्रायः सभी संस्कृत के शब्द हैं। इसलिए हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों की रचना संस्कृत के आधार पर ही करनी चाहिए और तभी वे सर्वमान्य हो सकेंगे। मैंने इसी मत का अनुसरण किया है। यह अवश्य है कि बहुत से शब्दों के गढ़ने में मैंने स्वच्छन्दता से और व्याकरण की दृष्टि से कहीं-कहीं बिलकुल निरंकुशता से काम लिया है। इसप्रकार रचे हुए शब्द सभी निर्दोष और ग्राह्य होंगे, ऐसा सम्भव नहीं है। फिर भी मुझे आशा है कि इनमें से अनेक शब्दों को आगे चलकर हिन्दी के वैज्ञानिक शब्द-भाण्डार में स्थायी स्थान मिल जायगा।

अन्त में मैं उन ग्रन्थकारों तथा प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने बड़ी उदारतापूर्वक मुझे

अपनी पुस्तकों से चित्रों को लेकर मुद्रित करने की अनुमति दी है। इनमें डाक्टर मॉरिस फिशबर्ग, डाक्टर जेम्स क्रॉकेट, डाक्टर आर० सी० विंगफील्ड, डाक्टर एडवर्ड आर० बाल्डविन, डा० एस० ए० पेट्रौफ तथा डा० एल० एस० गार्डनर महोदयों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी सम्बन्ध में लंडन के मेसर्स हेनरी किम्पटन, मेसर्स एच० के० लीविस एएड कम्पनी तथा मेसर्स कान्स्टेबिल कम्पनी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

जिन-जिन बीमा कम्पनियों तथा हेल्थ आफ़िसर महोदयों ने अपने यहाँ की क्षय-रोग सम्बन्धी सूचनाएँ भेजने की कृपा की हैं, उनका भी मैं विशेष आभारी हूँ।

हिन्दी-मंदिर प्रेस के मालिक श्रीमान् पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी भी, जिन्होंने अपनी अवधानता में इस पुस्तक को छपवाने का कष्ट उठाया है, मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

सुलतानपुर   **शंकरलाल गुप्त**

जुलाई, सन् १९३३ ई०

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

प्रस्तावना

दूसरा परिच्छेद

क्षय-कीटाणु

तीसरा परिच्छेद

क्षय-संक्रमण

चौथा परिच्छेद

क्षय-रोग का प्रसार

पाँचवाँ परिच्छेद

भारतवर्ष में क्षय-रोग का प्रसार

छठवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की उत्पत्ति

सातवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की उत्पत्ति

रोगक्षमता की विचित्र घटना

आठवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

नवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों में विकार

दसवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की लक्षणावली

रोगी का हाल

ग्यारहवाँ परिच्छेद

खाँसी, कफ और स्वरभंग

बारहवाँ परिच्छेद

ज्वर और रात्रिस्वेद

तेरहवाँ परिच्छेद

रक्त-निष्ठीवन

चौदहवाँ परिच्छेद

पाचक-संस्थान, त्वचा तथा संधियों सम्बन्धी लक्षण

पाचन संस्थान के लक्षण

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रक्त तथा मूत्र संस्थान सम्बंधी लक्षण

हृदय और नाड़ी संस्थान

सोलहवाँ परिच्छेद

राजयक्ष्मा के वात-संस्थान सम्बंधी लक्षण

सत्रहवाँ परिच्छेद

क्षय-रोगी की परीक्षा

अठारहवाँ परिच्छेद

निरीक्षण

उन्नीसवाँ परिच्छेद

स्पर्श-विधि

बीसवाँ परिच्छेद

विघातन परीक्षा

इक्कीसवाँ परिच्छेद

श्रवण-परीक्षा

बाईसवाँ परिच्छेद

रोञ्जन-किरण-परीक्षा

रोञ्जन-किरण-परीक्षा का मूल्य—रोञ्जन-किरण और प्रारम्भिक क्षय की पहिचान—सारांश—एक्सरे परीक्षा का यंत्र और विधि—एक्सरे छाया-निरीक्षण—छाया-चित्रण विधि—छाया-निरीक्षण के लाभ—छाया-निरीक्षण-विधि में कमियाँ—छायाचित्रण के लाभ—छायाचित्रण में कमियाँ—स्वस्थ फेफड़े का छायाचित्र—रोञ्जन-चित्र की परीक्षा तथा उसके वर्णन का क्रम—(१) वक्ष के अस्थिपंजर की व्यापक बनावट, (२) हृदय, (३) मध्यवक्ष का ऊपरी भाग और फुप्फुस मूल, (४) फुप्फुस शिखर, (५) फुप्फुस-गात, (६) वक्षोदरमध्यस्थ पेशी—फेफड़े के रोग में रोञ्जन-किरण परीक्षा—रोग में वक्ष की दीवार की बनावट में परिवर्तन—हृदय में परिवर्तन—हृदय की स्थिति—पार्श्विक स्थानच्युति के कारण—मध्यवक्ष और फुप्फुस मूल की छाया में परिवर्तन—फुप्फुस शिखरों के परिवर्तन—फुप्फुस-गात में परिवर्तन—पार्श्वकला की दशायें—पार्श्वकला का स्रावक प्रदाह—पार्श्वकला में पीव—वायुवक्ष—छल्लाकार छायायें—वारि-वायुवक्ष तथा पूय-वायुवक्ष—क्षय-रोग में वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के परिवर्तन—एक्सरे छाया-निरीक्षण—(१) वक्ष की बनावट, (२) और (३) हृदय और मध्यवक्ष, (४) फेफड़ों के शिखर, (५) फुप्फुस शरीर, (६) वक्षोदरमध्यस्थ पेशी—सारांश। (पृष्ठ ३९१—४१४)

चित्र-सूची

संख्या	विवरण	पृष्ठ
३७	फेफड़े का विस्तृत रंध्र	१६५
३८	फेफड़े का पृष्ठस्थ रंध्र	१६६
३९	फुप्फुस रंध्र का रक्त-नाड़ी कोष	१६७
४०	फुप्फुस रंध्र से घातक रक्तपात	१६८
४१	पार्श्वकला का पुरातन-प्रदाह	१७४
४२	आँतों के क्षयी कटिबंध व्रण	१७७
४३	प्रारम्भिक अंत्र क्षय	१७७
४४	आँतों का क्षयी व्रण	१७७
४५	आँतों का बड़ा क्षयी व्रण	१७७
४६	आँतों का पुरा हुआ क्षयी व्रण	१७८
४७	अंत्रधरा कला का उग्र बजरीला क्षय	१७९
४८	जिगर का सिक्थात्मक परिवर्तन	१८२
४९	उपक्रान्त क्षय-रोग में ज्वर	२२१
५०	क्षय-रोग की अन्तिम अवस्था में अविरत ज्वर	२२४
५१	क्षय-रोग में तरंगित ज्वर	२२५
५२	सम्वृद्ध क्षय-रोग में विषम ताप	२२७
५३	परीक्षा के समय रोगी की स्थिति (सामने)	२९२
५४	परीक्षा के समय रोगी की स्थिति (पीछे)	२९२
५५	क्षय-रोग में उँगलियाँ	२९४
५६—५७	क्षय-रोग में कान और नेत्र	२९७
५८, ५९ और ६०	क्षय-रोग में जिह्वा	२९७
६१	क्षयी-वक्ष	३००
६२	क्षय-रोग में उरच्छादनी और अंसच्छादनी पेशियों के बीच के गड्ढे का गहरापन	३०३
६३	सामने फुप्फुस-शिखरों की स्पर्श-विधि	३१७
६४	वक्ष के ऊपरी भाग के स्पर्श की दूसरी विधि	३१८
६५	सामने वक्ष के निचले भाग को स्पर्श करने की विधि	३१९
६६	पीछे फुप्फुस-शिखरों को स्पर्श करने की विधि	३१९
६७	पीछे फेफड़ों के पाददेशों को स्पर्श करने की विधि	३२०
६८	विघातमापक	३२६

क्षय-रोग

पहला परिच्छेद

प्रस्तावना

क्षय-रोग क्या है ?—जिसको लोग साधारणतः क्षय-रोग कहते हैं वह फेफड़ों का एक पुरातन रोग है, जिसके प्रधान लक्षण ज्वर, खाँसी और कृशता होते हैं। कभी-कभी रक्त-निष्ठीवन (Haemoptysis) अर्थात् कफ के साथ रक्त का गिरना भी एक लक्षण होता है। वैद्य लोग इस रोग को शोष, यक्ष्मा और राजयक्ष्मा के नाम से पुकारते हैं और हकीम लोग इसको तपेदिक़, दिक़ या सिल कहते हैं। यह कोई नवीन रोग नहीं है। प्राचीन काल में भी यह रोग होता था और लोग इससे भलीभाँति परिचित थे। परन्तु इस रोग सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन विचारों में बड़ा अन्तर होगया है। इस अन्तर का मुख्य कारण क्षय-कीटाणुओं का अनुसंधान है। जबसे इन कीटाणुओं का पता लगा है, तबसे फेफड़ों के पुरातन क्षय के अतिरिक्त अन्य प्रकार के फुप्फुस-क्षय भी ज्ञात होगये हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि फेफड़ों के अतिरिक्त शरीर के अन्य भागों में भी क्षय-रोग होता है जो फुप्फुस-क्षय से कहीं भिन्न होता है। उदर, मस्तिष्कावरण (Meninges), लसिका ग्रन्थियां (Lymph-glands), अस्थियों और संधियों में भी पर्याप्त क्षय होता है। जिस रोग को लोग विषबेल या कण्ठमाला कहते हैं, वह लसिका ग्रन्थियों का क्षय होता है।

क्षय-कीटाणुओं की खोज का एक परिणाम यह हुआ है कि अब क्षय-रोग का अर्थ पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत होगया है। आजकल सब प्रकार के

विकार, जो क्षय-कीटाणुओं से शरीर में उत्पन्न होते हैं, क्षय-रोग के अन्तर्गत समझे जाते हैं। इस व्यापक अर्थ में क्षय-रोग को अंग्रेज़ी में "ट्यूबरक्यूलोसिस" (Tuberculosis) कहते हैं। ट्यूबरक्यूलोसिस के लिए इस पुस्तक में 'यक्ष्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। सब प्रकार के क्षय-रोगों में फेफड़ों का क्षय सर्वप्रधान और सबसे अधिक होता है। इसलिए साधारण व्यवहार में केवल क्षय-रोग कहने पर फुप्फुस-क्षय का ही बोध होता है। फेफड़ों के साधारण क्षय को अंग्रेजी में थाईसिस (Phthisis) कहते हैं, जिसके लिए इस पुस्तक में राजयक्ष्मा शब्द का प्रयोग किया गया है। पाठकों को चाहिए कि यक्ष्मा और राजयक्ष्मा के इस अन्तर को भलीभाँति समझ लें और ध्यान में रक्खें।

क्षय-रोग का इतिहास—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, आजकल की भाँति प्राचीन काल में भी क्षय-रोग होता था और लोग इससे भलीभाँति परिचित थे, परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और नई-नई वैज्ञानिक बातें ज्ञात होती गईं, क्षय सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन होता गया। इस विचार-परिवर्तन का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

प्राचीन काल में संसार की सभी सभ्य जातियाँ भिन्न-भिन्न नामों से क्षय-रोग से परिचित थीं। यूनान के चिकित्सा-साहित्य में इस रोग का निश्चयात्मक वर्णन मिलता है। ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व भिन्न-भिन्न देशों में इस रोग का लोगों को यथेष्ट ज्ञान था। लंदन नगर के 'रायल कालेज आफ सर्जन्स' (Royal College of Surgeons) के अजायबघर में मिस्र देश से एकत्रित की हुई कुछ पुरानी अस्थियाँ हैं, जो ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व की कही जाती हैं। परीक्षा करने पर इनमें क्षय-रोग के चिन्ह मिले हैं। भारतवर्ष में भी लोग क्षय-रोग से भलीभाँति परिचित थे। इस रोग का वर्णन आत्रेय संहिता में, जो ईसवी सन् से कम से कम १००० वर्ष या इससे भी अधिक पूर्व की है, मिलता है। चरक और सुश्रुत-संहिता में तो इस रोग तथा इसके उपद्रव और इलाज का विस्तृत वर्णन मिलता है।

ईसवी सन् से ४६० वर्ष पूर्व यूनान के प्रसिद्ध चिकित्सक हिपोक्रैटीज़ (Hippocrates) ने लिखा था कि यह रोग १८ से ३६ वर्ष तक की आयु में सबसे अधिक होता है। उनका मत था कि क्षय-रोग दूषित

शरीर-रचना का फल होता है और इस दोष विशेष को उन्होंने क्षयी प्रकृति (Tuberculous diathesis) का नाम दिया था। ईसवी सन् से २५० वर्ष पूर्व एरीटियस् (Aeretaeus) ने समुद्र-यात्रा तथा सामुद्रिक जलवायु को क्षय-रोग के इलाज में लाभदायक बताया था। सेल्सस (Celsus) और गेलिन (Galen) ने चरक और सुश्रुत का अनुकरण करते हुये बकरी के दूध को क्षय-रोग के इलाज में हितकर और जलवायु-परिवर्तन को भी उपयोगी बताया था। प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि उनके समय में समुद्र-यात्रा क्षय-रोग की लोकप्रिय चिकित्सा समझी जाती थी। अरब के चिकित्सक भी गेलिन की भाँति क्षय-रोग के इलाज में बकरी के दूध का अधिक प्रयोग करते थे।

अरब-चिकित्सा युग के पश्चात् कई शताब्दियों तक योरोप में मध्यकालीन चिकित्सा की अवस्था शिथिल रही। उसके बाद भूमध्य सागर के निकटवर्ती देशों में, विशेषकर इटली, फ्रान्स और स्पेन में इसका पुनरुत्थान हुआ। उस समय इन देशों में यह विचार फैला हुआ था कि क्षय-रोग दूषित शारीरिक रचना से नहीं, परन्तु छूत (Contagion) से उत्पन्न होता है। क्षय-रोग के संक्रामक होने में उस समय इतना दृढ़ विश्वास था कि छूत के रोकने के लिए राज्य की ओर से बड़े-बड़े कठोर नियम बनाये गये थे। स्पेन में पंचम फिलिप के राजत्वकाल में (सन् १७००-२५ ई०) क्षय-रोगियों की अनिवार्य विज्ञप्ति (Compulsory notification) का नियम बनाया गया था। इटली में भी सन् १७५४ ई० में इसी प्रकार का क़ानून बनाया गया था। इस कानून के अनुसार चिकित्सकों के लिए प्रत्येक क्षय-रोगी की रिपोर्ट करना अनिवार्य था। रिपोर्ट होने पर ऐसे रोगियों को पृथक् करके एक असाध्यालय (Institution for incurables) में रख दिया जाता था। जहाँ रोगियों को प्रायः मृत्युपर्यन्त रहना पड़ता था। परन्तु यह नियम ३८ वर्ष के बाद रद्द कर दिया गया, क्योंकि इससे प्रजा में असन्तोष फैलता था और लोगों को बड़ा कष्ट होता था। फ्रान्स में सन् १८०९ ई० तक क्षय-रोगियों के पृथक् करने के नियमों का पालन किया गया, परन्तु बाद को सफलता प्राप्त न होने पर उन नियमों में शिथिलता आ गई।

यद्यपि क्षय-रोग के संक्रामक होने के सम्बन्ध में इतने दृढ़ विचार योरोप

में फैले हुये थे, परन्तु इँगलैंड उनसे प्रभावित नहीं हुआ था। इँगलैंड के चिकित्सक क्षय-रोग का कारण क्षयी प्रकृति या दूषित शरीर-रचना मानते थे। संक्रमण (Infection) में उनका विश्वास नहीं था। कुछ लोग अवश्य संक्रमण से क्षय-रोग के उत्पन्न होने में विश्वास करने लगे थे, परन्तु बहुमत इसके विरुद्ध था।

जब क्षय-रोगियों को पृथक् करने के नियम का वर्षों तक पालन करने पर भी क्षय-रोग को रोकने या कम करने में कोई सफलता प्राप्त न हुई तो योरोप में भी लोगों के विचार ने कुछ पलटा खाया और उन्नीसवीं शताब्दी में वे भी क्षयी प्रकृति में विश्वास करने लगे। परन्तु फ्रान्स में विलेमिन (Villemin) और जर्मनी में कोनहायम (Konhiem) तथा क्लेब (Klebb) ने खरगोश और गिनीपिग पशुओं पर प्रयोग करके यह दिखलाया कि क्षय-रोग एक पशु से दूसरे पशु को लग सकता है। उन्होंने यह विचार प्रगट किया कि क्षय-रोग का कारण कोई विष होता है जो बाहर से शरीर में प्रवेश करता है। परन्तु उस समय इस बात का पता न था कि वह विष क्या होता है। जिस समय चिकित्सकों का मत क्षय-रोग के कारण के सम्बन्ध में क्षयी प्रकृति और संक्रमण के बीच इस प्रकार डामाडोल हो रहा था, उस समय जर्मनी के डा० रौबर्ट काक (Robert Koch) ने मार्च सन् १८८२ ई० में क्षय-कीटाणुओं का अनुसन्धान घोषित कर दिया, जिससे सब सन्देह मिटकर संक्रमण का निश्चय होगया।

काक के इस अनुसन्धान से पश्चिमी चिकित्सा में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ। इस युग को यदि काक का युग कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्षय-कीटाणुओं का पता लगने के बाद अन्य कई रोगों के कीटाणुओं का भी पता लगा और परिणाम यह हुआ कि अन्य सब रोगों का कारण भी कीटाणुओं में खोजा जाने लगा। इस प्रवृत्ति का यह प्रभाव हुआ कि रोग की उत्पत्ति में कीटाणुओं को सर्वेसर्वा समझा जाने लगा और शरीर-रचना सम्बन्धी कारणों की उपेक्षा की जाने लगी। रोग सम्बन्धी सब प्रश्नों पर केवल कीटाणु-विज्ञान (Bacteriology) के दृष्टिकोण से ही विचार होने लगा।

क्षय-रोग की समस्या--क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान के बाद लोग समझने लगे कि अब क्षय-रोग के अचूक इलाज और उससे बचने के उपायों में सफलता प्राप्त करना कोई कठिन बात नहीं है। यदि क्षय-कीटाणुओं को, जहाँ मिलें, नष्ट कर दिया जाय और उनको फैलने न दिया जाय, तो क्षय-रोग से निस्सन्देह बचत हो सकती है और यदि कोई ऐसी औषधि ज्ञात हो जाय जो क्षय-कीटाणुओं को शरीर में नष्ट कर दे, तो क्षय-रोग का शर्तिया इलाज हो सकता है। इस आदर्श को सामने रखते हुये गत पचास वर्षों में जो परिश्रम हुआ है उससे कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई है, परन्तु वह बहुत थोड़ी है। पूर्ण सफलता प्राप्त न होने का एक कारण यह भी है कि कीटाणु-विज्ञानवादी शरीर-रचना सम्बन्धी कारणों की अपेक्षा क्षयोत्पादन में कीटाणुओं को कहीं अधिक प्रधानता देते रहे हैं। वास्तव में क्षय-रोग की उत्पत्ति में क्षय-कीटाणुओं का स्थान केवल उतना ही है जितना कि किसी फसल के तैयार होने में बीज का होता है। यह तो सत्य है कि बिना बीज के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, परन्तु उस वस्तु के उत्पन्न होने के लिये जितना बीज का होना आवश्यक है, उतना ही उगने के अनुकूल भूमि का होना भी। यदि भूमि की दशा अनुकूल न हो तो बीज बोने पर भी वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार क्षय-रोग के उत्पन्न होने के लिये क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त मनुष्य-शरीर का तदनुकूल दशा में होना भी आवश्यक है। क्षयोत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य चिकित्सकों के दो मत हैं। एक मत भूमि-प्रधान है और दूसरा बीज-प्रधान। परन्तु वास्तविक बात जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह है कि क्षय-रोग के उत्पन्न होने में रोग का बीज अर्थात् क्षय-कीटाणु और रोग की भूमि अर्थात् मनुष्य-शरीर, दोनों ही अपना-अपना उचित स्थान रखते हैं।

वर्तमान समय में क्षय-रोग का प्रसार—क्षय-रोग संसारभर में फैला हुआ है। न ऐसा कोई देश है और न ऐसी कोई जाति, जिसमें क्षय-रोग न होता हो। क्षय-रोग के प्रसार का विस्तृत वर्णन तो आगे चलकर उसी शीर्षक परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संसार में जितनी मृत्यु होती हैं, उनका सातवाँ या आठवाँ भाग केवल क्षय-रोग से होता है और तरुण अवस्था में जितनी मृत्यु होती हैं, उसकी तिहाई क्षय-रोग से होती है। यही कारण है कि संसार की

सभी जातियाँ इस विषय में अधिकाधिक सचेत हो रही हैं। क्षय-कीटाणुओं की खोज से इतना अवश्य हुआ है कि अब यह आशा की जाती है कि एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा जब कि मनुष्य-जाति क्षय-रोग पर विजय प्राप्त करेगी। इस आशा के सफल होने के चिन्ह प्रकट होने लगे हैं। इँगलैंड और अमेरिका में प्रयत्न करने से गत ५० वर्षों में क्षय-रोग में बहुत कुछ कमी हो चुकी है। क्षय-रोग के इलाज में भी अब बहुत कुछ उन्नति होगई है। प्राचीन तथा मध्य काल में क्षय-रोग बिलकुल असाध्य समझा जाता था, परन्तु अब यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि क्षय-रोग नितान्त असाध्य नहीं है। उचित समय पर इलाज करने से पर्याप्त संख्या में रोगी अच्छे हो सकते हैं। इस समय क्षय-रोग को याप्य या कष्टसाध्य कहना अधिक ठीक होगा।

भारतवर्ष में क्षय-रोग के विषय में जागृति—गत कई वर्षों से भारतवर्ष में भी लोगों का ध्यान क्षय-रोग की ओर आकृष्ट हुआ है। योरोप और अमेरिका में इस रोग की ओर जो अधिक ध्यान दिया गया है, इस रोग के विषय में जो साहित्य की वृद्धि हुई है और इसके प्रसार के रोकने के लिये जो बड़े-बड़े प्रयत्न किये गये हैं, उनका प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े शहरों में क्षय के प्रसार की अधिकता ने भी विचारशील पुरुषों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। भारतवर्ष में क्षय-रोग की उत्पत्ति और प्रसार में कुछ विशेष बातें ऐसी हैं जो अन्य देशों में नहीं पाई जातीं। कुछ सामाजिक कुरीतियों का इस देश में क्षय-रोग के प्रसार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सामाजिक कुरीतियों के दूर करने के विषय में कुछ मतभेद होना सम्भव है, परन्तु फिर भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विचारशील पुरुषों को कम से कम इस बात का ज्ञान तो हो जाय कि इन सामाजिक बुराइयों को जारी रखने में देश को क्या मूल्य देना पड़ता है और उनकी वेदी पर कितनी जानें प्रतिवर्ष बलिदान हो जाती हैं।

———

दूसरा परिच्छेद

—०❀०—

क्षय-कीटाणु

(Tubercle Bacilli)

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सन् १८८२ ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध डा० राबर्ट काक ने सर्वप्रथम इस बात का पता लगाया और प्रयोग द्वारा सिद्ध किया था कि क्षय-रोग एक प्रकार के कीटाणुओं से होता है। ये क्षय-कीटाणु एक प्रकार के सूक्ष्म बनस्पति होते हैं, जिनको देखने के लिए अणुवीक्षण यंत्र (Microscope) की सहायता लेनी पड़ती है।

क्षय-कीटाणुओं का आकार और परिमाण—क्षय-कीटाणु आकार में एक बहुत छोटी और पतली सींक के समान होते हैं। ये प्रायः बिल्कुल सीधे होते हैं, परन्तु कभी-कभी कुछ टेढ़े भी दिखाई देते हैं। साधारणतः उनकी लम्बाई $\frac{१}{१५०००}$ इंच के लगभग होती है और चौड़ाई लम्बाई का दसवाँ भाग होती है। क्षयी मनुष्य के कफ में वे एक-एक या दो-दो अथवा अनेक एक साथ पड़े दिखाई देते हैं। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखने से उनका आकार कई सौगुना बड़ा दिखाई देने लगता है और इसलिये हम उनको देख सकते हैं। उनके आकार और परिमाण में कभी-कभी कुछ अन्तर भी होता है। उनके शरीर को एक प्रकार का स्निग्ध पदार्थ आच्छादित किये हुये होता है, जिससे इनकी बड़ी रक्षा होती है। क्षय-कीटाणुओं में चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के लिये उन्हें किसी दूसरी वस्तु का सहारा लेना पड़ता है।

क्षय-कीटाणुओं के रँगने की विधि—क्षय-कीटाणु वर्णहीन और छोटे होने के कारण अणुवीक्षण यंत्र से भी कठिनाई से दिखाई देते हैं।

इसके अतिरिक्त श्लेष्मादि में, जहाँ वे पाये जाते हैं, उन्हीं के आकार के अन्य जातियों के कीटाणु भी पाये जाते हैं। अतएव उनको पहचानना और भी कठिन हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कीटाणु-शास्त्र-वेत्ताओं ने क्षय-कीटाणुओं के रँगने की एक विशेष विधि निकाली है, जिससे इनके पहचानने में बड़ी सुविधा होती है। जिस रोगी के कफ में यह देखना हो कि क्षय-कीटाणु हैं या नहीं, उसके कफ का एक अंश लेकर एक काँच की पट्टी पर फैलाकर एक जाला-सा बना लिया जाता है। इस काँच की पट्टी को अंगरेज़ी में स्लाइड (Slide) कहते हैं। यह तीन इंच लम्बी, एक इंच चौड़ी और लगभग $\frac{1}{20}$ इञ्च मोटी होती है।

जब कफ का जाला सूखकर तैयार हो जाता है तो काँच की पट्टी को थोड़ा गरम करते हैं, जिससे कफ-जाल जमकर पट्टी पर चिपक जाय और पानी डालने से न छूटे। अधिक गरम करने से कफ-जाल जलकर ख़राब हो जाता है।

इसके बाद कार्बल फुक्सिन (Carbol Fuchsin) नामक एक प्रकार के लाल रंग से उस कफ-जाल को रँगते हैं। पट्टी पर यथेष्ट रंग डालकर कफ-जाल को ढक देते हैं और नीचे से एक स्प्रिट लैम्प (Spirit lamp) से उसे इतना गरम करते हैं कि रंग में से भाप निकलने लगे। अधिक गरम करने से रंग उबलने लगता है और सब परिश्रम नष्ट हो जाता है। गरम करने से रंग शीघ्र और अच्छा चढ़ता है। यदि रंग कम होने लगे तो और डाल देते हैं। इसीप्रकार लगभग ५ या ६ मिनट तक ठहरने के बाद रंग को फेंककर पट्टी को पानी से धो डालते हैं और धोने के उपरान्त हलके गंधकाम्ल (शुद्ध गंधक का तेज़ाब एक भाग + पानी चार भाग) में उसको थोड़ी देर तक डाले रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गंधकाम्ल से कफ-जाल का सब लाल रंग छूट जाता है। केवल क्षय-कीटाणुओं का रंग नहीं छूटता। इसलिए इनको 'अम्ल-स्थाई' (Acid fast) अर्थात् तेज़ाब से न छूटने वाले रंग के कीटाणु भी कहते हैं। गंधकाम्ल से निकालकर और स्वच्छ पानी से धोकर उस कफ-जाल को फिर 'मैथिलिन ब्लू' (Methylene blue) नामक एक प्रकार के नीले रंग से रँगते हैं। इस रंग को केवल एक मिनट तक कफ-जाल पर छोड़ने से पर्याप्त रंग चढ़ जाता है। फल यह होता है कि उस कफ के अन्य सब
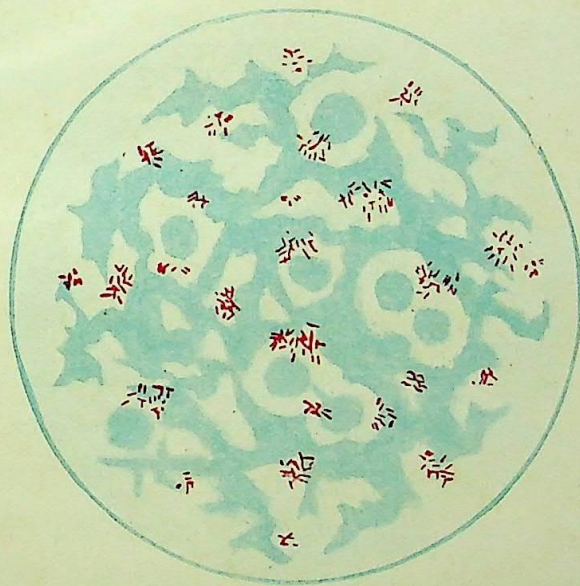
चित्र नं० १—खुर्दबीन द्वारा प्रदर्शित क्षय-रोगी का कफ

नीले रँगे हुए कफ में लाल सूक्ष्म चिह्न क्षय-कीटाणु सूचित करते हैं।

(पृष्ठ ६)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

चित्र नं० २ — क्षय-कीटाणुओं के उगाने की विधि
सफ़ेद चिह्न कृत्रिम माध्यम में उगे हुए
क्षय-कीटाणुओं के उपनिवेश
सूचित करते हैं।

(पृष्ठ ६)

The Hindi Mandir Press, Allahabad.

पदार्थ तो नील वर्ण हो जाते हैं, केवल क्षय-कीटाणु ही लाल वर्ण के रहते हैं। इसलिए जब उस पट्टी को पानी में धोकर और सुखाकर अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखते हैं तो नीले पदार्थों के बीच जगह जगह रक्तवर्ण के क्षय-शलाकाणु दिखाई देते हैं, जो वर्ण-भेद के कारण आसानी से पहचाने जा सकते हैं (चित्र नं० १)। क्षय-कीटाणुओं के अम्लस्थाईपन की विशेषता उनके आच्छादक स्निग्ध पदार्थ के कारण होती है।

क्षय-कीटाणुओं के उगाने की विधि—क्षयरोगी के कफ में क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त अन्य कीटाणु भी होते हैं और वे सबके सब श्लेष्मादि पदार्थों में सम्मिलित रहते हैं। क्षय-कीटाणुओं के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिये उनको अन्य कीटाणुओं तथा अन्य पदार्थों से पृथक् करने की आवश्यकता होती है। अन्य वनस्पतियों की भाँति क्षय-कीटाणुओं को भी रोगी के कफ से बीजारोपण करके उगाया जा सकता है। उनके पोषण और वृद्धि के लिये जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, उन सबको एकत्र करके कृत्रिम क्षेत्र या माध्यम (Artificial culture medium) तैयार किये जाते हैं और इन माध्यमों में कफ का एक अंश लेकर कीटाणुओं का बीजारोपण किया जाता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न वैज्ञानिकों ने क्षय-कीटाणुओं को पृथक् करने और उगाने की भिन्न भिन्न विधियाँ निकाली हैं और अनेक प्रकार के कृत्रिम माध्यम भी तैयार किये हैं, जिनमें ये कीटाणु उगाये जाते हैं। बीजारोपण के दस दिन पश्चात् कीटाणुओं की वृद्धि प्रकट होने लगती है और एक मास में उस माध्यम में बोये हुये क्षय-कीटाणुओं से सन्तान उत्पन्न होकर अनेक कीटाणु-उपनिवेश (Colonies) बन जाते हैं, जो धुँधले काँच के रंग के बिन्दु-से दिखाई पड़ते हैं (चित्र नं० २)।

क्षय-कीटाणु दो से पाँच प्रतिशत ग्लिसिरीन (2 to 5 p.c. Glycerine) मिश्रित रक्त-बारि, अंडा, आगर (Agar) और आलू के बने हुए माध्यमों में भलीभाँति उगते हैं। इनकी वृद्धि के लिये आक्सिजन वाष्प का होना अनिवार्य है। ये ३८° शतांश (Centigrade) से ४२° शतांश ताप-परिमाण पर अच्छे उगते हैं।

क्षय-कीटाणुओं के अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थायें—क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि के लिए एक विशेष ताप-परिमाण की आवश्यकता होती है।

अधिक गरमी कीटाणुओं के लिए हानिकर होती है। ६०° शतांश के ताप पर वे आधे घंटे में, ७०° शतांश ताप पर १५ मिनट में और ९०° शतांश पर पाँच मिनट में मर जाते हैं। परन्तु जब वे कफ में मिले रहते हैं तो उनके मरने में कुछ अधिक समय लगता है। इसीप्रकार जब वे दूध में मिले होते हैं तो और भी देर में मरते हैं, विशेषकर जब दूध एक खुले बर्तन में गरम किया जाता है; क्योंकि दूध के ऊपर जो मलाई की चादर जम जाती है, उससे उनकी अधिक रक्षा होती है, परन्तु यह देखा गया है कि कीटाणु किसी भी अवस्था में क्यों न हों, ५ मिनट तक पानी में उबालने से अवश्य मर जाते हैं।

गरमी की अपेक्षा शीत से उनको कम हानि पहुँचती है। अधिक शीत से उनकी वृद्धि रुक जाती है और उनका विषैलापन अर्थात् रोगोत्पादक शक्ति (Virulence) कम हो जाती है; परन्तु वे मरते नहीं। शीत के कम होते ही वे पुनः उत्तेजित हो उठते हैं, और उनकी वृद्धि होने लगती है।

मक्खन में क्षय-कीटाणु बहुत समय तक जीवित बने रहते हैं और इसीप्रकार गीले कफ में भी वे बहुत समय तक जीवित रहते हैं। जब कफ सूखकर धूल में मिल जाता है तब भी कई दिन तक वे जीवित बने रहते हैं।

सूर्य-प्रकाश इन कीटाणुओं के लिए अत्यन्त हानिकर होता है। तेज़ धूप में वे ५ या ६ मिनट में मर जाते हैं और साधारण सूर्य-प्रकाश में भी वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते। अँधेरी कोठरियों में, जहाँ सूर्य-प्रकाश नहीं पहुँच पाता, वे महीनों तक जीवित और विषैले बने रहते हैं। इससे यह स्वतः प्रकट होता है कि सूर्य-प्रकाश इन कीटाणुओं से मनुष्य की बहुत कुछ रक्षा करता है; परन्तु मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण इससे पूरा लाभ नहीं उठाता और प्रकृति के नियमों की अवहेलनाकर प्रकाश-विहीन मकानों में रहता है, फलतः उसको प्रकृति की ओर से क्षय-रोगरूपी दंड मिलता है।

ऐसे अनेक रासायनिक पदार्थ हैं जो शरीर के बाहर क्षय-कीटाणुओं को क्षणभर में नष्ट कर सकते हैं, परन्तु अभी तक ऐसा कोई भी रस नहीं निकला है, जो शरीर के अन्दर उन कीटाणुओं को मार सके और साथ ही शरीर पर उसका कोई हानिकारक प्रभाव न हो।

क्षय-कीटाणुओं की आयु—शरीर के बाहर क्षय-कीटाणु बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकते, क्योंकि सूर्य के प्रकाश इत्यादि से उनका शीघ्र नाश हो जाता है। कृत्रिम माध्यमों में उगाकर यह देखा गया है कि यह डेढ़ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सकते, परन्तु शरीर के अन्दर वे वर्षों तक जीवित रहते हैं। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर के अन्दर ये कितने समय तक जीवित रह सकते हैं।

क्षय-कीटाणुओं में सन्तानोत्पत्ति—क्षय-कीटाणुओं में सन्तानोत्पत्ति का ढंग बड़ा ही विचित्र होता है। एक कीटाणु जब खा-पीकर पुष्ट हो जाता है, तो उसके अपने आप दो टुकड़े हो जाते हैं, जिनसे दो पृथक् पृथक् कीटाणु बन जाते हैं। इनकी वृद्धि इतनी शीघ्रता से होती है कि दिन-रात में एक से लाखों कीटाणु बन जाते हैं। क्षय-कीटाणु केवल शरीर के अन्दर ही पुष्ट और फलीभूत होते हैं। शरीर के बाहर इनकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इनको परोपजीवी (Parasite) कीटाणु कहते हैं।

क्षय-कीटाणुओं की जातियाँ—मनुष्यों की भाँति पशुओं में भी क्षय-रोग होता है। क्षय-रोग की खोज के प्रारम्भिक काल में यह देखा गया था कि मनुष्य और पशुओं के क्षय में भेद होता है, परन्तु उस समय इस विषय पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

सबसे पहले सन् १८९८ ई० में डा० थ्योबोल्ड स्मिथ ने इस विषय में पूरी-पूरी जाँच की और यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य और पशुओं का क्षय भिन्न भिन्न जाति के कीटाणुओं से होता है और इन दोनों जाति के कीटाणुओं की आकृति, उगने की विधि और रोगोत्पादक शक्ति में अन्तर होता है। सन् १९०१ में राबर्ट काक ने भी अपना मत प्रगट किया कि उनके प्रयोगात्मक अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि मनुष्यों और पशुओं के क्षय-कीटाणु भिन्न भिन्न होते हैं।

उपरोक्त कीटाणुओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के क्षय-कीटाणु भी ज्ञात हुए हैं। रिवोल्टा और मैफुसी ने यह सिद्ध किया है कि क्षयी पक्षियों में जो क्षय-कीटाणु मिलते हैं, वे मनुष्य और पशु क्षय-कीटाणुओं से भिन्न होते हैं। भिन्न भिन्न देशों में वहाँ की सरकार द्वारा नियुक्त की हुई समितियों ने इस बात की खोज की है। उन सबकी खोज से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य क्षय-कीटाणु पशु क्षय-कीटाणुओं से भिन्न होते हैं। ब्रिटिश रायल कमीशन

(British Royal Commission) की खोज का सारांश यह है कि क्षय-कीटाणु तीन जाति के होते हैं—मनुष्य, पशु और पक्षी क्षय-कीटाणु। अधिकांश मनुष्य क्षय में केवल मनुष्य क्षय-कीटाणु ही पाये जाते हैं, किन्तु कुछ संख्या में पशु क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। पशुओं के स्वाभाविक रोग में केवल पशु क्षय-कीटाणु ही पाये जाते हैं। डा० पार्क भी अपनी विस्तृत खोज से इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्यों में क्षय-रोग दो जातियों के क्षय-कीटाणुओं से होता है, एक मनुष्य क्षय-कीटाणु और दूसरे पशु क्षय-कीटाणु।

मनुष्य क्षय-कीटाणु—ये कीटाणु सब कृत्रिम माध्यमों में भलीभाँति उगते हैं। ग्लिसिरीन मिलाने से इनकी वृद्धि और भी बढ़ जाती है। उगए हुए कीटाणुओं की आकृति लम्बी और सीधी या कुछ-कुछ टेढ़ी सींक-सी होती है।

मनुष्य क्षय-कीटाणु पशुओं के लिए साधारणतः कम विषैले होते हैं। केवल गिनीपिग पशु मनुष्य-कीटाणुओं के प्रति अधिक रोगग्रहणशील (Susceptible) होते हैं और उनमें इन कीटाणुओं से आसानी से संक्रमण उत्पन्न किया जा सकता है। खरगोश कम ग्रहणशील होता है। इनकी शिरा में मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाने से केवल हल्का और पुरातन क्षय-रोग उत्पन्न होता है, जो अच्छा हो जाता है। त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से केवल स्थानिक प्रदाह उत्पन्न होता है और उस स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं, परन्तु पकतीं नहीं। उदर कला में पिचकारी लगाने से उस कला में प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। घरेलू पशुओं में केवल शिरा में और अधिक मात्रा में पिचकारी लगाने से क्षय-संक्रमण हो सकता है, परन्तु त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से थोड़ा-सा स्थानिक प्रदाह होकर शीघ्र अच्छा हो जाता है। मनुष्य क्षय-कीटाणुओं को भोजन में मिलाकर खिलाने से बछड़ों में रोग उत्पन्न नहीं होता। सूअर, कुत्ते, बिल्ली और भेड़ों पर मनुष्य क्षय-कीटाणुओं का कोई प्रभाव नहीं होता। बन्दरों पर शीघ्र प्रभाव होता है। कुछ पक्षी भी इन कीटाणुओं के प्रति रोगग्रहणशील होते हैं।

पशु क्षय-कीटाणु—पशु क्षय-कीटाणुओं का उगाना बड़ा कठिन होता है। आकृति में ये कीटाणु मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की अपेक्षा कुछ

छोटे, मोटे और प्रायः कुछ मुड़े हुए होते हैं। दोनों जातियों के कीटाणुओं की आकृति में इतना अन्तर नहीं होता कि साधारण कीटाणु-विज्ञानवेत्ता उन्हें पहचान सकें।

मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की अपेक्षा पशु क्षय-कीटाणु ख़रगोश, बछड़े और सूअरों के लिए अधिक विषैले होते हैं। गिनीपिग पशु भी बहुत ग्रहणशील होते हैं। दोनों जाति के कीटाणुओं के विषैलेपन का अन्तर ख़रगोशों में भलीप्रकार प्रदर्शित होता है। पशु क्षय-कीटाणुओं से सदा उग्र व्यापक बजरीला क्षय (Acute miliary Tuberculosis) उत्पन्न होता है, जिससे उनकी मृत्यु हो जाती है। उसी मात्रा में मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाने से या तो रोग होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत हल्का और पुरातन रूप का। उग्र व्यापक रोग कभी नहीं होता। पशु क्षय-कीटाणुओं की अपेक्षा मनुष्य क्षय-कीटाणुओं की सौगुनी अधिक मात्रा में पिचकारी लगाने पर भी उग्र व्यापक रोग नहीं होता।

अन्य पशुओं पर भी पशु क्षय-कीटाणुओं का कहीं अधिक प्रभाव होता है। इन कीटाणुओं की पिचकारी पशुओं की शिरा में लगाने से उग्र व्यापक रोग उत्पन्न हो जाता है और भोजन में मिलाकर खिलाने से पशुओं की आँतों में क्षय-रोग हो जाता है। त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से स्थानिक प्रदाह होकर उस स्थान से सम्बन्ध रखने वाली लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं और अन्त में उग्र व्यापक क्षय होकर पशु की मृत्यु हो जाती है। सूअर, भेड़, बकरी, बिल्ली और बन्दरों पर पशु क्षय-कीटाणुओं का अधिक प्रभाव होता है, परन्तु कुत्ते और चूहे बहुत कम प्रभावित होते हैं। मुर्ग़ियों पर इन कीटाणुओं का कुछ भी असर नहीं होता।

पक्षी क्षय-कीटाणु—उपरोक्त दोनों जातियों के कीटाणुओं की अपेक्षा पक्षी क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि कृत्रिम माध्यमों में अधिक होती है। ये कीटाणु ४१° शतांश ताप-परिमाण पर भी बढ़ते रहते हैं, परन्तु इस ताप पर उपरोक्त दोनों जाति के कीटाणुओं की वृद्धि नहीं होती। इनकी आकृति भी उनसे कुछ भिन्न होती है।

पशुओं में केवल ख़रगोश और चूहों में, पक्षी क्षय-कीटाणुओं से रोग उत्पन्न किया जा सकता है। मुर्ग़ियों के लिए ये कीटाणु बड़े बिषैले होते

हैं। क्षयी पक्षियों की रोग-ग्रस्त इन्द्रियों के खाने से मुर्गियों में तुरन्त क्षय-रोग हो जाता है। परन्तु इन्हीं मुर्गियों पर क्षयी मनुष्य के कफ को अधिक मात्रा में खिलाने पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। तोतों में तीनों जातियों के कीटाणुओं से रोग हो जाता है। मनुष्यों में इन कीटाणुओं से रोग नहीं होता।

विभिन्न जाति के क्षय-कीटाणु कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं ?

मनुष्य क्षय-कीटाणु—मनुष्यों में क्षय-रोग इन्हीं कीटाणुओं से होता है। फेफड़ों का साधारण पुरातन-क्षय तो केवल इन्हीं कीटाणुओं से उत्पन्न होता है। कभी-कभी कुछ पशुओं में, जिनका मनुष्यों से घनिष्ठ सम्पर्क रहता है, ये कीटाणु पाये जाते हैं। पक्षियों में से केवल तोतों में इन कीटाणुओं से कभी-कभी रोग उत्पन्न हो जाता है।

पशु क्षय-कीटाणु—इन कीटाणुओं से साधारणतः गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़े इत्यादि घरेलू पशुओं में क्षय-रोग होता है। बहुधा सूअर, कुत्ते, बिल्लियों और बन्दरों में भी क्षय-रोग इन्हीं कीटाणुओं से होता है।

पक्षी क्षय-कीटाणु—इन कीटाणुओं से साधारणतः पक्षियों में क्षय-रोग होता है। कभी कभी इनसे घोड़ों, बन्दरों और चूहों में भी क्षय होते देखा गया है। मनुष्यों में भी इन कीटाणुओं से उत्पन्न क्षय-रोग के कुछ उदाहरण लोगों ने दिये हैं, परन्तु वे पूर्णतः विश्वसनीय नहीं हैं।

मनुष्यों में पशु कीटाणुकृत क्षय-रोग—यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि अनेक मनुष्यों में विशेषकर बच्चों में क्षय-रोग पशु क्षय-कीटाणुओं से होता है। डा० मोलर ने २०४८ क्षय रोगियों के रोग का एक विवरण लिखा है। इनमें से तरुण अवस्था वाले रोगियों में केवल २·१ प्रतिशत में पशु क्षय-कीटाणु मिले थे और इनमें से अधिकांश में लसिका ग्रन्थियों तथा उदर का रोग था। फेफड़े के क्षय में केवल ५·१ प्रतिशत में ये कीटाणु मिले थे। पशु कीटाणुकृत क्षय-रोग से पीड़ित १८६ रोगियों में से १४५ सोलह वर्ष से कम आयु के थे और इनमें से १०१ को ग्रीवा तथा उदर की लसिका ग्रन्थियों का रोग था। उन्होंने यह भी पता लगाया कि जब पशु-कीटाणुओं से मनुष्य में रोग होता है तो बहुत हल्का होता है। इसीप्रकार की एक खोज डा० पार्क और क्रम्बीड ने ८४० क्षय रोगियों के सम्बन्ध में की थी, जिससे यह विदित

हुआ था कि १६ वर्ष की आयु के बाद पशु-कीटाणुओं से केवल त्वचा, उदर और लसिका ग्रन्थियों का क्षय-रोग होता है। फुप्फुस क्षय के ७७८ रोगियों में से केवल तीन में पशु-कीटाणु पाये गये थे। इससे यह स्पष्ट है कि फेफड़ों के क्षय-रोग में पशु-कीटाणुओं का प्रभाव नहीं होता है।

परन्तु बच्चों में बात इसके विपरीत होती है। ५ वर्ष से कम आयु में ग्रन्थि-क्षय ६१ प्रतिशत, उदर-क्षय ५८ प्रतिशत और उग्र व्यापक तथा मस्तिष्कावरण के क्षय का ६६ प्रतिशत पशु क्षय-कीटाणुओं से होता है।

अर्वाचीन अन्वेषकों ने भी इस बात का समर्थन किया है कि पशु क्षय-कीटाणुकृत क्षय बचपन में बहुत होता है और युवावस्था के उपरान्त बहुत कम होता है। डा० स्टैन्ले ग्रिफिथ को १०६८ रोगियों की खोज करने पर ८०३ में मनुष्य-क्षय-कीटाणु, १९४ में पशु क्षय-कीटाणु और ५ में मिश्रित कीटाणु मिले थे।

आयु के अनुसार इन रोगियों का विवरण इस प्रकार है:—

आयुकाल	रोगी संख्या	पशु क्षय-कीटाणुओं की प्रतिशत संख्या
०— ५ वर्ष	२२१	३७·५५
५—१० ,,	३१३	२९·४५
१०—१६ ,,	१५०	१४·६६
१६ से ऊपर	३८४	६·२५
कुल योग	१०६८	२०·७%

रोग-भेदानुसार डा० ग्रिफिथ को पशु क्षय-कीटाणु इस प्रकार मिले थे:—

अस्थि और संधि-क्षय	१९·७ %
जननेन्द्रियों का क्षय	१७·६५%
कंठमाला	४६·३%
मष्तिष्कावरण का क्षय	२०%
लसिका ग्रन्थियों का क्षय	३४·६५%
त्वचा का क्षय	४८·९%

डा० मिचेल का कहना है कि कंठमाला रोग में ९० प्रतिशत में पशु क्षय-कीटाणु पाये जाते हैं।

पशु क्षय-कीटाणु सदा पशुओं से मनुष्यों तक पहुँचते हैं। मनुष्य से मनुष्य को पशु-कीटाणुकृत संक्रमण नहीं होता।

पशु-कीटाणुओं का मनुष्यों के लिये विषैलापन—इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि पशु-कीटाणुओं से मनुष्यों में जो रोग होता है वह बहुत हल्का होता है और उससे कदाचित ही मनुष्य को मृत्यु होती है। यह सब लोग जानते हैं कि फेफड़ों का क्षय ही प्राणघातक होता है और लसिका ग्रन्थि, अस्थि और संधियों का क्षय बहुधा अच्छा हो जाता है। परिवेष्ठन-कलाओं (Lining membranes) के क्षय की प्रवृत्ति भी अच्छा होने की ओर होती है। झिल्लियों में केवल मस्तिष्कावरण का क्षय घातक होता है। यह भी ज्ञात है कि उदर की परिवेष्ठन-कला का रोग बहुधा पशु-कीटाणुओं से होता है। यद्यपि बाल्यावस्था में ग्रीवा और वक्षस्थल की लसिका ग्रन्थियों का रोग बहुत होता है, फिर भी इस अवस्था में क्षय-रोग से मृत्यु बहुत कम होती है। परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि बाल्यकाल के विभिन्न प्रकार के हल्के रोगों से शरीर में कुछ रोग-क्षमता (Immunity) उत्पन्न हो जाती है जो वर्षों तक रहती है और जिसके कारण मनुष्य-कीटाणुकृत क्षय-रोग से बहुत कुछ रक्षा होती है।

भारतवर्ष में पशु-कीटाणुकृत रोग—पश्चिमी देशों की तरह भारतवर्ष में इस बात की अभी तक कोई खोज नहीं हुई है कि विभिन्न प्रकार के क्षय-रोगों का कितना प्रतिशत, मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से और कितना प्रतिशत, पशु क्षय-कीटाणुओं से होता है। इतना अवश्य विदित हुआ है कि पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में पशु-कीटाणुकृत क्षय कम होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस देश में पशुओं में क्षय-रोग कम होता है।

क्षय-कीटाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति—क्षय-कीटाणु बड़े विषैले होते हैं। अभी तक यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि किन किन कारणों से उनका विषैलापन न्यूनाधिक होता है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि विषैलापन कीटाणुओं के अनुकूल अवस्था में रहने से अधिक और प्रतिकूल अवस्था में रहने से कम होता है। कीटाणुओं को कृत्रिम माध्यमों में उगाने से भी विषैलापन कम हो जाता है। तीनों जाति के कीटाणुओं के विषैलेपन में अन्तर होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

कि मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से केवल मनुष्यों में ही क्षय उत्पन्न होता है, परन्तु प्रयोग द्वारा कुछ पशुओं में भी इनसे रोग उत्पन्न किया जा सकता है। घरेलू पशुओं पर तो इनका प्रभाव बहुत कम पड़ता है, परन्तु बन्दर और गिनीपिग में शीघ्र रोग उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इन पशुओं को 'ग्रहण-शील' (Susceptible) पशु कहते हैं। पशु क्षय-कीटाणुओं से स्वतः तो पशुओं में रोग होता है, परन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है इनसे मनुष्यों में भी क्षय-रोग होता है, विशेषकर बाल्यावस्था में। पक्षी क्षय-कीटाणु केवल पक्षियों के लिए ही विषैले होते हैं, मनुष्य और पशुओं में इनसे रोग उत्पन्न नहीं होता।

भिन्न भिन्न प्रकार के क्षय-रोगों से अलग किये हुये कीटाणुओं के विषैलेपन में प्रायः कुछ कुछ अन्तर होता है। इसलिए कुछ लोग क्षय-रोग के रूप-भेदों का कारण विषैलेपन का अन्तर मानते हैं, परन्तु अभी तक इस विषय के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

क्षय-कीटाणुओं के विष—जब क्षय-कीटाणु मनुष्य-शरीर में प्रवेश करते हैं तो कई प्रकार से हानि पहुँचाते हैं। जिस स्थान पर वे जाकर टिकते हैं, उसको नष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी सम्वृद्धि से समस्त शरीर में विकार उत्पन्न होता है। इससे यह विदित होता है कि इन कीटाणुओं में कुछ ऐसे विष होते हैं जो रक्त में मिलकर समस्त शरीर को हानि पहुँचाते हैं। परन्तु अभी तक इन विषों को अलग करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है, क्योंकि ये विष कीटाणुओं के शरीर के अन्दर ही रहते हैं, केवल उनके मरने पर, जब उनका शरीर छिन्न-भिन्न होता है, बाहर निकलते हैं। उनके रासायनिक संघटन का अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लगा है; क्योंकि उनको शुद्धावस्था में कीटाणुओं से पृथक् नहीं किया जा सका है। कुछ वैज्ञानिकों ने क्षय-कीटाणुओं को भिन्न भिन्न कृत्रिम माध्यमों में उगाकर और घोंट-पीसकर ऐसे पदार्थ तैयार किये हैं, जिनमें यह विष सम्मिलित रहते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि इन पदार्थों में क्षय विषों के अतिरिक्त कीटाणुओं के भग्नावशेष और माध्यम पदार्थ भी सम्मिलित रहते हैं। इन मिश्रित पदार्थों को अँग्रेजी में 'ट्यूबरकुलीन' (Tuberculin) कहते हैं। हिन्दी में इन पदार्थों को उपयुक्त नाम के अभाव के कारण तथा अँग्रेजी नाम के आधार पर "यदिमन" कहना अनुचित न

होगा। भिन्न भिन्न विधियों से और अनेक माध्यमों में बनने के कारण अनेक प्रकार की यक्ष्मिन बनाई गई हैं, जिनमें आपस में थोड़ा थोड़ा अन्तर होता है।

यक्ष्मिन के गुण—सबसे पहले सन् १८९० ई० में डा० राबर्ट काक ने उपरोक्त कृत्रिम क्षय विष (यक्ष्मिन) तैयार किये थे और पशुओं पर प्रयोग करके उनके गुणों की जाँच की थी।

उन प्रयोगों के फल का सारांश इसप्रकार है। यदि यक्ष्मिन की पिचकारी किसी स्वस्थ पशु में त्वचा के नीचे लगाई जाय तो कुछ असर नहीं होता, परन्तु इसके विपरीत यदि किसी क्षयी पशु के इसीप्रकार अधिक मात्रा में पिचकारी लगाई जाय तो रोग अति तीव्र होकर पशु की मृत्यु हो जाती है और यदि यक्ष्मिन की मात्रा कम हो तो पिचकारी के स्थान पर केवल प्रदाह उत्पन्न होकर दो एक दिन में शान्त हो जाता है। यदि कुछ दिन के अन्तर से अल्प मात्रा में यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो क्षयी पशु को लाभ होता है।

इसीप्रकार स्वस्थ मनुष्य पर भी यक्ष्मिन की पिचकारी का कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु क्षयपीड़ित या क्षयसंक्रामित मनुष्य में पिचकारी के स्थान पर प्रदाह और समस्त शरीर में आलस्य, हड़फूटन और हरारत उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं प्रयोगों के आधार पर क्षय-रोग की परीक्षा और इलाज में यक्ष्मिन का प्रयोग आरम्भ किया गया था।

क्षय-कीटाणुओं के उत्पत्ति-स्थान—क्षय-कीटाणुओं के प्रधान उद्गम-स्थान क्षयी मनुष्य और पशु होते हैं। क्षयी मनुष्य के कफ में करोड़ों कीटाणु प्रतिदिन उसके शरीर से बाहर निकलते हैं। कार्नेट का अनुमान है कि एक दिन में एक क्षयरोगी लगभग ७२०,००,००,००० कीटाणु अपने शरीर से बाहर निकालता है। इसके अतिरिक्त रोग के स्थानानुसार रोगी के मल-मूत्र और पीव इत्यादि में भी क्षय-कीटाणु रोगी के शरीर से बाहर निकलते हैं। क्षयी पशु का माँस खाने और उसका दूध पीने से क्षय-कीटाणु मनुष्य-शरीर तक पहुँच सकते हैं।

तीसरा परिच्छेद

क्षय-संक्रमण

क्षय-संक्रमण की समस्या—सन् १८८२ ई० में क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान के बाद लोग समझने लगे कि अब क्षयोत्पत्ति सम्बन्धी सब प्रश्न हल हो गये। रोगोत्पादक कीटाणु मनुष्य-शरीर में प्रवेश करके किसी स्थान पर टिक जाते हैं और अपनी वृद्धि तथा संवर्तन क्रियाओं से विष उत्पन्न करके शरीर का नाश कर देते हैं। इतना ज्ञान होने पर लोग सोचने लगे कि क्षय-रोग का रोकना कोई कठिन बात नहीं है। जहाँ कहीं मिलें, क्षय-कीटाणुओं को नष्ट कर देना चाहिये और यदि किसी कारणवश नष्ट करने के प्रयास में सफलता न मिले तो मनुष्य शरीर में उनको प्रवेश न करने देना चाहिए।

क्षय-कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए यह जानना आवश्यक था कि प्रकृति में वे कहाँ पाये जाते हैं। प्रकटतः यह एक आसान बात थी। हम यह जानते है कि क्षय-कीटाणु परोपजीवी होते हैं। वे केवल मनुष्य, पशु और पक्षियों के शरीर में रहते हैं और वहीं उनकी वृद्धि होती है। शरीर के बाहर वे अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकते। क्षयी मनुष्य और क्षयी पशु के स्रावों तथा मलों में वे शरीर से बाहर निकलते हैं। इसलिए केवल क्षयी मनुष्य और पशु हो क्षय-रोग के फैलने के कारण होते हैं।

यह बताया जा चुका है कि क्षय-कीटाणु तीन जाति के होते हैं। इनमें से पक्षी क्षय-कीटाणुओं का मनुष्यों के क्षय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव मनुष्य के क्षय के सम्बन्ध में विचार करने के लिये केवल मनुष्य और पशु जाति के कीटाणु शेष रह जाते हैं।

सावधानी से जाँच करने पर यह ज्ञात हुआ है कि तरुणावस्था के साधारण फुफ्फुस-क्षय का ९९ प्रतिशत और बाल्यावस्था के क्षय का ९० प्रतिशत रोग मनुष्य जाति के कीटाणुओं से होता है। पशु जाति के कीटाणु बाल्यावस्था के क्षय में केवल १० प्रतिशत रोगियों में पाये जाते हैं और तरुणावस्था के राजयक्ष्मा-रोग में ये कीटाणु इतने कम पाये जाते हैं कि उन पर विचार करना निरर्थक है।

उपलब्ध साक्षी से यह विदित होता है कि बाल्यावस्था में पशु क्षय-कीटाणुओं से जो रोग होता है, वह प्रधानतः हल्का होता है और लसिका-ग्रन्थियों, त्वचा, अस्थियों तथा संधियों में होता है। दूसरे शब्दों में क्षयी पशुओं के दूध के साथ पशु-कीटाणुओं के भक्षण से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उनका महत्व मानव क्षय-कीटाणुओं से उत्पन्न युवावस्था के राजयक्ष्मा की समस्याओं के महत्व की तुलना में तुच्छ है।

क्षय-कीटाणुओं का रूपान्तर—अधिक अध्ययन से यह समस्या जटिल होगई है। अनेक विशेषज्ञों का कहना है कि पशु क्षय-कीटाणु मानव शरीर में बहुत दिनों तक रहने पर अपने को नये वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं और मनुष्य-कीटाणुओं के लक्षण प्राप्त कर लेते हैं। यह एक प्रकार का जीव-शास्त्रीय रूपान्तर है। यह स्पष्ट है कि राजयक्ष्मा के निर्मूल करने के प्रयास में यह प्रश्न बड़े महत्व का है। सभ्य देशों में जिन बालकों में हल्के रोग होते हैं, उनमें से १० प्रतिशत के शरीरों में पशु-कीटाणु वर्षों तक बने रहते हैं। इस काल में वे अपने आप को मानव-शरीर के वातावरणों के अनुकूल बना लेते हैं। और जब प्रौढ़ावस्था में उनसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है तो उनमें मनुष्य-कीटाणुओं के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रश्न के सम्बन्ध में अनेक लोगों ने जाँच की है। यद्यपि इस रूप-परिवर्तन की सम्भावना अस्वीकार नहीं की जा सकती, परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में जो खोज हुई है उससे ऐसा होना प्रमाणित नहीं होता। अधिकतर उपलब्ध साक्षी इस बात के पक्ष में हैं कि मनुष्य का राजयक्ष्मा रोग केवल मनुष्य-कीटाणुओं से होता है और बाल्यावस्था के पशु-कीटाणुजात संक्रमण को प्रौढ़ावस्था के राजयक्ष्मा रोग का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि अभी तक यह सिद्ध नहीं हुआ है कि एक जाति के कीटाणुओं का दूसरी जाति में रूपान्तर होता है।

जिन कीटाणुओं से वयस्कों में राजयक्ष्मा होता है और शिशुओं तथा बालकों में घातक क्षय-रोग होता है, उनका उद्गम-स्थान क्षयी मनुष्य प्रतीत होते हैं। इनके कफ में लाखों क्षय-कीटाणु निकलते हैं जो स्वस्थ मनुष्यों में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि राजयक्ष्मा के निर्मूल करने में केवल मनुष्य क्षय-कीटाणुओं का ही सामना करना है।

क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश-मार्ग—क्षय-रोग के रोकने के उपाय करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि क्षय-कीटाणु किसप्रकार मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं। साधारण मनुष्यों के लिये यह प्रश्न सन्तोषपूर्वक हल होगया है। जब क्षय-कीटाणु क्षयी मनुष्यों से आते हैं तो वे साधारणतः श्वास तथा भोजन के साथ शरीर में प्रवेश करते हैं और जब वे क्षयी पशुओं से आते हैं तो भोजन के साथ मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं। परन्तु बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह समस्या अभी पूर्णतः हल नहीं हुई है। क्षय-रोग के क्षेत्र में महान् प्रयोगक और कार्यकर्त्ता रोमर का कहना है कि क्षय-कीटाणुओं के बताए हुए प्रवेश मार्गों में से ऐसा कोई नहीं है जिससे क्षय-संक्रमण संबन्धी सब प्रश्न पर्य्याप्त रूप से हल हो जाते हों। यह स्पष्ट है कि कीटाणुओं के लिए चार प्रवेश-मार्ग सम्भव हैं।

(१) त्वचा अथवा श्लेष्म-कला (Mucous membrane) को बेधकर।

(२) श्वास-मार्ग से श्वास के साथ।

(३) भोजन के साथ अशन-मार्ग से।

(४) जनन तथा जरायु-मार्ग अर्थात् जन्म से पूर्व माता-पिता से गर्भाधान के समय गर्भ में पहुँचकर।

त्वचा-मार्ग—क्षय-कीटाणुओं की विश्व-व्यापकता पर विचार करने से तो यह अनुमान होता है कि कदाचित् मनुष्य के शरीर में उनके प्रवेश करने का मुख्य और सुगम मार्ग त्वचा होगी, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो आज कदाचित् ही कोई भाग्यशाली मनुष्य क्षय-रोग से बचा दिखाई पड़ता, क्योंकि क्षय-कीटाणुओं का त्वचा तक पहुँचना अत्यन्त सरल है। सैकड़ों तरह से कीटाणुओं का त्वचा से स्पर्श हो सकता है—जैसे दरवाज़ा, रोगी के बर्तन, रुपये-पैसे, किताब, समाचार-पत्र

इत्यादि छूने से और हाथ मिलाने से। डा० पामर ने छूत के ऐसे साधनों की संख्या की गणना करके ११९ बताई है जो किसी भी दशा में पूर्ण नहीं कही जा सकती। परन्तु ईश्वर की कृपा से क्षय-कीटाणुओं में त्वचा को बेधने की शक्ति नहीं होती। भग्न त्वचा और आघातों से ये शरीर में अवश्य घुस सकते हैं। इसके अनेक उदाहरण भी पाये जाते हैं। मुसलमान और यहूदो बच्चों में खतना के समय अस्वच्छता से, डाक्टरों में चोर-फाड़ करते समय उँगली इत्यादि कट जाने से, मांस-व्यवसायियों में क्षयी-पशुओं को काटते समय चोट लग जाने से, कर्ण-बेधन में दूषित सूई चुभने से और थूकदान के टूटने पर चोट लग जाने से क्षय-संक्रमण होता देखा गया है। इसके अतिरिक्त प्रयोगशाला में पशुओं के शरीर में त्वचा बेधकर क्षय-कीटाणुओं को शरीर में प्रविष्टकर क्षय-रोग उत्पन्न किया जा सकता है।

त्वचा की रोग-क्षमता—मनुष्य की त्वचा में क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने को यथेष्ट स्वाभाविक शक्ति होती है। त्वचा के रोग-क्षम (Immune) होने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा त्वचा का क्षय बहुत कम होता है और जब कभी होता भी है तो बहुत हल्का और त्वचा ही में परिमित रहता है, अधिक फैलता नहीं; क्योंकि त्वचा में क्षय-कीटाणुओं का न तो पोषण होता है और न उनकी वृद्धि ही होने पाती है। जहाँ तक ज्ञात हुआ है, यह कहा जा सकता है कि त्वचा-मार्ग से क्षय-कीटाणु स्वतः बहुत कम शरीर में प्रवेश कर पाते हैं। इसलिये क्षयोत्पत्ति में त्वचा-मार्ग को कीटाणु-प्रवेश का साधारण मार्ग नहीं कहा जा सकता।

श्वास-मार्ग—क्षय-कीटाणु के शरीर में प्रवेश करने का यह सर्व-प्रधान मार्ग समझा जाता है। प्राचीन काल से ही लोग श्वास-मार्ग को प्रधान मार्ग मानते आये हैं, परन्तु सबसे पहले यह काक और उनके शिष्य कॉर्नेट का ही काम था कि उन्होंने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया कि सूखे कफ से मिली हुई धूल श्वास के साथ अन्दर जाने से गिनीपिग पशुओं में क्षय-रोग हो जाता है। उन्होंने इस बात को इसप्रकार सिद्ध किया था। एक कमरे में एक कालीन बिछाकर और उस पर क्षयरोगी का सूखा हुआ कफ डालकर गिनीपिग पशुओं को उस कालीन पर रक्खा था। जब कालीन पर झाड़ू लगती थी तो कफ-मिश्रित धूल हवा में उड़कर श्वास के साथ उन पशुओं के फेफड़ों में

पहुँचती थी। ऐसा करने से पशुओं में क्षय-रोग उत्पन्न हो जाता था। इसीप्रकार के अन्य वैज्ञानिकों ने भी अनेक प्रयोग-सिद्ध प्रमाण एकत्रित किये हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि कफ मिली हुई धूल श्वास के साथ अन्दर जाने से क्षय-रोग उत्पन्न हो जाता है। इस बात से विदित होता है कि जिन घरों में असावधान क्षयरोगी रहते हैं, उनमें रहने वाले लोगों को सूखे हुए कफ से कितना डर रहता है।

सूर्य-प्रकाश से खुले हुये स्थानों में क्षय-कीटाणु शीघ्र मर जाते हैं। इससे उनके अधिक फैलने में रुकावट पड़ती है। परन्तु सूर्य के प्रकाश की कमी से क्षय-रोग बहुत फैल सकता है और साधारणतः क्षय-रोगी ऐसे ही घरों में रहते हैं जहाँ सूर्य-प्रकाश बहुत कम पहुँचता है। इसीलिए क्षय-कीटाणु बहुत दिनों तक जीवित बने रहते हैं।

थूक की फुहार से संक्रमण—इसके अतिरिक्त क्षयरोगी के बोलने, खाँसने और छींकने में जो कफ की फुहार बाहर निकलती है, उसमें मिले हुए क्षय-कीटाणु निकटस्थ मनुष्यों के श्वास के साथ उनके शरीर में प्रवेश करते हैं। प्रयोग द्वारा सिद्ध हो चुका है कि रोगी के कफ के कणों में, जो इस प्रकार बाहर निकलते हैं, क्षय-कीटाणु होते हैं। यदि रोगी के खाँसते समय काँच की पट्टी उनके सामने रख दी जाय तो एक गज़ दूर तक रक्खी हुई पट्टी पर क्षय-कीटाणु पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि यदि गिनीपिग पशुओं को सामने खड़ा करके क्षयरोगी लगातार खाँसे तो उनमें से बहुत से पशुओं को क्षय-रोग हो जाता है। मनुष्यों में भी इस प्रकार के कई एक उदाहरण पाये जाते हैं। हेम्बर्गर ने एक पागल लड़के को तीन क्षयी लड़कियों के साथ एक कमरे में रख दिया था। लड़के के पागल होने के कारण तीनों लड़कियाँ उससे बचती रहती थीं, इसलिये वह लड़का सात महीने साथ रहने पर भी क्षय-संक्रमण से बचा रहा। इसके प्रतिकूल एक रोगी के साथ एक कमरे में चार लड़कों को रक्खा गया था। एक मास के भीतर उन चारों को क्षय-संक्रमण होगया। इसीप्रकार का प्रयोग न्यूयार्क नगर के एक शिशु-आश्रम में किया गया था, जिसमें एक क्षय-पीड़ित उपचारिका से अनेक शिशुओं को क्षय-संक्रमण हो गया था। इसीप्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कफ की फुहार से क्षय-संक्रमण

होता है। कुछ लोगों का मत है कि श्वास-मार्ग से क्षय-संक्रमण होने में धूल की अपेक्षा कफ की फुहार का महत्व अधिक होता है।

श्वास-मार्ग से क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश में प्राकृतिक रुकावटें—त्वचा की भाँति श्वास मार्ग से भी कीटाणुओं के प्रवेश करने में कुछ प्राकृतिक रुकावटें होती हैं जिनके कारण कीटाणुओं का फेफड़ों तक पहुँचना कठिन हो जाता है। सर्व प्रथम नाक, मुँह और कंठ छन्नी का काम करते हैं। श्वास वायु में जो धूल इत्यादि हानिकारक पदार्थ होते हैं इन्हीं स्थानों में रुक जाते हैं। इसके अतिरिक्त श्वास-मार्ग की श्लेष्म-कला (Mucous membrance) में लोमष सेलें (Ciliated cells) होती हैं जिनके लोमों की गति बाहर की ओर होती है। श्लेष्म एक चिकना और चिपकने वाला पदार्थ होता है, इसलिये धूल और कीटाणु इत्यादि उसमें चिपक जाते हैं और फिर वह कला की सेलों की लोम-गति से बाहर निकाल दिया जाता है। आवश्यकता होने पर श्लेष्म के बाहर निकलने में खाँसने से भी बड़ी सहायता मिलती है।

इतने पर भी जब कुछ कीटाणु फेफड़ों तक पहुँच जाते हैं तो उनके किसी स्थान पर जमने से पहले ही लसिका-कण (Lymphocytes) या तो उनको नष्ट कर देते हैं या पकड़कर लसिका-ग्रन्थियों में ले जाते हैं जहाँ पर वे कैद हो जाते हैं। इन ग्रन्थियों में वर्षों तक क्षय-कीटाणु जीवितावस्था में बन्द पड़े रहते हैं और अवसर पाकर फिर उत्तेजित होकर क्षयरोग उत्पन्न करते हैं। कीटाणुओं के इस प्रकार शरीर की लसिका ग्रन्थियों में बन्द पड़े रहने को गुप्त-क्षय (Latent Tuberculosis) का एक रूप समझना चाहिए।

अन्न-मार्ग—यह मार्ग भी क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने का एक मुख्य मार्ग है। दूषित खाना, पानी, दूध इत्यादि के प्रयोग से कीटाणु बड़ी सरलता से शरीर में प्रवेश कर सकते हैं और करते हैं।

दूध दो प्रकार से क्षय-कीटाणुओं से दूषित हो सकता है। एक, दूधवाले पशु के क्षयी होने से और दूसरा शुद्ध दूध के दुहे जाने के बाद उस पर मक्खियों के बैठने या क्षयी मनुष्य के छूने से। मक्खियाँ जब क्षयरोगी के कफ या मल पर बैठती हैं तो वह (कफ या मल) उनके पैर और मुँह में लग जाता है। फिर जब वही मक्खियाँ खुले दूध पर उड़कर बैठती हैं तो

कफ और मल के कण दूध में मिल जाते हैं। इसीप्रकार खाने की किसी भी वस्तु को मक्खियाँ दूषित कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त क्षयरोगी के छूने और उसके साथ या उसके बर्तनों में खाने से भी खाद्य पदार्थ दूषित हो जाते हैं।

अन्न-मार्ग के दो प्रधान स्थान हैं, जहाँ से क्षय-कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं; पहला ऊर्ध्व भाग, (मुख, कण्ठ इत्यादि) और दूसरा अधोभाग, (अँतड़ियाँ इत्यादि)। जब क्षय-कीटाणु मुख अथवा कण्ठ की श्लेष्म-कला से प्रवेश करते हैं तो पहले ग्रीवा की लसिका ग्रन्थियों में पहुँचते हैं जो कभी कभी कुपित होकर बड़ी हो जाती हैं। गर्दन की इन बढ़ी हुई ग्रन्थियों को कण्ठमाला-रोग कहते हैं। ग्रीवा ग्रन्थियों से क्षय-कीटाणु वक्षस्थल की ग्रन्थियों में पहुँच जाते हैं और वहाँ से फेफड़ों में पहुँच जाते हैं।

जब क्षय-कीटाणु अँतड़ियों से प्रवेश करते हैं तो पहले अंत्रधरा-कला (Mesentry) अर्थात् आँतों की झिल्ली की ग्रन्थियों में पहुँचते हैं, जो कभी बढ़ जाती हैं और उनके बढ़ जाने से उदर की गिल्टियों का क्षय हो जाता है, जिसको अंग्रेजी में 'एब्डामिनल ट्यूबरक्लोसिस' (Abdominal Tuberculosis) कहते हैं। इन ग्रन्थियों से लसिकाद्वारा लसिका महाशिरा (Thoracic duct) से होते हुये कीटाणु फेफड़ों में पहुँच जाते हैं।

अन्न-मार्ग में स्वाभाविक रुकावटें—स्वस्थ श्लेष्म कला को चीरकर शरीर में प्रवेश करने की शक्ति क्षय-कीटाणुओं में नहीं होती, परन्तु अन्न-मार्ग की सम्पूर्ण कला का सदैव अभग्नावस्था में रहना असम्भव है। अतएव कीटाणुओं को कहीं न कहीं प्रवेश करने का अवसर मिल ही जाता है। त्वचा की भाँति अन्न-मार्ग की श्लेष्म कला में भी क्षय-कीटाणुओं के रोकने की कुछ स्वाभाविक शक्ति होती है। यही कारण है कि श्लेष्म कला का क्षय बहुत कम होता है।

अन्न-मार्ग के पाचक रसों में क्षय-कीटाणुओं के नाश करने की और उनकी रोगोत्पादक शक्ति को कम करने की शक्ति होती है। जब कीटाणुओं की संख्या कम होती है तो पाचक रसों से उनका पूर्णतया नाश हो जाता है। खाने-पीने के पदार्थों के दूषित होने की अधिक सम्भावना पर ध्यान देते हुये इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इतनी रुकावटों के होते हुये भी अन्न-मार्ग क्षय-कीटाणुओं के शरीर-प्रवेश का एक मुख्य मार्ग है। कुछ

वैज्ञानिकों का मत है कि क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होने में श्वास-मार्ग की अपेक्षा अन्न-मार्ग का महत्व अधिक होता है।

रक्त-मार्ग—श्वास-मार्ग और अन्न-मार्ग की स्वाभाविक रुकावटों पर विचार करते हुये कुछ लोगों का मत है कि क्षय-कीटाणु चाहे जहाँ से प्रविष्ट हों, रक्तद्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते हैं। रक्त समस्त शरीर में भ्रमण करता है और जहाँ कहीं अनुकूल स्थान होता है, क्षय-कीटाणु वहीं टिककर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि कम से कम जोड़ और हड्डियों का क्षय तो केवल रक्त-मार्ग से ही हो सकता है, क्योंकि वहाँ तक पहुँचने के लिये कीटाणुओं को और दूसरा कोई मार्ग नहीं होता। समस्त शरीर के रक्त का संशोधन फेफड़ों में ही होता है। इसलिये जो क्षय-कीटाणु किसी भी स्थान से रक्त में प्रविष्ट होते हैं, सर्वप्रथम फेफड़ों में पहुँचते हैं और वहाँ पर रोक लिये जाते हैं। इसलिये फेफड़ों का क्षय बहुत होता है।

जनन तथा जरायु-मार्ग—माता-पिता से गर्भ में संक्रमण होकर सन्तान में क्षय-कीटाणुओं का पहुँचना सिद्धान्त रूप में सम्भव तो है, परन्तु वास्तव में यह इतना कम होता है कि नहीं के बराबर है। इस विषय की विस्तृत आलोचना 'क्षयोत्पत्ति पर पैतृकता का प्रभाव' सम्बन्धी शीर्षक में की जायगी।

शरीर पर क्षय-कीटाणुओं का प्रभाव

जब पहले पहल क्षय-कीटाणु शरीर में फेफड़ा अथवा अन्य किसी भी स्थान में पहुँचते हैं तो उस स्थान पर खलबली मच जाती है। इस स्थानिक खलबली को वैज्ञानिक भाषा में प्रदाह कहते हैं। इस स्थानिक प्रदाह के अतिरिक्त कीटाणुओं के विष रक्त में मिलकर समस्त शरीर में फैल जाते हैं। और इसलिये शरीर भर पर विष व्याप्ति (Toxemia) का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ जाता है।

स्थानिक प्रदाह—कीटाणुओं के पहुँचते ही उनके उत्पात से कुपित होकर स्थानिक बंधक तंतु की सेलों से एक विशेष प्रकार की सेलें उत्पन्न हो जाती हैं, जो कीटाणुओं के प्रतिरोध के लिये आकर चारोंओर से उनको घेर लेती हैं। इन स्थानिक सेलों की सहायता के लिये लसिका से लसिका

कण और रक्त से श्वेत रक्तकण उस स्थान पर पहुँच जाते हैं। इनका मुख्य कार्य शरीर-रक्षा होता है, इस कारण हम इनको शरीर के सिपाही कह सकते हैं। बहुत सी सेलों के एकत्रित होने से उस स्थान पर एक गुठली-सी प्रकट होने लगती है। क्षय-कीटाणुओं की उत्तेजना से उत्पन्न होने के कारण उसको यक्ष्म या क्षयार्बुद (Tubercle) कहते हैं । चूँकि इस प्रदाह में सेलों की उत्पत्ति होती है, इसलिये इसको उत्पादक प्रदाह (Productive Inflammation) कहते हैं।

जब क्षय-कीटाणुओं की संख्या अथवा उनका विषैलापन कम होता है तो शरीर की रक्षक सेलें उनको नष्ट कर देती हैं और क्षयार्बुद विलीन होकर फेफड़े का भाग फिर ज्यों का त्यों हो जाता है। परन्तु क्षय-कीटाणुओं का मारना बड़ा कठिन होता है, इसलिए लसिका और रक्त-कण उनको पकड़कर उस स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियों में ले जाते हैं। वहाँ पर वे रोक लिये जाते हैं और वर्षों तक जीवित अवस्था में बन्द पड़े रहते हैं। आगे चलकर यही बन्दी कीटाणु अवसर पाकर फिर उत्तेजित होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

जब कीटाणुओं की संख्या अधिक होती है या उनकी रोगोत्पादक शक्ति (Virulence) प्रबल होती है तो वे शरीर की रक्षक सेलों को मारकर शरीर के उस भाग को नष्ट कर देते हैं। शरीर के विनाश का प्रकट रूप यक्ष्म का पकना होता है। उस स्थान पर विजय प्राप्त कर क्षय-कीटाणु क्रमशः आगे बढ़ते जाते हैं और इसप्रकार नये नये यक्ष्म बनते जाते हैं। कीटाणु लसिका और रक्त में मिलकर अन्य स्थानों में पहुँच जाते हैं और वहाँ पर भी रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसप्रकार कीटाणुओं का आक्रमण-क्षेत्र विस्तीर्ण होता जाता है और अन्त में उग्र व्यापक क्षय (Acute generalised tuberculosis) से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इसप्रकार का उग्र व्यापक रोग बहुधा शिशु-काल के प्रथम दो वर्षों में पाया जाता है।

जब कीटाणुओं की और शरीर की शक्ति लगभग बराबर होती है तो दोनों में से कोई भी दूसरे को नष्ट नहीं कर सकता। ऐसी दशा में शरीर की रक्षक सेलें कीटाणुओं को आगे नहीं बढ़ने देतीं और उसी स्थान पर बन्द करने की चेष्टा करती हैं। इसके लिए वे कीटाणुओं के चारोंओर सौत्रिक तन्तु का घेरा बना देती हैं और उसमें खटिक पदार्थ जमा होने लगता है। इसप्रकार

कीटाणुओं के चारों ओर एक प्रकार की व्यूह-रचना हो जाती है ताकि क्षय-कीटाणु उस स्थान से बाहर न निकल सकें। खटिक जमा होने से यक्ष्म कंकड़ीले और कठोर हो जाते हैं। इन कंकड़ीले (Calcified) यक्ष्मों में क्षय-कीटाणु वर्षों तक जीवित अवस्था में बन्द पड़े रहते हैं और अवसर पाकर पुनः उत्तेजित होकर उत्पात करने लगते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि क्षय-कीटाणु कई प्रकार से शरीर में गुप्त रूप से बन्द पड़े रहते हैं। इसलिए इन दशाओं को गुप्त क्षय (Latent tuberculosis) कहते हैं। गुप्त क्षय आगे चलकर अवसर पाकर फिर जाग्रत हो सकता है।

क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होकर आक्रमण करने को क्षय-संक्रमण कहते हैं। क्षय-संक्रमण के प्रकट लक्षण कुछ नहीं होते। इसलिए मनुष्य को यह पता नहीं चलता कि वह कब संक्रामित हुआ है। यद्यपि क्षय-संक्रमण के कोई प्रकट लक्षण नहीं होते तथापि शारीरिक अवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है जो विशेष परीक्षा द्वारा जाना जा सकता है। इस शारीरिक परिवर्तन का भावी क्षय-रोग से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

क्षय संक्रमण में व्यापक शारीरिक परिवर्तन

क्षय-संक्रमण से मनुष्य-शरीर में दो प्रकार की विशेषता उत्पन्न हो जाती है—(१) पहले की अपेक्षा कीटाणुओं के प्रति शरीर अधिक सचेत हो जाता है, (२) कुछ अधिक रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

अति चैतन्यता (Hypersensitiveness)—जब तक किसी देश में शत्रु के आक्रमण का भय नहीं होता तब तक समस्त देश अचेत रहता है और युद्ध के लिए तत्पर नहीं होता। इसलिए जब पहले शत्रु का आक्रमण होता है तो देश तुरन्त और तत्परता के साथ शत्रु का प्रतिरोध नहीं कर पाता। परन्तु जब एक बार शत्रु-सेना देश के किसी भाग में आ पहुँचती है तो पहले की अपेक्षा समस्त देश अधिक सचेत हो जाता है और फलतः शत्रु का आक्रमण होते ही तुरन्त उसका घोर प्रतिरोध करने में समर्थ होता है। ठीक यही हाल मनुष्य-शरीर का है। जब तक क्षय-कीटाणु मनुष्य-शरीर में प्रवेश नहीं करते तब तक वह अचेत रहता है। परन्तु जहाँ एक बार कीटाणुओं ने प्रवेश किया तो समस्त शरीर पहले की अपेक्षा अधिक सचेत हो जाता है। फलतः

जब दुबारा कभी कीटाणुओं का आक्रमण होता है तो पहले से सचेत रहने के कारण शरीर उनका तुरन्त घोर प्रतिरोध करने लगता है।

सबसे पहले डा० राबर्ट कॉक ने इस परिवर्तित शारीरिक दशा का पता लगाया था। प्रयोग करते समय उन्होंने देखा कि जब किसी पशु के पहले पहल क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी त्वचा के नीचे लगाई जाती है तो लगभग दो सप्ताह तक कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसके पश्चात् पिचकारी के स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। यदि उसी पशु के पहली पिचकारी के दो या तीन सप्ताह के बाद दूसरी पिचकारी लगाई जाय तो पहली पिचकारी से कहीं भिन्न प्रभाव होता है। जहाँ पहली पिचकारी के बाद लगभग दो सप्ताह तक कुछ भी प्रतीत नहीं होता, वहाँ दूसरी पिचकारी के बाद २४ घण्टे के अन्दर ही पिचकारी के स्थान पर तीव्र प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त उस पशु में शीत, ज्वर, हड़फूटन, आलस्य और अरुचि इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस भेद का यह कारण है कि पहली पिचकारी के समय उस पशु का शरीर क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से अपरिचित होने के कारण अचेत था। इसलिये जब प्रथम पिचकारी लगाई गई तो वह कीटाणुओं का इतना शीघ्र और घोर प्रतिरोध न कर सका जितना कि दूसरी पिचकारी लगाने पर। दूसरी पिचकारी लगाने के समय उसका शरीर सचेत हो चुका था।

सचेत होने के कारण शरीर और क्षय-कीटाणुओं के बीच युद्ध अधिक तीव्र होता है। युद्ध तीव्र होने के कारण क्षय-कीटाणु और शरीर के अवयव दोनों का अधिक मात्रा में नाश होता है। कीटाणुओं के मरने से और उनके शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर उनके विष बाहर निकलते हैं। इसके अतिरिक्त नष्ट-भ्रष्ट शरीरांश भी विषैले होते हैं। दोनों प्रकार के विषैले पदार्थ रक्त में मिलकर समस्त शरीर में फैल जाते हैं और ज्वरादि लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। यदि दूसरे संक्रमण में कीटाणुओं की संख्या कम होती है तो प्रदाह इत्यादि रूपी प्रतिक्रिया भी हलकी होती है और यदि कीटाणुओं की संख्या अधिक होती है तो प्रतिक्रिया भी बड़ी तीव्र होती है। अत्यन्त तीव्र होने के कारण कभी कभी घातक भी हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है है कि ज्वरादि लक्षण कीटाणु और शरीर के परस्पर युद्ध की तीव्रता को

सूचित करते हैं और किसी सीमा तक लाभदायक भी हैं। क्योंकि उनसे यह प्रकट होता है कि शरीर कीटाणुओं का भलीप्रकार प्रतिरोध कर रहा है। परन्तु साथ ही ज्वर आदि का वेग अधिक होने से हानि पहुँचती है।

शरीर की प्रतिक्रिया सूचक इस प्रदाह का रूप कीटाणुओं से उत्पन्न उत्पादक प्रदाह से भिन्न होता है। उत्पादक प्रदाह में सेलों की वृद्धि होकर यक्ष्मों की उत्पत्ति होती है, परन्तु इस प्रदाह में रक्त-केशिका फूलकर उनसे रक्त-तरल और कणों का स्राव होता है। इसलिये इस प्रदाह को स्रावक प्रदाह (Exudative Inflammation) कहते हैं।

इसीप्रकार जब मनुष्य-शरीर में पहली बार क्षय-कीटाणुओं का प्रवेश होता है तो उनका इतना शीघ्र और तीव्र प्रतिरोध नहीं होता। परन्तु एक बार संक्रमण होने से शरीर अत्यन्त सचेत हो जाता है और इसलिये जब कभी फिर कीटाणुओं का आक्रमण होता है तो उनका बहुत शीघ्र और तीव्र प्रतिरोध होता है।

अतिचैतन्यता की पहिचान—यदि दूसरी पिचकारी में जीवित कीटाणुओं के स्थान में मृत कीटाणु या यक्ष्मिन का प्रयोग किया जाय तो वही फल होता है। इसलिये अति चैतन्यता की परीक्षा यक्ष्मिन की पिच-कारी लगाकर की जाती है। यदि ऐसे मनुष्यों में, जिनमें क्षय-संक्रमण नहीं हुआ है, यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो कुछ भी असर नहीं होता। परन्तु यदि क्षय-संक्रामित मनुष्यों में यक्ष्मिन की पिचकारी लगाई जाय तो पिचकारी के स्थान पर प्रदाह हो जाता है और ज्वर आदि लक्षण भी हो जाते हैं।

यह अतिचैतन्यता प्रथम संक्रमण के दस दिन पश्चात् प्रकट होती है और उस समय तक जारी रहती है जब तक क्षय-कीटाणु शरीर के अन्दर जीवित अवस्था में रहते हैं।

रोग-क्षमता—यह सब लोग जानते हैं कि चेचक का रोग एक बार होकर फिर दुबारा नहीं होता। रोग के प्रथम आक्रमण से शरीर में एक विशेष शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है जिससे पुनराक्रमण से शरीर रक्षित रहता है। इस विशेष शक्ति को रोग-क्षमता (Immunity) कहते हैं। अन्य संक्रामक रोगों में भी चेचक की भाँति रोग के आक्रमण से न्यूनाधिक रोग-क्षमता प्रगट हो जाती है। इसीप्रकार एक बार क्षय-संक्रमण होने से शरीर में क्षय-

कीटाणुओं के प्रति कुछ क्षमता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु क्षय-रोग नाशक शक्ति इतनी मात्रा में उत्पन्न नहीं होती कि चेचक की भाँति दुबारा क्षय-रोग न हो सके। यदि ऐसा होता तो संसार में इतना क्षय-रोग कभी न दिखाई पड़ता। केवल इतना होता है कि क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण सहने की और उनका प्रतिरोध करने की शक्ति कुछ बढ़ जाती है। इसलिए क्षय-रोग जब होता है तो इतना तीव्र नहीं होता, जितना कि रोग-क्षमता के अभाव में और जैसा कि शिशु-काल के प्रथम दो वर्षों में होता है। इस विषय पर 'रोग-क्षमता' शीर्षक परिच्छेद में विस्तृत रूप से विचार किया जायगा।

चौथा परिच्छेद

क्षय-रोग का प्रसार

क्षय-रोग की उत्पत्ति के प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व रोग के प्रसार के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात हो चुकी हैं, उन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि क्षयोत्पत्ति की समस्या पर प्रकाश डालने में इनसे बड़ी सहायता मिलेगी।

क्षय-कीटाणु सर्वत्र फैले हुए हैं—क्षय-रोगजनक कीटाणु विश्व-व्यापी हैं। जहाँ कहीं मनुष्य सभ्य दशा में पाये जाते हैं वहाँ क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है; क्योंकि इन कीटाणुओं के प्रमुख उद्गम स्थान क्षयी मनुष्य और पशु होते हैं और वे भी लगभग सब जगह पाये जाते हैं। यह अनुमान किया जाता है कि जितनी संसार की जन-संख्या है, उतने क्षय-कीटाणु प्रतिदिन एक रंध्रवाले क्षय-रोगी के शरीर से बाहर निकलते हैं। यदि एक रोगी के एक दिन के निकले हुए कीटाणुओं की पंक्ति बनाई जाय तो वह बारह मील लम्बी होगी और अनुकूल दशाओं में सौ से कुछ ही अधिक कीटाणुओं से संक्रमण हो जाता है।

प्रयोग और अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि क्षय रोगियों के कफ और क्षयी पशुओं के दूध से उपयुक्त दशाओं में क्षय-संक्रमण (Tuberculous Infection) हो जाता है। यह भी ज्ञात हो चुका है कि क्षय-कीटाणु श्वास और भोजन मार्गों की श्लेष्म कलाओं से अथवा भग्न त्वचा से शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। यद्यपि इन मार्गों में अनेक स्वाभाविक रुकावटें होती हैं, फिर भी क्षय-कीटाणुओं की विश्व-व्यापकता पर विचार करने पर इसमें कोई आश्चर्य की बात प्रतीत नहीं होती कि संसार में जितनी मृत्यु होती हैं, उनमें प्रत्येक आठ में से कम से कम एक क्षय-रोग से होती है, आश्चर्य तो इस बात का है कि अन्य सात कैसे बचे रहते हैं।

क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग—सच तो यह है कि क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से बहुत कम लोग बच पाते हैं, विशेषकर वे जो शहरों में रहते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बतलाना आवश्यक है कि क्षय-संक्रमण और क्षयरोग में बड़ा अन्तर होता है। क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रवेशमात्र को क्षय-संक्रमण कहते हैं, चाहे उनके आक्रमण से रोग के लक्षण व्यक्त हों अथवा नहीं। क्षय-रोग तभी कहलाता है, जब लक्षण व्यक्त होजाते हैं। संक्रमण के फलस्वरूप जितने लोगों को रोग होता है अथवा जितने लोगों की मृत्यु होती है, उससे कहीं अधिक संक्रामित मनुष्य आजीवन अच्छे बने रहते हैं। क्षय-रोग से पहले क्षय-संक्रमण का होना अनिवार्य है। परन्तु क्षय-संक्रमण होने पर क्षय-रोग का होना आवश्यक नहीं। गत कई वर्षों की खोज से यह निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि क्षय-कीटाणुओं के आक्रमण से उन लक्षणों का प्रकट होना आवश्यक नहीं है, जिनको हम क्षय-रोग के नाम से पुकारते हैं। सिवाय इसके कि शरीर संक्रामित होने पर पहले की अपेक्षा क्षय-कीटाणुओं के प्रति अत्यधिक सचेत हो जाता है, क्षय-संक्रमण से स्वास्थ्य में और कोई विकार होना आवश्यक नहीं है। इस अतिचैतन्यता की पहचान यक्ष्मिन (Tuberculin) से की जाती है। क्षय-संक्रमण से जितने लोगों में क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होते हैं, उनसे कहीं अधिक को उसके होने का आभास भी नहीं होता। ऐसे लोग क्षयी तो अवश्य कहे जा सकते हैं, परन्तु साधारण अर्थ में वे क्षय-रोगी नहीं हैं, यद्यपि उनके शरीर में कीटाणु जीवित अवस्था में बराबर बने रहते हैं। इन में से कुछ को अंत में क्षय-रोग हो जाता है। वस्तुतः अधिकांश रोगियों में राजयक्ष्मा बाल्यावस्था में प्राप्त संक्रमण से विकसित होता है जैसा कि क्षयोत्पत्ति के प्रसंग में बतलाया जायगा।

क्षय-संक्रमण की विश्व व्यापकता—सावधान अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि क्षय-संक्रमण और सभ्यता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे-जैसे सभ्यता का प्रसार होता जाता है, क्षय-संक्रमण भी फैलता जाता है। बड़े-बड़े शहरों में कदाचित् ही कोई मनुष्य प्रौढ़ावस्था तक क्षय-संक्रमण से बच पाता है। संक्रमण के प्रसार का पता लगाने के लिए जिन मृतशरीरों की परीक्षा की गई है, उनसे यह विदित होता है कि संसार की सभ्य जातियों में प्रौढ़ा-वस्था तक ९० प्रतिशत जनसंख्या में क्षय-संक्रमण हो जाता है, परन्तु

असभ्य जातियों के मृतशरीरों में क्षय-संक्रमण के कोई चिन्ह नहीं मिलते।

डा० लेनेक की पुस्तक से जो सन् १८३१ में प्रकाशित हुई थी, ज्ञात होता है कि डा० लौम्बार्ड को पैरिस नगर के बच्चों के अस्पताल में मृतशरीरों की परीक्षा करने पर अनेक शवों में क्षयी-विकार (Tuberculous Lesions) मिले थे। परन्तु उस समय लोगों ने इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया था। परन्तु जब सन् १९०० ई० में डा० नगेली ने एक ऐसी ही परीक्षा की रिपोर्ट प्रकाशित की कि उनको ५०० मृतशरीरों की जाँच करने पर ७१ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले हैं तो लोग दंग रह गये। इनमें से १८ वर्ष से कम आयुवाली लाशों में २५ प्रतिशत और १८ वर्ष से अधिक आयुवाली लाशों में ९८ प्रतिशत में क्षयी-चिन्ह मिले थे। इनमें से केवल २८ प्रतिशत की मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी। शेष में क्षयी-विकार निवृत्त अथवा शान्त रोग के थे।

जब पहले पहल यह रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो लोगों को विश्वास नहीं हुआ। इसलिये अन्य लोगों ने भी जाँच करना आरम्भ कर दिया और अन्त में उन सबको भी यही बात मिली कि चाहे मृत्यु का कारण कुछ भी रहा हो और चाहे लोगों को पता रहा हो या नहीं कि उनको क्षय-रोग था या नहीं। बड़े शहरों में ५० से १०० प्रतिशत शवों में सक्रिय शान्त और निवृत्त रोग के चिन्ह मिलते हैं। इन सब लोगों की खोज से यह स्पष्ट विदित होता है कि युवावस्था तक बहुत कम मनुष्य क्षय-संक्रमण से बच पाते हैं। इस बात में सब विशेषज्ञ एक मत हैं। अन्तर इतना है कि कुछ लोग केवल ७० प्रतिशत और कुछ लोग १०० प्रतिशत जनसंख्या को क्षय-संक्रामित मानते हैं।

इन शवच्छेद-परीक्षाओं से एक और महत्वपूर्ण बात यह ज्ञात हुई है कि नवजात शिशु में क्षयी विकार कभी नहीं मिलते। इससे यह सिद्ध होता है कि क्षय-संक्रमण जन्म के बाद ही होता है। जिन बालकों की मृत्यु प्रथम वर्ष में हो जाती है उनके शरीरों की परीक्षा करने पर क्षयी-विकार बहुत कम मिलते हैं। दूसरे वर्ष से क्षयी-विकारों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगती है। न्यूयार्क नगर के ५ वर्ष से कम आयुवाले १३२० लाशों की परीक्षा करने पर केवल १३·५ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे।

इंगलैंड में डा० ग्रिफिथ ने २१५ बालकों के शवों की जो परीक्षा की थी उसका निम्नलिखित विवरण है:—

आयु	संक्रमण की प्रतिशत संख्या
०—२ वर्ष	३५%
२—४ ,,	५२%
४—६ ,,	५८%
६—१० ,,	७७%

यदि यह भी मान लिया जाय कि जीवित बालकों की अपेक्षा मरे हुए बालकों में क्षय-पीड़ितों की संख्या अवश्य कुछ अधिक होगी तो भी बालकों में ६० या ७० प्रतिशत का संक्रामित होना बहुत है।

स्वेडन देश में इसी प्रकार की जो परीक्षा की गई थी उसका विवरण इस प्रकार है—

आयु	परीक्षितसंख्या	क्षय-चिह्नों की संख्या
०—१ वर्ष	२०१	२०%
१—२ ,,	६५	२६·२%
३—४ ,,	४४	३१·८%
५—६ ,,	२८	६७·९%
७—१० ,,	५३	६२·२%
११—१४ ,,	५३	८०·१%
१५ ,,	४०	८०%
कुल	४८४	४१·०८%

इसके अतिरिक्त एक बात यह और देखी गई थी कि बालक की जितनी कम आयु होती है, रोग उतना ही तीव्र और प्रगतिशील मिलता है। हाल में डा० रेनहार्ट ने एक ऐसी ही परीक्षा की रिपोर्ट प्रकाशित की है। उन्होंने बर्न नगर में ४६० मृत शरीरों को परीक्षा की। इनमें २८ नवजात-शिशु थे, जिनमें से एक में भी क्षयी-विकार नहीं मिले। एक वर्ष से कम आयु वाले बच्चों में केवल ७·१४ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे। इसके विपरीत ३६० प्रौढ़ शरीरों में ९६·३८ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे।

शवच्छेदों में गुप्त तथा निवृत्त विकारों का मिलना—इस परीक्षा से एक बात यह भी ज्ञात हुई है कि अनेक लोगों में क्षय-रोग होकर स्वतः अच्छा हो जाता है। डा० रेनहार्ट को प्रौढ़ शरीरों में जो क्षयी-विकार मिले थे, उनमें से ६३·९ प्रतिशत निवृत्त रोग के चिह्न थे। मनुष्यों की आयु जितनी ही अधिक होती है, निवृत्त क्षयी-विकारों की संख्या उतनी ही अधिक मिलती है। अन्य लोगों का भी यही अनुभव है कि प्रौढ़ावस्था में जो क्षयी-विकार मिलते हैं वे प्रायः निवृत्त रोग के चिह्न होते हैं। ४०६ मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर डा० नगेली को २८·१ प्रतिशत में पुरे हुए क्षयी विकार मिले थे। डा० बरखार्ट को १४५८ मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर ८४·१ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे, जिनमें से ३९·४ प्रतिशत चिह्न निवृत्त-रोग के थे। इससे स्पष्ट है कि पर्याप्त संख्या में लोगों में क्षय-रोग होकर स्वतः अच्छा हो जाता है। यह भी देखा गया है कि अनेक लोगों में क्षय-रोग होकर अच्छा हो जाता है और उनको पता तक नहीं चलता।

आयु के अनुसार क्षयी-विकारों में भेद—प्राण-घातक, जाग्रत और प्रगत क्षयी-विकार विशेषकरके बचपन में मिलते हैं। एक वर्ष से कम आयु वाले मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर जो क्षयी-विकार मिलते हैं वे उग्रव्यापक रोग के होते हैं। स्थानाबद्ध क्षयी-विकार बचपन में बहुत कम मिलते हैं। उपलब्ध साक्षी से यह विदित होता है कि क्षय-संक्रामित व्यक्ति की आयु जितनी कम होती है, क्षय-रोग से उसकी मृत्यु होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है और उसकी जितनी आयु अधिक होती है, उतनी ही उग्रव्यापक और घातक रोग होने की कम सम्भावना होती है। ल्यूबार्श का कथन है कि अधिक आयुवालों में क्षय-रोग अपेक्षाकृत बहुत कम हानिकारक होता है; क्योंकि उसकी रुझान अच्छा होने की ओर होती है। अपने कथन के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं।

एक वर्ष से कम आयुवाले ५०२ शिशुओं के शरीरों की मरणोत्तर परीक्षा करने पर उनको ४·५८ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे, जो सब के सब उग्रव्यापक रोग के थे और जिनकी स्थानाबद्ध होने की ओर कोई चेष्टा नहीं दिखाई देती थी। दो वर्ष की आयुवाले १२३ बच्चों में से २०·३ प्रतिशत

में क्षयी-विकार मिले थे जो सब के सब जाग्रत और प्रगत-रोग के थे। यद्यपि रोग के स्थानाबद्ध होने की कुछ-कुछ चेष्टा देख पड़ती थी, परन्तु क्षयी-विकारों के पुरने की कोई चेष्टा नहीं थी। तीन वर्ष की आयु में २४·७ प्रतिशत में क्षयी-विकार मिले थे, जिनमें से केवल एक में पुरने की कुछ चेष्टा दिखाई पड़ती थी। उनको ज्ञात हुआ था कि १५ वर्ष की आयु तक क्षय-रोग जाग्रत और प्रगत अवस्था में बहुत मिलता है। उसके बाद स्थानाबद्ध रोग मिलने लगता है।

सत्रह वर्ष की आयु के बाद पुरे हुए क्षयी-विकार मिलने लगते हैं और जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है उनकी संख्या भी क्रमशः बढ़ती जाती है और ४० वर्ष की आयु में जाग्रत क्षयी-विकार की अपेक्षा पुरे हुए विकार अधिक मिलने लगते हैं। निम्नलिखित तालिका से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

आयु	जाग्रत रोग-चिह्नों की प्रतिशत संख्या	सुप्त या निवृत्त क्षय-चिह्नों की प्रतिशत संख्या
१७—२० वर्ष	७७·४	२२·६
२०—३० ,,	७६·७	२३·३
३०—४० ,,	५२·६	४७·४
४०—५० ,,	३८·९	६०·१
५०—६० ,,	३३·५	६६·५
६०—७० ,,	२३·३	७६·७
७०—८० ,,	१४·७	८५·३
८०—९० ,,	९·३	९०·७

उपरोक्त आँकड़ों से क्षयी-विकारों की संख्या का जो अनुमान होता है वह वास्तविक संख्या से कुछ कम ही होता है; क्योंकि फेफड़ों की परीक्षा करते समय कुछ छोटे छोटे क्षयी-विकारों का छूट जाना सम्भव है। इसलिए डा० ओपी ने ९३ बालक और ५० युवकों की लाशों की परीक्षा करते समय उनके फेफड़ों को निकालकर उनकी एक्सरे द्वारा भी परीक्षा की। उनको पता

लगा कि कुछ फेफड़ों में क्षयी-विकार इतने छोटे होते हैं जो फेफड़ों को चीरने पर भी दिखाई नहीं पड़ते यद्यपि एक्सरे चित्र में साफ़ साफ़ दिखाई पड़ते हैं।

उनकी जाँच का फल निम्नलिखित तालिका में दिया गया है:—

आयु	परीक्षित लाशों की संख्या	क्षयरोग				अन्य कारणों से मरे हुए लोगों में प्राप्त विकारों की प्रतिशत संख्या
		प्राप्त चिह्न		प्राण-घातक था	प्राणघातक नहीं था	
		संख्या	प्रतिशत			
०-१ वर्ष	४३	४	९९·३	४	०	०·०
१-२ ”	१६	१	६·२	१	०	०·०
२-५ ”	१४	६	४२·८	३	३	२७·२
५-१० ”	११	५	४५·५	२	३	३३·३
१०-१८ ”	९	६	६६·७	१	५	६२·५
१८-३० ”	६	६	१००·०	१	५	१००·०
३०-५० ”	२३	२३	१००·०	१	२२	१००·०
५०-७० ”	१५	१५	१००·०	१	१४	१००·०
७० से ऊपर	६	६	१००·०	०	६	१०० ०

उपरोक्त तालिका से मनुष्य-जाति में क्षय की विकराल व्यापकता विशदरूप से दिखाई देती है।

जीवित मनुष्यों में क्षय-संक्रमण का प्रसार—जीवित मनुष्यों में भी क्षय-संक्रमण के प्रसार की जाँच की गई है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, क्षय-संक्रामित मनुष्यों में यक्ष्मिन की पिचकारी या टीका लगाने पर एक विशेष प्रतिक्रिया व्यक्त होती है जो स्वस्थ मनुष्यों में नहीं होती। इस प्रतिक्रिया

के प्रयोग की खोज से भी यही परिणाम निकलता है कि प्रौढ़ावस्था तक लगभग सब मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से संक्रामित हो जाते हैं। पैरिस नगर में हाल में डा० आयोची ने २७८४ बालकों की यक्ष्मिन परीक्षा (Tuberculin test) की है जिसका परिणाम इस प्रकार है:—

आयु	परीक्षित संख्या	प्रतिशत संख्या, जिसमें यक्ष्मिन प्रतिक्रिया पाई गई
०—३ मास	२९८	३·७%
३—६ ,,	४५९	७·२%
६—१२ ,,	५८३	१६·८%
एक साल से कम सब मिलाकर	१३४०	१०·६%
१—२ वर्ष	२४७	२४·३%
२—५ वर्ष	४६७	५६·८%
५—१० वर्ष	५२५	६७·४%
१०—१५ वर्ष	३०२	८२·७%

न्यूयार्क नगर में डा० फिशबर्ग ने पता लगाया था कि क्षयी परिवारों के बच्चों में से ८४ प्रतिशत १४ वर्ष की आयु तक संक्रामित हो जाते हैं। क्षयरहित परिवारों में भी क्षय-संक्रमण बहुत होता है जैसा कि निम्नलिखित तालिका और चित्र नं० ३ से विदित होता है।

निम्नलिखित तालिका में न्यूयार्क नगर के क्षयी तथा क्षयरहित परिवारों के बच्चों में क्षय-संभक्रण का प्रसार दिखाया गया है।

आयु	क्षयी परिवार		क्षयरहित परिवार	
	परीक्षित संख्या	संक्रामित संख्या	परीक्षित संख्या	संक्रामित संख्या
१ वर्ष से कम	३३	१५·१५	५६	१०·०७
१—२ वर्ष	४९	५५·१०	३९	३३·३३
३—४ ,,	९०	६८·८८	८०	४१·२५
५—६ ,,	९५	६५·२६	१०६	५०
७—१० ,,	२४४	७१·३१	१०३	६४·:४
११—१४ ,,	१८१	७४·५८	१३४	६९·४
१४ वर्ष	३७	८३·७९	२०	७५
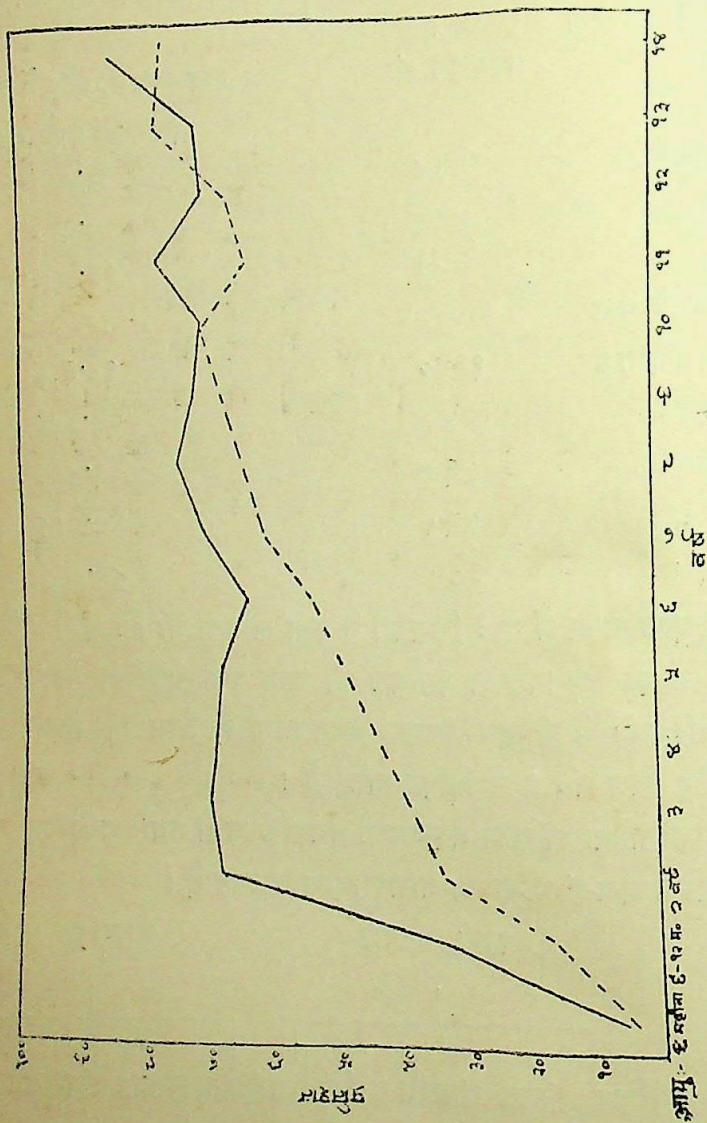
चित्र नं० ३—अविरत रेखा क्षयी माता-पिता की सन्तान में क्षयसंक्रमण का प्रसार सूचित करती है। विरत रेखा क्षयरहित माता-पिता की सन्तान में क्षयसंक्रमण का प्रसार सूचित करती है।

वीयना नगर में डा० हैम्बर्गर ने पता लगाया है कि १४ वर्ष की आयु तक ९४ प्रतिशत बालकों में क्षय-संक्रमण हो जाता है। (चित्र नं० ४)
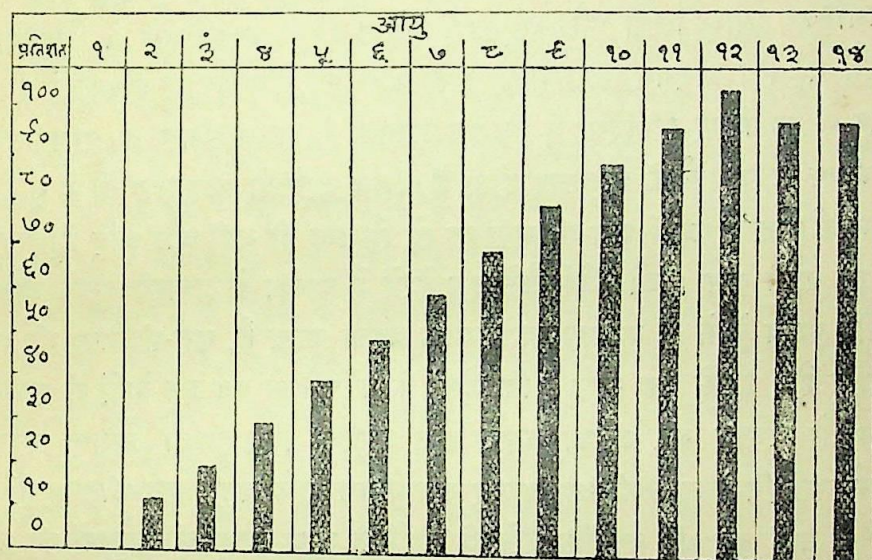
चित्र नं० ४—वीयना नगर के जीवित मनुष्यों में आयु के अनुसार क्षय-संक्रमण का प्रसार ('हैम्बर्गर')

फ्रान्स में काल्मेटी ने १२२६ व्यक्तियों की परीक्षा करके पता लगाया है कि आयु के प्रथम वर्ष में केवल ९ प्रतिशत में क्षय-संक्रमण होता है। परन्तु यह संख्या आयु के साथ साथ क्रमशः बढ़ती जाती है और १५ वर्ष की आयु में ८७ प्रतिशत में क्षय-संक्रमण हो जाता है।

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि भारतवर्ष में अभी तक ऐसी कोई परीक्षा नहीं की गई है जिससे इस देश में क्षय-संक्रमण के प्रसार का ठीक ठीक पता लग सके। किन्तु अनुमान यह है कि यहाँ भी क्षय-संक्रमण उतना ही फैला हुआ है जितना अन्य देशों में।

असभ्य आदिम जातियों में क्षय-संक्रमण का प्रसार—क्षय-संक्रमण से केवल वे ही देश बचे हैं, जहाँ असभ्य आदिम जातियाँ रहती हैं और जिनका सभ्यता से अभी तक सम्पर्क नहीं हुआ है। जैसा कि हचिन्सन, हर्लिका इत्यादि ने पता लगाया है, गोरों के पहुँचने से पूर्व अमेरिका की आदिम जातियों में क्षय-रोग नहीं होता था। शिशुओं की भाँति असभ्य जातियों में भी यक्ष्मिन की परीक्षा

सदा ऋणात्मक (Negative) मिलती है और इनके मृतशरीरों की परीक्षा करने पर क्षयी-विकार नहीं मिलते। परन्तु जैसे ही इनका सभ्य जातियों के मनुष्यों से सम्पर्क होता है, वैसे ही इनमें संक्रमण फैल जाता है। यह बात अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के आदिम निवासियों में भलीप्रकार देखी गई है। यक्ष्मिन की परीक्षा द्वारा कालमेटी, मैचनीकाफ इत्यादि ने विशद रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि इन जातियों में क्षय-संक्रमण का प्रसार उनकी सभ्यता से सम्पर्क के अनुसार होता है। जिन जातियों का हाल ही में गोरों से सम्पर्क हुआ है उनमें क्षय-संक्रमण या तो मिलता ही नहीं और यदि मिलता भी है तो बहुत कम। और जैसे-जैसे इन देशों में योरोप के प्रवासी बसते जाते हैं और सभ्य देशों से व्यवहारिक सम्पर्क बढ़ता जाता है, क्षय-संक्रमण भी बढ़ता जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि गोरों के पहुँचने से पूर्व इन देशों में क्षय-रोग का जो अभाव था, उसका कारण कोई जातीय विलक्षणता अथवा जलवायु सम्बन्धी विशेषता नहीं थी; परन्तु उस समय तक वहाँ क्षय-कीटाणुओं की पहुँच नहीं हुई थी, क्योंकि जैसे ही गोरों के साथ साथ कीटाणुओं की पहुँच हुई, क्षय-रोग भी होने लगा।

विभिन्न जातियों की क्षय ग्रहण-शीलता में अन्तर—यह भी देखा गया है कि जिन जातियों में क्षय-रोग बहुत दिनों से होता चला आता है उनमें इसका वेग कम हो जाता है। इसके विपरीत जिन जातियों में क्षय-रोग हाल ही में प्रवेश हुआ है उनमें यह अधिक भयंकर रूप का होता है। अस्तु, जब आदिम जातियों के मनुष्य पहले पहल क्षयी-वातावरण में आते हैं तो उनमें तुरन्त संक्रमण होकर क्षय-रोग हो जाता है और यह रोग बड़ा तीव्र और घातक होता है। जब जंगली और हब्शी मनुष्य योरोप और अमेरिका लाये जाते हैं तो थोड़े ही दिनों में क्षय-रोग होकर उनकी मृत्यु हो जाती है। जब से गोरे प्रवासी और उनके साथ साथ क्षय-कीटाणु अमेरिका पहुँचे हैं, वहाँ की आदिम जातियाँ क्षय-रोग से मिटती जा रही हैं।

इस बात के एक उत्तम उदाहरण की हाल में डा० कमिंग्स ने मिस्र देश से रिपोर्ट की है। उनको पता लगा है कि मिस्र देश के, जहाँ पहले से क्षय-रोग होता चला आया है, सिपाहियों की अपेक्षा उन सूडानी सिपाहियों में, जो ऐसी जातियों से भरती किये गये थे जिनमें पहले से क्षय-रोग नहीं होता

था, क्षय-ग्रहण-शीलता कहीं अधिक होती है। गत योरोपीय महाभारत में, जब अफ्रीका और एशिया की फ़ौजें लड़ने के लिये योरोप भेजी गई थीं, यह बात विशद रूप से प्रकट होगई थी। सन् १९१७-१८ ई० में फ्रान्स के मैदान में अफ्रीका की कुछ पल्टनों में क्षय-रोग से जितनी मृत्यु हुई थी उतनी सम्पूर्ण अँग्रेज़ी सेना में नहीं हुई। अँग्रेज़ी सेना में ५·७ प्रतिशत और अफ्रीका की सेना में ५६ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग के कारण हुई थी। अफ्रीका छोड़ने से पूर्व इन लोगों के स्वास्थ्य की परीक्षा सावधानी से कर ली गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि इन लोगों को फ्रान्स में ही क्षय-रोग हुआ था। फीजी देश की मज़दूर पल्टनों को क्षय-रोग के फैलने के कारण वापस भेजना पड़ा था। हिन्दुस्तानी सेना में सन् १९१६ ई० में २७·४ प्रतिसहस्र सिपाहियों को क्षय-रोग हुआ था और अँग्रेज़ी सेना में केवल १·१ प्रतिसहस्र को। हिन्दुस्तानी और चीनी मज़दूर पल्टनों में भी यही दशा मिली थी। डा० बोरेल ने फ्रान्स की अफ्रीका देश की सेना में भी यही दशा पाये जाने की बात लिखी है। अफ्रीका से तुरन्त आई हुई सेना में केवल ४ या ५ प्रतिशत सैनिक क्षय-संक्रामित पाये गये थे। परन्तु फ्रान्स में कुछ समय तक ठहरने के बाद उनकी मरण-निष्पत्ति ११·१४ प्रतिशत होगई।

कुछ वर्ष पूर्व हिमालय की पहाड़ी जातियों में क्षय-रोग बहुत कम होता था। परन्तु जब से क्षय-रोगी श्रेष्ठ जलवायु के कारण वहाँ जाने लगे और फलतः क्षय-कीटाणुओं से पहाड़ी लोगों का सम्पर्क होने लगा, तब से उनमें भी क्षय-रोग होने लगा और अधिक भयंकर रूप का होने लगा है। पढ़ने के लिए अथवा किसी कार्य के लिए शहर में आनेवाले देहातियों को शहर वालों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है।

क्षय-रोग के प्रसार और मरण-निष्पत्ति पर जाति के प्रभाव के सम्बंध में उपरोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। क्षय-रोग कोई जातीय समस्या प्रतीत नहीं होती। संसार में कोई भी ऐसी मनुष्य जाति नहीं है जिनमें अपनी जातीय विलक्षणता के कारण क्षय-रोग कम या अधिक होता हो। प्रत्येक जाति में जब पहले कीटाणुओं का प्रवेश होता है तो क्षय-ग्रहण-शीलता अधिक पाई जाती है। जब कुछ पीढ़ियों तक क्षय-रोग होता रहता है, तो प्राकृतिक छाँट से कुछ प्रतिरोध-शक्ति

या रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए फिर उनमें इतना क्षय-रोग नहीं होता जितना उन जातियों में जो क्षय-रोग के लिए अकृष्ट भूमि-सी होती हैं।

इस उपार्जित 'रोग-क्षमता' का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है।

क्षय-प्रसार का भौगोलिक वितरण—६० वर्ष से भी अधिक हुए, हिर्श ने अपने 'भौगोलिक और ऐतिहासिक चिकित्सा' (Geographical and Historical Medicine) नामक ग्रन्थ में लिखा था कि क्षय-रोग एक सर्वकालीन और सार्वदेशिक रोग है। उसके बाद आज तक इस कथन के विरोध में कोई भी प्रमाण ज्ञात नहीं हुए हैं। संसार में जहाँ कहीं जाँच की गई है, यही विदित हुआ है कि क्षय-रोग का होना या न होना किसी भूगोल और जलवायु सम्बन्धी बातों पर उतना निर्भर नहीं होता जितना कि सामाजिक और आर्थिक दशा तथा क्षय-कीटाणुओं की उपस्थिति और अनुपस्थिति पर। यह भी बतलाया जा चुका है कि कुछ देशों में क्षय-कीटाणुओं के अभाव का यह कारण नहीं है कि वहाँ की जनता में कोई विशेष रोग-क्षमता हो अथवा वहाँ की जलवायु और उन्नतांश (ऊँचाई) इत्यादि में कोई भौगोलिक विशेषता हो। यह देखा गया है कि ज्योंही क्षय-कीटाणु किसी मनुष्य-जाति में किसी भी स्थान में पहुँचते हैं, वहाँ क्षय-रोग के फैलने में देर नहीं लगती। प्राचीन काल में पहाड़ी देशों में क्षय-रोग के अपेक्षाकृत अभाव का कारण आबादी की कमी और औद्योगिक जीवन का अभाव था।

शहर और देहात में क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग का प्रसार—क्षय-रोग के प्रसार पर जलवायु और ऊँचाई इत्यादि भौगोलिक दशाओं की अपेक्षा नागरिक जीवन अर्थात् शहर में रहने का अधिक प्रभाव पड़ता है। जैसा कि चित्र नं० ५ के देखने से विदित होता है, देहात के रहने वाले कीटाणुओं के आक्रमण से मुक्त तो नहीं होते, परन्तु शहर के रहने वालों की अपेक्षा उनमें क्षय-रोग कम होता है।

अमेरिका के संयुक्तराज्य में सन् १९०९ तक की दशाब्दि में क्षय-रोग की औसत मरण-निष्पत्ति प्रति लाख १५४·७ थी, जिसमें शहरों की १७७·४ और देहात की १२४·१ थी। इङ्गलैंड में सन् १९१३ ई० में देश भर की औसत वार्षिक मरण-निष्पत्ति प्रति लाख १००·४ थी; जिसमें देहात की ७४·२ और

न्यूयार्क रियासत में क्षयरोग से मृत्यु ।
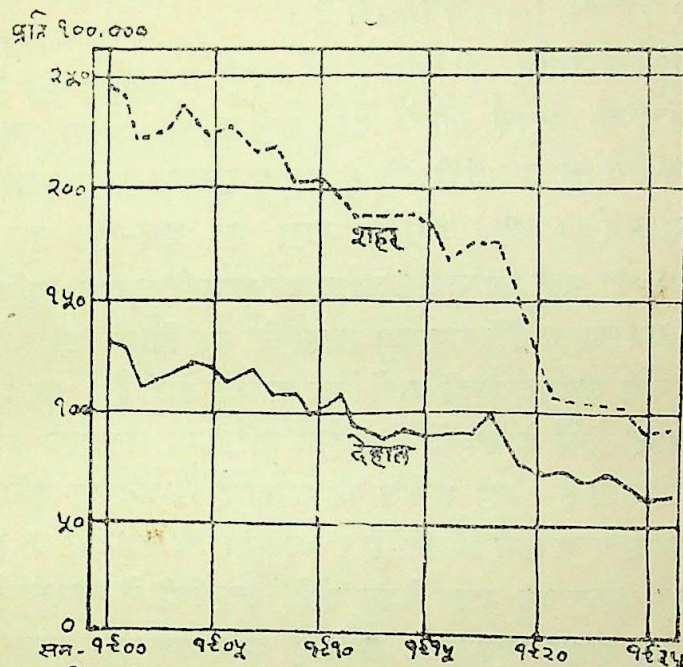
चित्र नं० ९—विरत रेखा न्यूयार्क स्टेट के शहरों में और अविरत रेखा देहात में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति सूचित करती है ।

(American Review of Tuberculosis)

शहरों की १०७·५ थी । जिस किसी देश में जाँच की जाती है, यही पाया जाता है कि देहात की अपेक्षा शहरों में क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग अधिक होता है ।

शहर और देहात की मरण-निष्पत्ति के इस अन्तर के अनेक कारण हैं । क्षय-रोग सभ्यता का फल है और अर्वाचीन सभ्यता के हानि-लाभ का पता आजकल के नागरिक जीवन से चल सकता है । देहात की अपेक्षा शहरों में क्षय-रोग की अधिकता का मूल कारण जन-संकीर्णता है, क्योंकि यह निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक शहर में उन मुहल्लों में क्षय-रोग सब से अधिक होता है जो सबसे अधिक घने बसे होते हैं ।

अनेक अन्य बुराइयाँ, जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर होती हैं, जन-संकीर्णता के साथ-साथ चलती हैं और इनसे नागरिक जीवन की अप्राकृतिकता और भी बढ़ जाती है । सबसे बड़ी बुराई सूर्य-प्रकाश तथा स्वच्छ वायु की कमी और अस्वच्छता है । स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने के

साथ साथ ये क्षय-कीटाणुओं के लिए अनुकूल होती हैं और इनसे क्षय-संक्रमण के फैलने में सहायता मिलती है।

नागरिक-जीवन की बुराइयों का प्रभाव सब लोगों पर एक-सा नहीं होता। धनिकों की अपेक्षा दरिद्रों पर कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है, यहाँ तक कि क्षय-रोग को जन-संकीर्णता के बजाय दरिद्रता का रोग कह सकते हैं।

सामाजिक और आर्थिक दशा का क्षय-रोग पर प्रभाव—इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्षय-संक्रमण पर सामाजिक तथा आर्थिक दशाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। उपलब्ध साक्षी से यह विदित होता है कि क्षय-रोग की उत्पत्ति लगभग इन्हीं बातों पर आश्रित होती है। यह देखा गया है कि ऐश्वर्यवान् लोगों के बच्चों में यक्ष्मिन प्रतिक्रिया धनात्मक (Positive) बहुत कम मिलती है। डा० शमोर्ल का कहना है कि धनाढ्य रोगियों के बच्चों में क्षय-संक्रमण बहुत कम मिलता है। अमेरिका के डाक्टरों का भी ऐसा ही अनुभव है। परन्तु यह बात केवल छोटे बच्चों ही के सम्बन्ध में ठीक है। जब बच्चे बड़े होकर स्कूल जाने लगते हैं और बाहर हर प्रकार के मनुष्यों के सम्पर्क में आते हैं तो वे क्षय-संक्रमण से बच नहीं पाते और अधिकांश में संक्रमण हो जाता है। यथार्थ में बड़े-बड़े शहरों में कदाचित् ही कोई बिरला पुरुष युवावस्था के बाद क्षय-संक्रमण से बच पाता है, चाहे उसकी सामाजिक और आर्थिक दशा कैसी ही क्यों न हो।

बड़े-बड़े नगरों की साधारण जनता क्षय-संक्रमण से परिपूर्ण होती हैं। विश्वस्त जाँच से विदित हुआ है कि इनमें बहुत कम क्षय-संक्रमण से बच पाते हैं। मरण-निष्पत्ति के अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि इन लोगों में क्षय-रोग से मृत्यु अधिक होती है। डा० एच० एम० बिग्स के सञ्चालन में न्यूयार्क नगर में क्षय-सम्बन्धी जो नक्शे तैयार किये गये हैं, उनके देखने से यह विश्वास हो जाता है कि दरिद्रावस्था और क्षय-रोग साथ साथ चलते हैं। धनवानों के मुहल्लों में क्षय-रोग से बहुत कम मृत्यु होती है, परन्तु जिन मुहल्लों में श्रमजीवी और दरिद्र लोग रहते हैं वे क्षय-रोग से परिपूर्ण होते हैं। दारिद्र्य, मलिनता और जन संकीर्णता से संक्रमण के फैलने में सहायता मिलती है और मनुष्यों की प्रतिरोध-शक्ति कम हो जाती है।

ऐसे ही उदाहरण अन्य नगरों में भी मिलते हैं। हैम्बर्ग नगर में यह देखा गया है कि जिन जन-समूहों में जितना अधिक आयकर दिया जाता है

उनमें उतना ही कम क्षय-रोग मिलता है। पैरिस नगर में बर्टीलन ने पता लगाया है कि ऐलिसी नामक सबसे अधिक धनवान मुहल्ले में क्षय-रोग से मृत्यु सबसे कम होती है। आपेरा, लक्सिमबर्ग और टेम्पिल नामक क्रमशः एक दूसरे से कम धनवान मुहल्लों में मृत्यु क्रमशः अधिक होती है। रिपुली नामक दरिद्र मुहल्ले में और भी अधिक, तथा सबसे दरिद्र २०वें एरिडिस्मेन्ट नामक मुहल्ले में सबसे अधिक मृत्यु होती हैं।

ग्लासगो नगर में ग्लेस्टर ने पता लगाया है कि उन परिवारों की अपेक्षा, जो आराम से कई कमरे वाले मकानों में रहते हैं, उन परिवारों में क्षय-रोग से मृत्यु कहीं अधिक होती है जो केवल दो-तीन कोठरियों में गुज़र करते हैं। एडिनबरा नगर में विलियम्सन ने पता लगाया है कि जिस घर में रहने की गुञ्जाइश जितनी कम होती है उस घर में उतना ही क्षय-रोग अधिक होता है। ७० से ८० प्रतिशत क्षय-रोग उन घरों में होता है जिनमें तीन या इससे कम कमरे होते हैं। तीन कमरे वाले घरों की अपेक्षा दो कमरे वालों में और दो कमरे वालों की अपेक्षा एक कमरे वाले घरों में क्षय-रोग क्रमशः अधिकाधिक मिलता है।

क्षय-रोग तथा क्षयज मृत्यु और वेतन के परस्पर सम्बन्ध के विषय में जो खोज की गई है, उनसे विदित होता है कि जिन लोगों का जितना अधिक वेतन होता है उनमें उतना ही कम क्षय होता है। बीमा कम्पनियों का यह अनुभव है कि जो लोग सालाना किश्त देते हैं उनकी अपेक्षा साप्ताहिक छोटी-छोटी किश्त देने वालों में क्षय-रोग कहीं अधिक होता है। योरोप में यह भी देखा गया है कि जिन लोगों का जितनी अधिक रक़म का बीमा होता है, उनमें क्षय-रोग से उतनी ही कम मृत्यु होती है।

लड़ाई और दुर्भिक्ष का प्रभाव—क्षय-रोग के प्रसार पर दरिद्रता और उसके फल-स्वरूप अपुष्ट भोजन का प्रभाव गत योरोपीय महाभारत में उन देशों में स्पष्ट दिखाई पड़ा था जिन पर युद्ध का प्रभाव अधिक पड़ा था।

जहाँ जहाँ जीवन-व्यय बढ़ा वहाँ वहाँ क्षय-रोग में भी वृद्धि हुई। जर्मनी और विशेषकर आस्ट्रिया में, जैसा कि चित्र नं० ६ से विदित होता है, क्षय-रोग की मृत्यु-संख्या युद्धकाल में बहुत बढ़ गई थी। परन्तु युद्ध के

बाद ज्यों ही आर्थिक दशा सुधरने लगी और भोजन के पदार्थ सस्ते होने लगे, क्षयज मृत्यु की संख्या भी कम होने लगी। यही दशा इंगलैंड, फ्रान्स इत्यादि देशों में हुई थी।
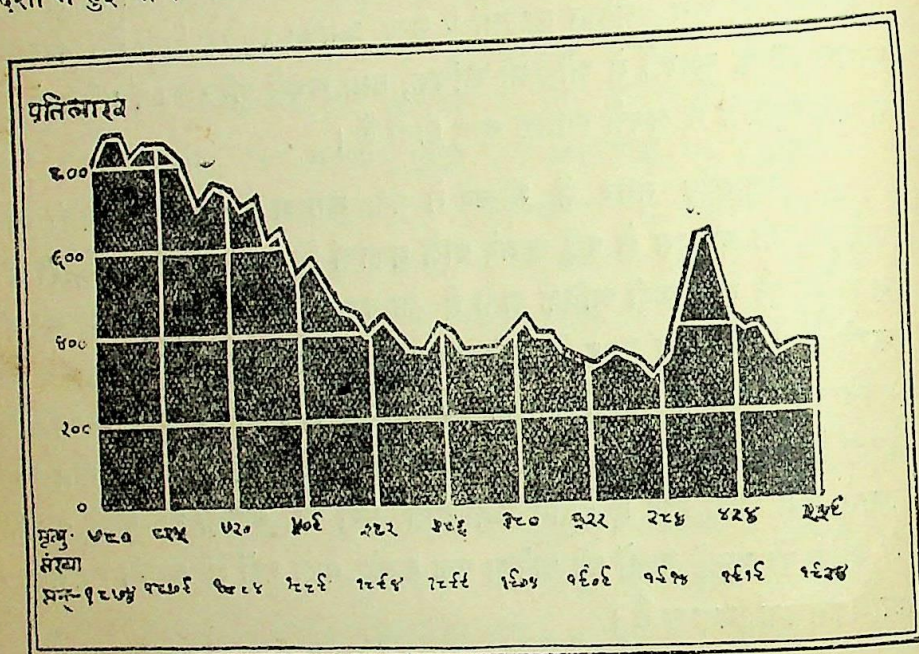
चित्र नं० ६—युद्ध के समय क्षयवृद्धि

यह चित्र युद्धकाल में—१९१४ से १९१९ ई० तक आस्ट्रिया में क्षय की वृद्धि सूचित करता है।

(By permission from 'Bacteriology' Pathology and Laboratory diagnosis by Baldwin, Petroff and gardner)

स्वास्थ्यशालाओं पर दृष्टि डालने से यह विदित होता है कि धनवान भी क्षय-रोग से नहीं बचे हैं, क्योंकि ये संस्थायें धनी रोगियों से भरी होती हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि सब धनी लोग ठीक तौर से नहीं रहते और इसीलिये क्षय-रोग के शिकार बन जाते हैं।

आयु का प्रभाव—चित्र नं० ७ विलायत की सन् १९०१ से सन् १९१० तक की दशाब्दि की और चित्र नं० ८ अमेरिका के संयुक्त राज्य की सन् १९१० से १९१३ तक की मरण-निष्पत्ति प्रदर्शित करता है। दोनों रेखा-चित्र यद्यपि एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु मुख्य बातों में एक से हैं। अन्य देशों के क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति के रेखा-चित्र भी लगभग इन्हीं के

सदृश होते हैं। इन चित्रों की मुख्य बातें ये हैं—शिशुकाल में मृत्यु की अधिकता, बाल्यकाल में कमी और युवाकाल में फिर अधिकता। जिस रोग की मरण-निष्पत्ति का आयु-वितरण इस ढंग का हो उसके प्रसार के नियमों का प्रतिपादन करना बड़ा कठिन काम है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने से यह विदित होगा कि ये रेखाचित्र भ्रमात्मक हैं।
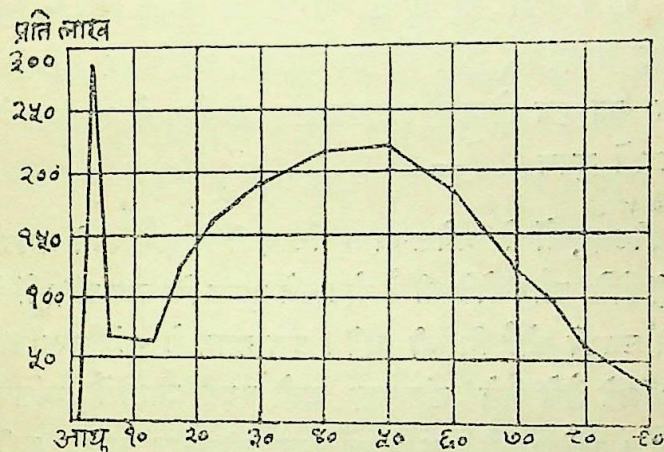
चित्र नं० ७—विलायत में सन् १९०१ से १९१० की दशाब्दि में सबप्रकार के क्षय-रोगों से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या
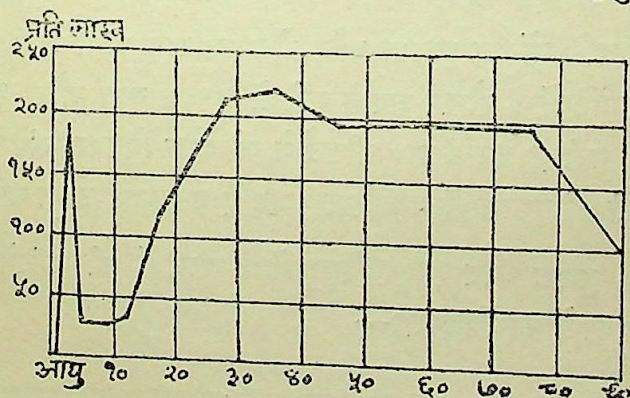
चित्र नं० ८—अमेरिका में सन् १९१० से १९१२ तक सबप्रकार के क्षय-रोगों से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या

शैशव और युवाक्षय—शिशुकाल और युवावस्था के क्षय-रोग में निर्दिष्ट और सुविदित अंतर होता है। शिशुओं की तुलना हब्शी मनुष्य और क्षयरहित पशुओं से की जा सकती है। तीनों ही क्षय-कीटाणु के लिये उत्कृष्ट भूमि होते हैं। सभ्यता के दुःखान्त परिणाम के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा

जा चुका है। क्योंकि सभ्यता के मानी हैं, असभ्य जातियों का क्षय-कीटाणुओं से सम्पर्क होना। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि गत योरोपीय महाभारत में फ्रान्स के मैदान में केवल अफ्रीका की मज़दूर पल्टनों में क्षय-रोग से जितनी मृत्यु हुई थीं उतनी सारी अंग्रेज़ी सेना में नहीं हुईं। अफ्रीकावालों में ५६ प्रतिशत और अंग्रेज़ों में केवल ५·७ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से हुई थीं। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। क्षयरहित पशुओं में कृत्रिम रीति से क्षय-संक्रमण कराने पर हब्शियों के रोग के सदृश रूप का क्षय होता है। इसप्रकार के रोग के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात हुई हैं उनमें मुख्य ये हैं—

क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश-स्थान पर क्षयी-विकार कभी प्रगट होते हैं और कभी नहीं होते, और होते भी हैं तो इतने तुच्छ कि सब इन्द्रियों के व्यापक रोग के सामने उनकी कोई गिनती नहीं। इस स्थान से संक्रमण लसिकाद्वारा फैलता है, इसलिये जैसे जैसे संक्रमण आगे बढ़ता जाता है, लसिका ग्रंथियाँ फूलती जाती हैं। लसिका से रक्त में पहुँचकर संक्रमण समस्त शरीर में फैल जाता है और फलतः प्रत्येक इन्द्रिय में यक्ष्म हो जाते हैं। संक्षेप में पशुओं के कृत्रिम रोग में तीन बातें मुख्य होती हैं—प्राथमिक क्षयी-विकार की क्षुद्रता, लसिका ग्रन्थियों का फूलना और रोग का सब अंगों में फैलना।

सभ्य जातियों के शैशव-क्षय के बारे में ३१०४ युवा और १३४६ शिशु मृत शरीरों की परीक्षा करके डा० वीडर्ट ने जो अङ्क विवरण संकलित किया है और जो काल्मेटी की पुस्तक में प्रकाशित हुआ है वह यहाँ उद्धृत करने योग्य है।

३१०४ युवक और १३४६ शिशुओं के शरीरों की मरणोत्तर परीक्षा से ज्ञात क्षयी-विकारों का वितरण:—

इन्द्रिय	युवक	शिशु
फुप्फुस	९० प्रतिशत	७९ प्रतिशत
अँतड़ियाँ	४० ,,	३१ ,,
लसिका ग्रन्थियाँ	२६ ,,	८८,, { वक्षस्थल की ७८% अंत्रधरा कला की १०%
उदर की परिविस्तृतकला	१८ ,,	१८,,

उपरोक्त आँकड़ों से विदित होता है कि शैशवक्षय युवाक्षय से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें लसिका ग्रन्थियों के क्षयी-विकार बहुत होते हैं और इस बात में वह पशुओं के प्रयोगोत्पादित कृत्रिम रोग तथा हब्शियों के रोग से मिलता-जुलता है। डा० ओपी ने शिशुकाल और युवावस्था के रोगों में फेफड़ों के क्षयी-विकारों के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनका कथन है कि शिशुओं में क्षयी-विकार फेफड़े के हर भाग में मिलते हैं, परन्तु अधिकतर बाह्य पृष्ठ की ओर परिफुप्फुसिया कला से कुछ नीचे होते हैं। शिशुकाल में यह क्षयी-विकार बहुत शीघ्र फैल जाते हैं और उनके पुरने की कोई चेष्टा नहीं होती। परन्तु चौथी साल के बाद क्षयी-विकार अधिक विस्तृत नहीं होते और उनके पुरने की चेष्टा होने लगती है। फेफड़े के जिस भाग में रोग होता है उस भाग से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियों में भी अवश्य रोग हो जाता है और इन ग्रन्थियों में वह प्रथम स्थान की अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट हो जाता है। इसके विपरीत युवावस्था में रोग प्रायः फेफड़ों के ऊर्ध्व खंड के शिखर में होता है। इसकी चाल अनिश्चित होती है और यह एक ओर बढ़ता जाता है तो दूसरी ओर सौत्रिक तंतु उत्पन्न होकर अच्छा होता जाता है। रन्ध्र का बनना युवाक्षय का विशिष्ट लक्षण होता है। रुग्न भाग से सम्बन्ध रखनेवाली लसिका ग्रन्थियों में रोग नहीं होता। ये दोनों भेद उतने ही स्पष्ट होते हैं जितने कि युवा और शैशवक्षय के लक्षणों का अन्तर।

शैशव-क्षय को एक ऐसा रोग कहा जा सकता है जिसमें संक्रमण के स्थान पर रोग के चिह्न तुच्छ होते हैं, परन्तु लसिका ग्रन्थियों में रोग स्थूल-काय और स्पष्ट होता है। यहाँ से क्षय-कीटाणु रक्त में प्रवेश कर जाते हैं और इसलिए शरीर के सब अथवा किसी भी इन्द्रिय में रोग हो सकता है।

जीवन के प्रथम दो वर्षों में शिशु अत्यन्त क्षय-ग्रहणशील होता है। इसलिये रोग अति शीघ्र फैल जाता है और उसके अच्छा होने की कोई चेष्टा नहीं होती। क्रमशः क्षय-ग्रहणशीलता कम होती जाती है और चौथे वर्ष से क्षयी-विकारों के पुरने की कुछ कुछ चेष्टा दिखाई देने लगती है। जीवन के प्रथम दो वर्षों में सर्वांगिक क्षय, जो बड़ा घातक होता है, रोग का प्रधान रूप होता है। जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है, व्यापक रोग कम होता जाता है और उसके स्थान में उदर-कला, फेफड़ा, अस्थि व सन्धि तथा लसिका ग्रन्थियों

का स्थानिक क्षय बढ़ता जाता है। रोग की प्रगति का वेग शिथिल होने लगता है और फलस्वरूप मरण-निष्पत्ति कम होने लगती है।

उपरोक्त बातों से यह कहा जा सकता है कि रेखा-चित्र नं० ७ और ८ भ्रान्तिजनक हैं, क्योंकि वे दो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न रोगों को एक
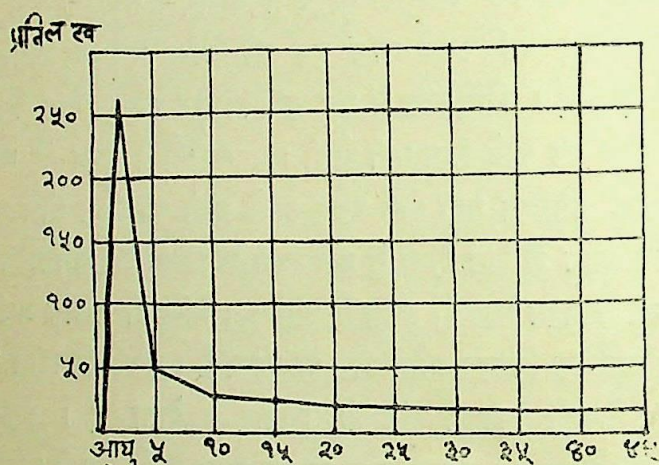
चित्र नं० ९—विलायत में सन् १९०१ से १९१० की दशाब्दि में फेफड़ों को छोड़कर अन्य सब प्रकार के क्षय-रोगों से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या
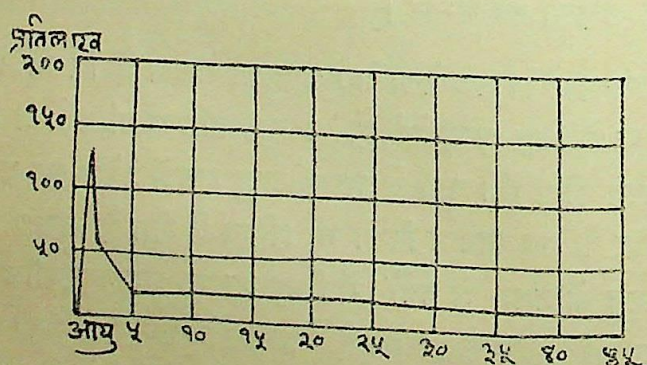
चित्र नं० १०—अमेरिका में सन १९१० से १९१२ तक फेफड़े को छोड़कर अन्य सब प्रकार के क्षय-रोगों से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या

मानकर उनकी मरण-निष्पत्ति का आयु-वितरण बतलाते हैं। यह अवश्य

है कि दोनों रोग एक ही प्रकार के कीटाणु से होते हैं। इसलिए इन चित्रों को ठीक-ठीक समझने के लिए उनके विश्लेषण की आवश्यकता है जो कोई कठिन काम नहीं है। इसके लिए केवल उनको फेफड़े और अन्य स्थानों के क्षय में विभक्त करना, जैसा कि चित्र नं० ९, १०, ११ और १२ में किया गया है, पर्याप्त है। यद्यपि ऐसा करने पर भी शिशुकाल का शुद्ध फुप्फुस-क्षय युवावस्था के फुप्फुस-क्षय के चित्रों में सम्मिलित हो जायगा, परन्तु उनकी
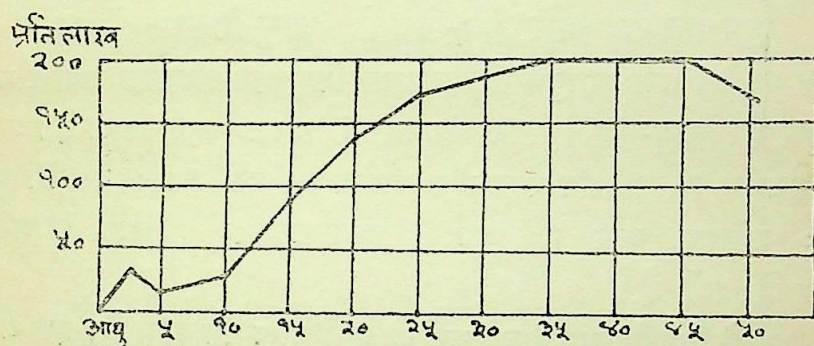
चित्र नं० ११—विलायत में सन् १९०१ से १९१० के दशाब्दि में फेफड़े के क्षय-रोगों से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या
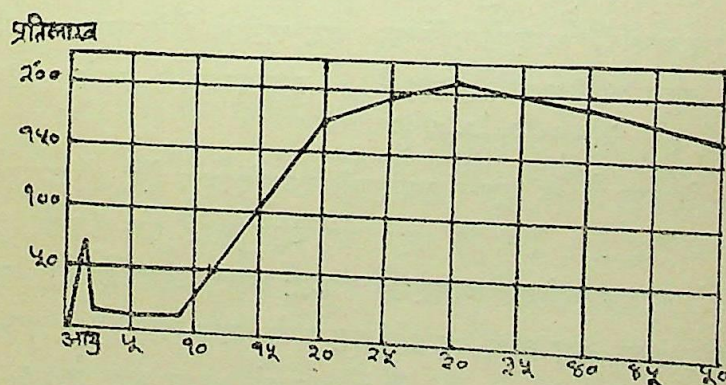
चित्र नं० १२—अमेरिका में सन् १९१० से १९१२ तक फेफड़े के क्षय-रोग से आयु के अनुसार प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या

संख्या इतनी कम होगी कि उसकी उपेक्षा की जा सकती है। विश्लेषण से दो साधारण रेखा-चित्र बन जाते हैं। चित्र नं० ९ और १० विलायत और

अमेरिका के फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य स्थानों के क्षय की मरण-निष्पत्ति का आयु-वितरण सूचित करते हैं। यह देखा गया है कि रोग का प्रसार उसकी मरण-निष्पत्ति के अनुसार होता है। चित्र नं० ९ और १० से स्पष्ट विदित होता है कि फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य स्थानों का क्षय बाल्यावस्था में अधिक होता है। इसके विपरीत चित्र नं० ११ और १२ से विदित होता है कि फेफड़ों का साधारण क्षय (राजयक्ष्मा) १५ वर्ष से ४० वर्ष की आयु तक सबसे अधिक होता है।

क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग के आयु-वितरण में अन्तर—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, नवजात शिशु क्षय-संक्रमण तथा रोग से मुक्त होता है। आयु-वृद्धि के साथ संक्रमण भी क्रमशः बढ़ता जाता है। प्रथम वर्ष में लगभग १५ प्रतिशत बालक संक्रामित हो जाते हैं। ५ वर्ष की आयु तक ५० प्रतिशत और १४ वर्ष की आयु तक ८० प्रतिशत से अधिक संक्रामत हो जाते हैं।

इससे विपरीत क्षय-रोग प्रथम दो वर्षों में पर्याप्त होता है। इस आयु-काल में मृत्यु भी अधिक होती हैं और रोग उग्र व्यापक रूप का होता है। परन्तु दो से दस वर्ष की आयु तक अस्थियों, सन्धियों तथा लसिका ग्रन्थियों का हल्का क्षय अधिक होता है और फेफड़ों का साधारण क्षय (राजयक्ष्मा) बहुत कम होता है। इस आयु काल में क्षय-रोग के कारण मृत्यु बहुत कम होती है। दस वर्ष के बाद फेफड़ों का क्षय अधिक होने लगता है और १५ वर्ष के बाद बहुत अधिक होने लगता है । राजयक्ष्मा से सबसे अधिक मृत्यु १५ और ४० वर्ष के बीच में होती हैं।

इससे स्पष्ट है कि क्षय-संक्रमण की निष्पत्ति क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति के अनुरूप नहीं होती। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्षय-संक्रमण आयु के प्रथम वर्ष से आरम्भ होकर प्रतिवर्ष क्रमशः बढ़ता जाता है और २० वर्ष की आयु तक बहुत कम लोग क्षय-संक्रमण से बच पाते हैं । क्षय-रोग से मृत्यु प्रथम दो वर्षों में बहुत होती है और उसके बाद कम होने लगती है। ३ वर्ष से १२ वर्ष की आयु तक यद्यपि क्षय-संक्रमण बढ़ता जाता है, परन्तु क्षय-रोग से मृत्यु बहुत कम हो जाती है। १५ वर्ष के बाद क्षय-रोग से मृत्यु फिर बढ़ने लगती है।

क्षय-रोग के इस विचित्र आयु-वितरण का निम्नलिखित कारण है। शिशुकाल में जब पहले पहल क्षय-संक्रमण होता है तो कम प्रतिरोध-शक्ति

वाले शिशुओं की उग्र व्यापक क्षय होकर शीघ्र मृत्यु हो जाती है। परन्तु जो शिशु प्रथम संक्रमण को सह लेते हैं उनमें कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है और बाल्यकाल में जब तक यह रोगक्षमता रहती है तब तक या तो क्षय-रोग होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत हलका। इसलिए बाल्यावस्था में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कम हो जाती है; परन्तु यह रोगक्षमता स्थायी नहीं होती। अतएव जब कालान्तर में युवावस्था में रोगक्षमता कम हो जाती है तब क्षय-रोग फिर होने लगता है। चूँकि रोगक्षमता का सर्वथा अभाव नहीं होता, इसलिए इस अवस्था में शिशुकाल की भाँति उग्र व्यापक रोग न होकर फेफड़ों का स्थानाबद्ध रोग होता है।

स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग का प्रसार—आयु के प्रथम ६ वर्षों में क्षय-रोग से लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में मृत्यु कुछ कम होती हैं। ६ वर्ष के बाद लड़कियों में मृत्यु की संख्या बढ़ने लगती है। १५ और ३० वर्ष की आयु में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मृत्यु कहीं अधिक होती हैं। ३० वर्ष के बाद पश्चिमी देशों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से मृत्यु कम होती हैं (चित्र नं० १३)। यह भी देखा गया है कि क्षय-रोग के कारण कुल मृत्यु पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम होती हैं। न्यूयार्क नगर में सन् १९२० ई० में कुल जन-संख्या में प्रति हज़ार ११·९ मृत्यु क्षय-रोग से हुई थीं, जिसमें पुरुषों में १४·९ और स्त्रियों में ८·५ थीं। परन्तु भारतवर्ष में जैसा कि चित्र नं० १८ से विदित होता है, हर आयु में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से मृत्यु अधिक होती हैं। परन्तु यह अन्तर १५ वर्ष से ३० वर्ष के आयुकाल में सबसे अधिक होता है। इस अन्तर का कारण आगे बतलाया जायगा।

क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति के इस आयु-वितरण के कई एक कारण बतलाये जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि अहितकर व्यवसायों के करने से पुरुषों की प्रतिरोध-शक्ति कम हो जाती है और जब वे बीमार पड़ते हैं तो उनके रोग निवारण की सुविधा कम होती है; क्योंकि उनको अपने साथ साथ उन लोगों के लिये भी कमाना पड़ता है जो उन पर आश्रित होते हैं। स्त्रियों में १५ से ३० वर्ष की आयुकाल में मासिकधर्म, गर्भाधान और स्तन्यपान के कारण प्रतिरोध-शक्ति कम होने से क्षय-रोग का अधिक होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। डा० फिशबर्ग का विचार है कि स्त्रियों में १५ से ३० वर्ष के
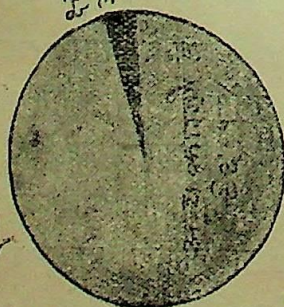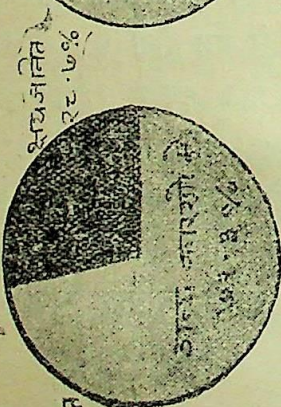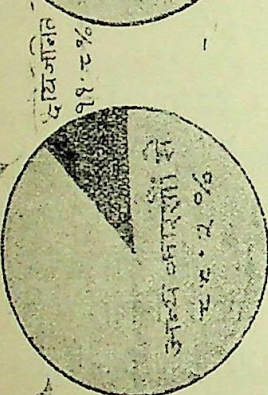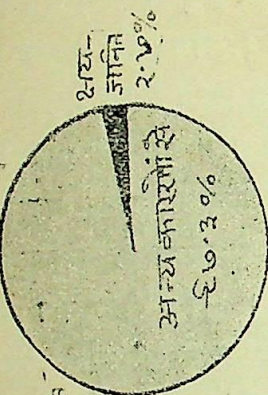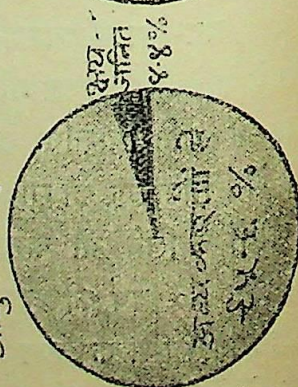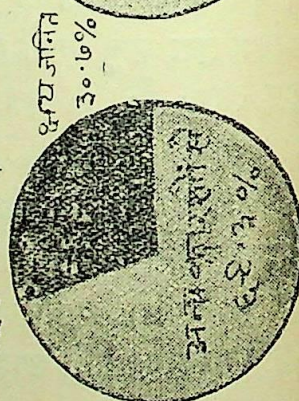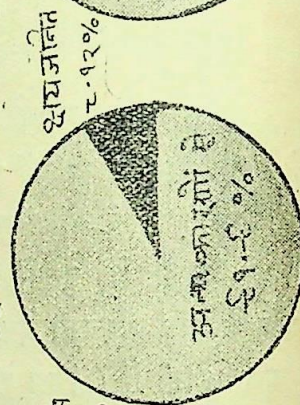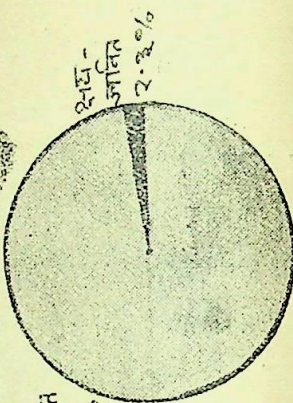
चित्र नं० १३—अमेरिका के संयुक्तराज्य में सन् १६०६-१२ तक आयु अनुसार स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग को मरण-निष्पत्ति । (Hoffman)

आयु-काल में अधिक क्षय होने का कारण अहितकर व्यवसाय होता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि संयुक्तराज्य की कुल जनसंख्या में व्यवसाय के विचार को छोड़कर दस वर्ष से अधिक आयुवालों में जो मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं उनमें ५६ प्रतिशत पुरुषों में और ४४ प्रतिशत स्त्रियों में होती हैं। परन्तु अहितकर व्यवसाय करनेवाली स्त्रियों के सम्बन्ध में यह अनुपात उल्टा हो जाता है और उसका अन्तर और भी बढ़ जाता है। जहाँ दुकानों पर बेचनेवाले पुरुषों में १५·८ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं वहाँ उसी व्यवसाय को करनेवाली स्त्रियों में ३१·१ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं। जूता बनाने वाले पुरुषों में १३·३% और स्त्रियों में ३१.८% मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं। इस से जान पड़ता है कि क्षय-रोग की मृत्यु के प्रश्न पर लिंग-भेद का उतना प्रभाव नहीं होता, जितना व्यवसायिक वातावरण का। अहितकर वातावरण में रहकर स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर परिश्रम नहीं उठा सकतीं। इसलिए क्षय-रोग से उनकी अधिक संख्या में मृत्यु होने लगती है। जब से स्त्रियाँ परिश्रमसाध्य व्यवसाय करने लगी हैं तब से उनमें क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति बढ़ गयी है। गत योरोपीय महाभारत के समय पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से मृत्यु की संख्या कहीं अधिक बढ़ गई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि जो स्त्रियाँ पहले कुछ काम नहीं करती थीं उनको हर प्रकार के वातावरण में अधिक परिश्रम करना पड़ा था। भारतवर्ष में स्त्रियों में क्षय-रोग के अधिक होने का व्यवसायिक परिश्रम से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इस देश में इसका प्रमुख कारण कुछ सामाजिक कुरीतियाँ हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे चलकर किया जायगा और जिनमें पर्दा की प्रथा, बालविवाह, प्रसव-कुप्रबन्ध इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

क्षय-रोग से मृत्यु—जिसप्रकार किसी देश में मृतशरीरों की परीक्षा से और जीवित मनुष्यों में यक्ष्मिन-परीक्षा से क्षय-संक्रमण के प्रसार का निश्चयात्मक पता चल जाता है, उसी प्रकार अभी तक ऐसा कोई उपाय उपलब्ध नहीं है जिससे उस देश में क्षय-रोगियों की संख्या का ठीक-ठीक पता लग सके, क्योंकि किसी देश की कुल जनसंख्या की एकदम परीक्षा करना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ मनुष्यों में यह निश्चय करना, कि उनको क्षय-रोग है अथवा नहीं, अत्यन्त कठिन है। अभी तक कोई ऐसी निर्दिष्ट कसौटी नहीं है जिससे

यह निर्णय किया जा सके कि क्षय-संक्रमण का कब अन्त होता है और कब क्षय-रोग का आरम्भ होता है। क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग के बीच की विभाजक-सीमा बड़ी अनिश्चित और अस्पष्ट होती है। इसलिए क्षय-रोग के प्रसार का अनुमान क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति से किया जाता है, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि जो रोग जितना अधिक फैला होगा उससे मृत्यु उतनी ही अधिक होंगी और जितना उसका प्रसार कम होगा उतनी ही मृत्यु कम होंगी।

जाँच करने से यह ज्ञात हुआ है कि संसार में जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से प्रत्येक आठ में से कम से कम एक मृत्यु क्षय-रोग से होती है।

क्षय-रोग की भयंकरता तो उस समय समझ में आती है जब यह स्मरण होता है कि युवावस्था में १५ वर्ष से ४० की आयु तक जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से एक तिहाई केवल क्षय-रोग से होती हैं। इन रोगियों के व्यवसाय छोड़ने से और उनके इलाज के व्यय से जो भारी आर्थिक हानि होती है उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। किसी भी देश में जितनी आर्थिक हानि क्षय-रोग से होती है उतनी और किसी बात से नहीं होती। यही कारण है कि विचारशील देशों में क्षय-रोग की समस्या हल करने की इतनी चेष्टा की जा रही है।

विभिन्न देशों की क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति में न्यूनाधिकता—क्षय-रोग संसार के सब सभ्य देशों में फैला हुआ है। परन्तु सब देशों में इसका प्रसार समान नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ है कि कुछ देशों में क्षय-रोग का प्रसार स्थिर है, कुछ देशों में कमी पर है और कुछ देशों में बढ़ती पर। जनसंख्या की सघनता, व्यवसायिक विशेषताएँ, सामाजिक तथा आर्थिक वातावरण सम्बन्धी अन्य बातें, इस अन्तर के अनेक कारण होते हैं।

कुछ देशों में क्षय-रोग की कमी के कारण—क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति में सबसे अधिक कमी इङ्गलैंड और अमेरिका के संयुक्तराज्य में हो रही है। इङ्गलैंड में क्षय-रोग की कमी लगभग १५० वर्ष से हो रही है। सन् १७४३—५३ ई० में क्षय-रोग से मृत्यु प्रति सहस्त्र २०० और १८३८ ई० में प्रति सहस्त्र १४८ थीं। चित्र नं० १४ सन् १८७० से सन् १९२३ ई० तक की वार्षिक मरण-निष्पत्ति सूचित करता है।
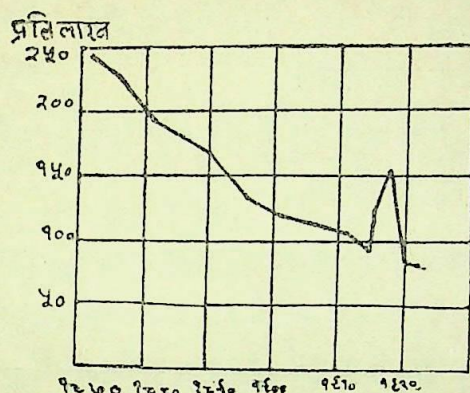
चित्र नं० १४—विलायत में सन् १८७० से १९२३ तक फेफड़े के क्षय-रोग से प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या में उत्तरोत्तर कमी और युद्धकाल में अल्पकालिक वृद्धि

इस रेखा-चित्र पर दृष्टि डालने से इस काल में क्षय-रोग में उत्तरोत्तर कमी स्पष्ट दिखाई देती है। केवल गत योरोपीय महाभारत के समय कुछ अल्पकालिक वृद्धि होगई थी।

स्काटलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया और आस्ट्रेलिया में भी क्षय-रोग में कमी हो रही है। चित्र नं० १५ को देखने से विदित होता है कि
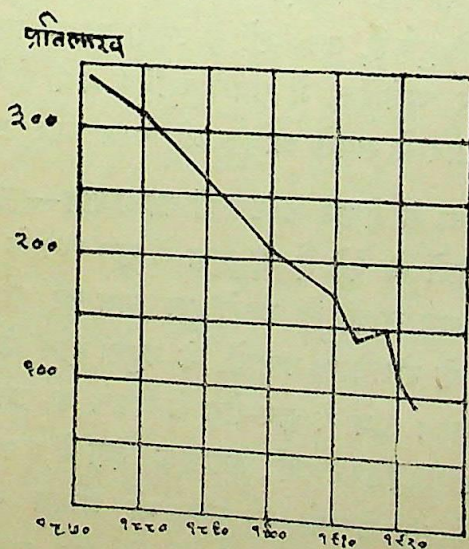
चित्र नं० १५—अमेरिका में सन् १८७० से १९२३ तक फेफड़े के क्षय-रोग से प्रतिलाख वार्षिक औसत मृत्यु-संख्या में उत्तरोत्तर कमी और युद्धकाल में अल्पकालिक वृद्धि

अमेरिका के संयुक्तराज्य में सन १८७० ई० से सन् १९२३ ई० तक क्रमशः क्षय-रोग में कमी होती आ रही है।

इङ्गलैंड की भाँति इस देश में भी गत योरोपीय महाभारत के समय कुछ अल्पकालिक वृद्धि होगई थी।

स्काटलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया और आस्ट्रेलिया में भी क्षय-रोग में कमी हो रही है।

इन देशों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति की इस कमी के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। न्यायपूर्वक विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इस कमी के कई कारण हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं:—

(१) सब विद्वानों का एकमत होकर यह विश्वास है कि जिन कारणों से व्यापक मरण-निष्पत्ति में कमी हुई है, उन्हीं कारणों से क्षयी मरण-निष्पत्ति में भी कमी हुई है। इन कारणों में सार्वजनिक स्वच्छता और स्वास्थ्य में उन्नति, आर्थिक दशा में उन्नति, कारखानों के परिश्रम सम्बन्धी नियमों में सुधार इत्यादि मुख्य हैं। वेतन में उन्नति और फल-स्वरूप लोगों को अधिक पौष्टिक भोजन का उपलब्ध होना भी क्षय-रोग की कमी का एक कारण है। यह बात इससे भी स्पष्ट विदित होती है कि जिन-जिन देशों में जितनी अधिक आर्थिक-उन्नति हुई है, उन देशों में उतनी ही अधिक क्षय-रोग में कमी हुई है। इङ्गलैंड और अमेरिका में सबसे अधिक कमी होने का कारण यह है कि ये दोनों देश संसार में सबसे अधिक श्रीसम्पन्न और उन्नत हैं।

(२) क्षय-रोग के रोकने के उपायों का प्रभाव—कुछ लोग इस कमी का पूरा श्रेय उन प्रयत्नों को देते हैं जो हाल में क्षय-रोग के रोकने के लिए किये गये हैं। परन्तु उपलब्ध साक्षी से उनके इस मत का समर्थन नहीं होता। इङ्गलैंड में क्षय-रोग के रोकने के उपायों के प्रयुक्त होने के पहले से क्षय-रोग में कमी होने लगी थी। नार्वे में क्षय-रोग के रोकने का उतना ही प्रयत्न किया जा रहा है जितना उसके निकटवर्ती डेनमार्क देश में; परन्तु फिर भी वहाँ क्षय-रोग के रोकने के इन उपायों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। उनका कहना है कि जितने भी उपाय किए जाते हैं, वे सब क्षय-संक्रमण रोकने के उपाय हैं, परन्तु फिर भी आज क्षय-संक्रमण उतना ही फैला हुआ और व्यापक है, जितना इन प्रयत्नों के पूर्व था।

उनका मत है कि क्षय-रोग की इस कमी का कारण वातावरण सम्बन्धी वे परिवर्तन होते हैं, जिनसे शिशुकाल में क्षय-संक्रमण होने का अधिक सुयोग होता है। फलतः इस अधिक संक्रमण से निर्बल शिशुओं की क्षय-रोग से मृत्यु हो जाती है, और केवल अधिक प्रतिरोध-शक्तिवाले शिशु छँटकर शेष रह जाते हैं और इन्हीं की सन्तान चलती है। वातावरण सम्बन्धी इस परिवर्तन को संक्षेप में नगर वृद्धि (Urbanisation) कहा जा सकता है। किसी देश में जब सभ्यता फैलती है और अन्य देशों में आना-जाना तथा व्यवहारिक सम्बंध बढ़ता है, और फलस्वरूप वैभव एवं औद्योगिकता में वृद्धि होती है तो उनके साथ साथ नगर वृद्धि भी होती है। विभिन्न देशों में यह नगर वृद्धि भिन्न भिन्न समय में हुई है। योरोप में सबसे पहले इंगलैंड में हुई थी। क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति पर नगर वृद्धि का प्रभाव उसकी गति के अनुसार होता है। बड़े बड़े नगरों में अधिक जन-संख्या के एक स्थान पर एकत्रित होने से क्षय-संक्रमण फैलने के सुयोग बढ़ जाते हैं और फलस्वरूप पहले क्षय-रोग की मृत्युसंख्या में वृद्धि होती है। परन्तु कुछ समय के बाद जब प्राकृतिक छाँट से निर्बल प्राणियों का नाश होकर केवल सबल और रोगक्षम व्यक्ति शेष रह जाते हैं तो उनकी सन्तान में क्षय-रोग से मृत्यु कम होने लगती है। अस्तु, अधिकांश विशेषज्ञों का यह मत है कि जापान और नार्वे इत्यादि देशों में, जहाँ हाल ही में नगर वृद्धि हुई है, क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति वृद्धि पर है। दूसरी ओर इंगलैंड और अमेरिका जैसे देशों में, जहाँ बहुत दिनों से नगर वृद्धि हो चुकी है, क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कम हो रही है। आयरलैंड जैसे देशों में, जहाँ नगर वृद्धि नहीं हो रही है, क्षयी मरण-निष्पत्ति स्थिर है।

अभी कहा नहीं जा सकता कि यह बात कहाँ तक ठीक है, परन्तु डा० कालिस ने यह सिद्ध कर दिया है और चित्र नं० १६ से उनके मत का समर्थन होता है कि नगर वृद्धि के साथ क्षय-रोग से अधिक मृत्यु होनेवाले आयुकाल में परिवर्तन हो जाता है।

जिन देशों में औद्योगिकता (Industrialism) अभी तक नहीं फैली है अथवा हाल ही में फैली है, उनमें क्षय-रोग से सबसे अधिक मृत्यु १५ से ३० वर्ष की आयु में होती हैं, परन्तु जिन देशों में औद्योगिकता को फैले हुए बहुत दिन होगये हैं, उनमें क्षय-रोग से सबसे अधिक मृत्यु ३०
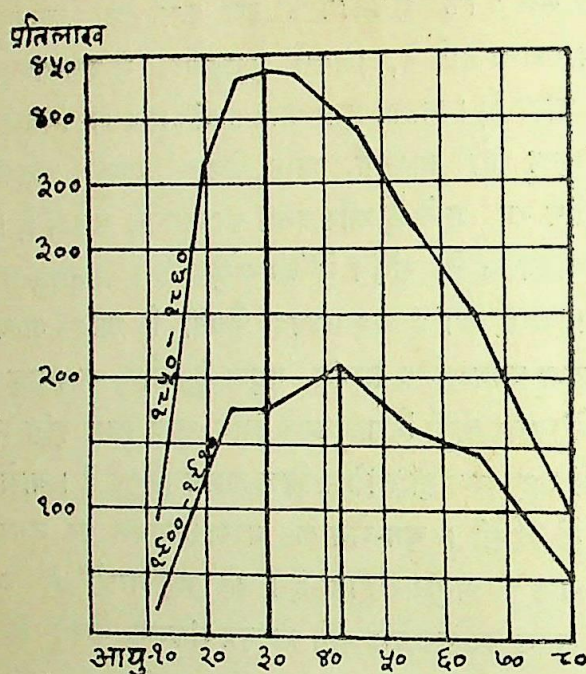
चित्र नं० १६—विलायत में सन् १८५०–६० और १९००--१९१० तक की दशाब्दियों में राजयक्ष्मा की आयु अनुसार मरण-निष्पत्ति के रेखा-चित्र, जिनमें सबसे अधिक मृत्यु के आयुकाल में परिवर्तन दिखाया गया है।

से ४५ वर्ष की आयु में होती है और रोग हल्का तथा अधिक जीर्ण रूप का होता है।

अंशतः सत्य होने पर भी केवल नगर वृद्धि और रोगक्षमता की क्रमिक वृद्धि के सिद्धान्त से क्षय-रोग की कमी सम्बन्धी सब बातों पर प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिए यह सिद्धान्त क्षय-रोग के रोकने के उपायों को अपने श्रेय से वंचित नहीं कर सकता। जैसा कि निम्नलिखित तालिका से विदित होता है, एक ही देश के विभिन्न शहरों में क्षय-रोगों में कमी असमान है, और उसका रोगक्षमता की क्रमिक वृद्धि (Gradual Immunisation) से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

सन् १९२० में अमेरिका और योरोप के विभिन्न नगरों में प्रतिलाख क्षयजनित मृत्यु-संख्या—

अमेरिका

अमेरिका के शहर	जनसंख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या
फिलडिल्फिया	१८३७९२४	१३७
इन्डियाना पोलिस	३१४१९४	१३२
नीवार्क	४१४२१६	१३०
सैन फ्रान्सिस्को	५२०५४६	१२२
बोस्टन	७५१२५१	१२७
न्यूयार्क	५६६३९८०	१२६
पिट्सबर्ग	५५१०३३	११९
क्लीवलैंड	८०८२६८	१०८
बफेलो	५१९६०८	१०२
शिकागो	२७२८०२२	९७
सेंटपाल	२९००००	८९
वाशिंगटन	४३७५७१	८५

योरोप

योरोप के शहर	जनसंख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या
वायना	१८४२००५	४०५
बुडापेस्ट	.....	३७६
वारसो	......	३३८
प्रेग	४८७०००	३२४
फ्लोरेन्स	२४८५८७	२९८
पैरिस	२९०५२४८	२७९
कलोन	६५६६१७	१७९
लीपज़िग	६२१३५१	१७९
बर्लिन	१९३१३३०	१७७
डसेल्डार्फ	४१४९००	१७२
एम्सटर्डम	६५०७५८	१५६
हैम्बर्ग	१०११०००	१५२

यदि रोगक्षमता की क्रमिक वृद्धि का इस कमी पर कोई विशेष प्रभाव होता तो वह पुराने सभ्य नगरों में स्पष्ट दिखाई देता, परन्तु उपर्युक्त तालिका के आँकड़ों से यह बात नहीं पाई जाती। इससे तात्पर्य यही निकलता है कि कुछ देशों और शहरों में क्षय-रोग के फैलने के कारण अधिक विद्यमान हैं और उसको कम करने वाले साधन कम, इसीलिए इस कमी में इस प्रकार की असमानता पाई जाती है।

उपलब्ध साक्षी को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय यही निष्कर्ष निकलता है कि क्षय-कीटाणुओं के अनुसन्धान से प्राप्त क्षय-रोग के प्रसार का ज्ञान हो जाने से और उसके रोकने के समुचित उपाय करने से क्षय-रोग की कमी में अवश्य सहायता मिली है। विभिन्न देशों के क्षय-रोग के प्रसार सम्बन्धी आँकड़ों की तुलना करने से यह विदित होता है कि कुछ विशेष उपायों के उपयोग का क्षय-रोग और उसकी मरण-निष्पत्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी देश की मरण-निष्पत्ति की न्यूनाधिकता, वहाँ के स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों की कार्य-पटुता और वहाँ की जनता के सहयोग पर निर्भर होती है। उपलब्ध साक्षी पर विचार करते हुए प्रत्येक विचारशील समाज का कर्त्तव्य है कि वह क्षय-रोग के प्रसार का ज्ञान प्राप्त कर उसके रोकने के उपायों का उपयोग करे।

पाँचवा परिच्छेद

भारतवर्ष में क्षय-रोग का प्रसार

कठिनाई—इस बात को सब लोग मानते हैं कि भारतवर्ष में क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है। परन्तु वर्तमान दशा में उसके वास्तविक प्रसार का अन्य देशों की भाँति ठीक ठीक पता लगाना बड़ा कठिन है। बड़ा कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में मृत्युलेखन का काम अभी तक सुव्यवस्थित नहीं हुआ है। यहाँ मृत्यु की रिपोर्ट करने का काम प्रायः चौकीदार इत्यादि अनपढ़ और असमझ लोगों के सुपुर्द है। ये लोग असमझ होने के कारण जो चाहते हैं, मृत्यु का कारण लिखा देते हैं। मृत्युलेखों को देखने से विदित होता है कि मृत्यु का कारण बहुधा केवल ज्वर लिखा दिया जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश घातक रोगों में ज्वर प्रमुख और सुव्यक्त लक्षण होता है और ज्वर को लोग साधारणतः रोग का लक्षण नहीं, बल्कि रोग ही समझते हैं।

मृत्युलेखन का कार्य अव्यवस्थित होने से मृत्युसम्बन्धी उपलब्ध आँकड़ों से क्षय-रोग के प्रसार का ठीक ठीक पता नहीं लग सकता। क्षय-रोग के प्रसार के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों में मतभेद होने का प्रमुख कारण विश्वस्त आँकड़ों का अभाव है। भारतवर्ष में क्षय-रोग के प्रसार के सम्बन्ध में लोगों की जो कुछ धारणा है वह केवल अनुमान और अनुभव पर आश्रित है, आँकड़ों से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

इस देश के साधारण मृत्युसम्बन्धी आँकड़े विश्वासयोग्य नही हैं और क्षय-रोग के प्रसार का पता लगाने में उनसे कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु यत्रतत्र कुछ आँकड़े ऐसे मिल जाते हैं जिनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर कुछ लोगों ने इस विषय

में विशेष जाँच की है जिससे भारतवर्ष में क्षय-रोग के प्रसार का बहुत कुछ पता लग जाता है।

विशेष स्थानों के आँकड़े—जिन विशेष संस्थाओं और स्थानों के आँकड़ों से क्षय-रोग के प्रसार का पता लगाने में सहायता मिलती है उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

(१) बीमा कम्पनियों के आँकड़े—साधारण आँकड़ों की अपेक्षा बीमा कम्पनियों के मृत्युसम्बन्धी आँकड़े कहीं अधिक विश्वासयोग्य और ठीक होते हैं; क्योंकि अभी तक भारतवर्ष में केवल पढ़े-लिखे और समझदार लोग ही बीमा कराते हैं, जिनसे यह आशा की जाती है कि वे कम से कम इतनी जानकारी अवश्य रक्खेंगे कि वे अपने निकट सम्बन्धियों की मृत्यु का कारण ठीक ठीक लिखा सकें। इसके अतिरिक्त बीमा का रुपया प्राप्त करने के लिए चिकित्सक का सार्टीफिकट भी देना पड़ता है। अतएव बीमा कम्पनियों के मृत्युलेखों में मृत्यु के कारण के सम्बन्ध में भूल होने की बहुत कम सम्भावना होती है।

भारतवर्ष में क्षय-रोग के प्रसार का पता लगाने के लिए लेखक ने सब बीमा कम्पनियों से गत दस वर्षों के मृत्युसम्बन्धी आँकड़े भेजने के लिए प्रार्थना की थी। कुछ कम्पनियों ने आवश्यक आँकड़े भेजने की कृपा की है और उसके लिए वे लेखक के धन्यवाद के पात्र हैं। स्थानाभाव के कारण इन उपलब्ध आँकड़ों का केवल सारांश नीचे दिया जाता है, जिससे क्षय-रोग के प्रसार पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

ओरियंटल लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन् १९२५ से १९२९ तक के मृत्युलेखों के देखने से विदित होता है कि इस काल में बीमा किये गये लोगों में से कुल ३५४४ मृत्युएँ हुई थीं जिनमें से ३२३ अर्थात ९.१ प्रतिशत क्षय-रोग से थीं। बंगाल इन्श्योरेन्स और रायल प्रोपार्टी कम्पनी के सन १९२० से १९२९ तक के मृत्युलेखों से विदित होता है कि इस काल में बीमा वाले लोगों में कुल ६८ मृत्यु हुई थीं जिनमें से ८ अर्थात् ११.७६ प्रतिशत क्षय-रोग से हुई थीं। बम्बई लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन् १९२५ से १९२९ तक के आँकड़ों के देखने से ज्ञात होता है कि इस काल में बीमा किये गये लोगों में कुल ३१० मृत्यु हुईं जिनमें से ४४ अर्थात् १४.२ प्रतिशत क्षय-रोग से थीं। नागपुर पायोनियर इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन् १९२३ से

१९३० ई० तक के आँकड़ों से विदित होता है कि इस काल में कुल ३७ मृत्युओं में से ४ अर्थात् १० प्रतिशत क्षय-रोग से थीं। इन आँकड़ों से प्रकट होता है कि भारतवर्ष के पढ़े-लिखे और स्वस्थ नवयुवकों में जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से ९ से १४ प्रतिशत तक मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं।

उपरोक्त आँकड़े विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वे केवल एक अत्यन्त परिमित समुदाय से सम्बन्ध रखते हैं। भारतवर्ष में बीमा करानेवाले लगभग सभी व्यक्ति पुरुष होते हैं और वे भी साधारण पुरुष नहीं, बल्कि अच्छी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के होते हैं। इसके अतिरिक्त ये आँकड़े बीमा करानेवालों के समुदाय में फैले हुए क्षय-रोग के कुल प्रसार के सूचक नहीं हैं। क्योंकि जिन लोगों की क्षय-रोग से बाल्यावस्था में मृत्यु हो जाती है, उनकी गणना इसमें नहीं होती है और स्त्रियाँ, दुर्बल व्यक्ति, क्षय-रोगी अथवा जिनमें क्षय-रोग का संदेह हो, उनमें से कोई भी इसमें सम्मिलित नहीं होते। ऐसे लोग न तो बीमा कराने का विचार करते हैं और यदि करें भी तो डाक्टरी-परीक्षा करने पर त्याग दिये जाते हैं। ये आँकड़े यथार्थ में केवल ऐसे शिक्षित पुरुषों की संख्या सूचित करते हैं जो यौवन के प्रारम्भ में शरीर की सावधानी से परीक्षा करने पर स्वस्थ मिलते हैं; पर आगे चलकर क्षय-रोग का शिकार बन जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन आँकड़ों से देश की उस होनहार शिक्षित सन्तान का दुःखद अन्त प्रकट होता है जिन पर यथार्थ में समाज की उन्नति और रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व होता है। इसके अतिरिक्त यह अनर्थ, जिसकी ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान आकर्षित किया जाता है तथा जिसके रोकने के लिए उनकी सहायता की आवश्यकता है, वस्तुतः उन्हीं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है, न कि समाज के अन्य कम भाग्यशाली लोगों से। अस्तु, समाज के स्वास्थ्यवान नेताओं में अन्त में कम से कम १० प्रतिशत क्षय-रोग की भेंट चढ़ जाते हैं। इन लोगों को कम से कम इतनी जानकारी होनी चाहिये जिससे उनके जीवन की रक्षा हो सके। शिक्षा से क्या हो सकता है, यह चेचक के आँकड़ों से विदित हो सकता है। ओरियंटल कम्पनी के बीमावालों में सन् १९२५ से सन् १९२९ तक की कुल ३५४४ मृत्युओं में से केवल २३ मृत्यु चेचक से हुई थीं।

(२) ईसाई-समुदायों के आँकड़े—भारतवर्ष के अधिकांश भागों में साधारण जनसंख्या की अपेक्षा ईसाई-समुदाय की मरण-निष्पत्ति बहुत

कम है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि स्वास्थ्य तथा आयुर्वेद-सम्बन्धी पाश्चात्य उन्नति का प्रत्यक्ष प्रभाव अन्य लोगों की अपेक्षा ईसाइयों पर अधिक पड़ा है और उनकी जीवनावस्था अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक अच्छी है। इसलिए उनमें अनेक स्थानों में क्षय-रोग का प्रचुर प्रसार और भी अधिक अवेक्षणीय है, विशेषकर जब कि वे ऐसी अनेक कुरीतियों से मुक्त होते हैं जिनसे क्षय-रोग के फैलने में सहायता मिलती है।

अधिकांश मिशन-केन्द्रों में कब्रस्तान होता है जहाँ ईसाइयों के मुर्दे गाड़े जाते हैं और मृत्यु का रजिस्टर सावधानी से रक्खा जाता है। इस रजिस्टर में मृत्यु का कारण स्पष्ट और यथासम्भव ठीक ठीक लिखा जाता है। इससे ईसाई-समुदाय के मृत्युसम्बन्धी आँकड़ों में भूल होने की बहुत कम सम्भावना होती है। निम्नलिखित तालिकाओं में इन रजिस्टरों से उद्धृत आँकड़े दिये जाते हैं जिनसे क्षय-रोग की मृत्युसंख्या का पता लगता है। प्रत्येक तालिका के अन्तिम स्तम्भ से प्रौढ़ावस्था में अर्थात् १५ वर्ष से ५५ वर्ष तक की आयुकाल में क्षय-रोग से मृत्यु की अधिकता स्पष्ट प्रकट होती है।

कलकत्तानिवासी भारतीय ईसाइयों के श्मशान-रजिस्टर के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात में प्रतिशत क्षय-जनित मृत्युसंख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयुकाल में कुल मृत्युसंख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयुकाल में क्षय-जनित मृत्युसंख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल में क्षय-जनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	जोड़				
१८८५	१०३	७	३	१०	९.७	४२	८	१९.०
१८९०	११८	५	५	१०	८.४	४१	८	१९.५
१८९५	२००	१७	११	२८	१४.०	८८	२०	२२.७
१९००	३५०	१६	११	२७	७.७	१४६	२३	१५.७
१९०५	३२०	१५	१७	३२	१०.०	१४४	२७	१८.७
१९१०	३३६	१८	१७	३५	१०.४	१२५	३१	२४.८
१९१४	३०६	२२	११	३३	१०.७	१४४	२८	२०.१
जोड़	१७३३	१००	७५	१७५	१०.१	७३०	१४५	२०.०

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि प्रौढ़ावस्था में (१५ से ५५ वर्ष की आयु तक) कलकत्ता के ईसाइयों में २० प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी।

निम्नलिखित तालिका से कलकत्ता के योरोपियन और एङ्गलो-इण्डियन जनसंख्या में क्षय-रोग के प्रसार का पता लगता है।

कलकत्ता के योरोपियन और एङ्गलोइण्डियनों के श्मशान-रजिस्टर के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षयजनित मृत्यु-संख्या			कुल मृत्यु के अनुपात में प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयुकाल में कुल मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल में क्षय-जनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष तक के आयु-काल में क्षय-जनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	कुल				
१८८५	४७३	१४	१७	३१	६.५	२२६	३०	१३.२
१८९०	४५२	१९	१९	३८	८.४	२०९	२८	१३.४
१८९५	६४८	३०	३२	६२	९.५	२५९	४६	१७.७
१९००	६२९	२७	२७	५४	८.६	२६७	४३	१६.१
१९०५	६१२	२३	३२	५५	८.९	२४८	४७	१८.९
१९१०	५३५	२३	२१	४४	८.२	२०५	३१	१५.१
१९१४	६०३	२५	३२	५७	९.४	२४०	४३	१७.९
जोड़	३९५२	१६१	१८०	३४१	८.६	१६५४	२६८	१६.२

निम्नलिखित तीसरी तालिका कालीकट के ईसाई-समुदाय की है, जिनमें क्षय-रोग का प्रसार अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक है।

वेसिल इवैंजेलिकल मिशन, कालीकट के श्मशान-रजिस्टर के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात में प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ४५ वर्ष तक के आयुकाल में कुल मृत्यु-संख्या	१५ से ४५ वर्ष तक के आयुकाल में क्षय-जनित मृत्यु-संख्या	१५ से ४५ वर्ष तक के आयुकाल में क्षय-जनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	कुल जोड़				
१९०५	८०	५	४	९	११·२५	२६	९	३४·६
१९०६	६८	१	२	३	३·४	३१	३	९·६
१९०७	६०	३	१	४	६·६	२१	४	१९·०
१९०८	९७	६	१	७	७·२	४३	७	१६·३
१९०९	५३	२	३	५	९·४	२०	४	२०·०
१९१०	६६	५	८	१३	१९·७	३२	१३	४०·६
१९११	३४	३	५	८	२३·५	१५	७	४६·६
१९१२	५०	२	३	५	१०·०	२०	५	२५·०
१९१३	६८	३	३	६	८·८	२८	६	२१·४
१९१४	६०	२	६	८	१३·३	२४	७	२९·१
जोड़	८३६	३२	३६	६८	१०·६९	२६०	६५	२५·२

उपरोक्त तालिका से विदित होता है कि ईसाइयों में प्रौढ़ावस्था में २५ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं।

पञ्जाब के ईसाइयों में इससे भी अधिक क्षय-रोग का प्रसार पाया जाता है। निम्नलिखित तालिका इस बात की द्योतक है।

लाहौर के भारतीय ईसाइयों के श्मशान-रजिस्टर के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्यु	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात में प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयु-काल में कुल मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल में क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयु-काल में क्षयजनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	जोड़				
१९०५	४४	३	५	८	१८·२	१५	५	३३·३
१९०६	२०	१	१	२	१०·०	९	२	२२·२
१९०७	३५	...	४	४	११·४	१४	४	२८·५
१३०८	४८	८	१	९	१८·७	२१	९	४२·८
१९०९	२७	२	४	६	२२·२	११	६	५४·५
१९१०	२३	२	१	३	१३·०	९	२	२२·२
१९११	३१	४	२	६	१९·३	१६	६	३७·५
१९१४ (६ महीने)	२१	३	३	६	२८·५	११	६	५४·५
जोड़	२४९	२३	२१	४४	१७·६	१०६	४०	३७·७

पञ्जाब के ईसाइयों में सन् १९१४ ई० में कम से कम २८·५ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से हुई थीं और प्रौढ़ावस्था में आधे से भी अधिक क्षय-रोग के कारण हुई थीं।

आगरा एक और ऐसा स्थान है जहाँ क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है। निम्नलिखित तालिका में सिकंदरा के ईसाइयों के सन् १८९५ से १९१५ तक के मृत्युसम्बन्धी आँकड़े दिये गये हैं।

सिकन्दरा के ईसाइयों में क्षयजनित मृत्यु के आँकड़े

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षयजनित मृत्यु			कुल मृत्यु के अनुपात में प्रतिशत क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल में कुल मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल में क्षयजनित मृत्यु-संख्या	१५ से ५५ वर्ष के आयुकाल में क्षयजनित मृत्यु की प्रतिशत संख्या
		पुरुष	स्त्रियाँ	जोड़				
१८९५-१९१५	२७७	४०	४२	४२	२९·६	१०६	५०	४७·२

इस तालिका के देखने से विदित होता है कि इस २१ वर्ष के काल में जितनी मृत्यु इस स्थान में हुई थी उनमें से २९·६ प्रतिशत क्षय-रोग के कारण थीं और १५ से ५५ वर्ष की मृत्युओं में से ४७·२ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था।

ईसाई-समुदाय में एक बात यह देखने में आई है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से केवल थोड़ी ही अधिक मृत्यु होती हैं।

क्षय-रोग की प्रसार सम्बन्धी जाँचें—भारतवर्ष की साधारण जन-संख्या के मृत्युसम्बन्धी आँकड़ों के देखने से विदित होता है कि लगभग ९० प्रतिशत मृत्युओं का कारण ज्वर लिखाया जाता है और ये आँकड़े प्रायः शीतज्वर (Malaria) के प्रचुर प्रसार के समर्थन में उद्धृत किये जाते हैं। परन्तु वस्तुतः उनसे शीतज्वर के वास्तविक प्रसार की कोई सूचना नहीं मिलती; क्योंकि चौकीदार इत्यादि मृत्यु की रिपोर्ट करनेवाले लोग बहुधा हर एक रोग को ज्वर लिखा देते हैं। बंगाल के दीनाजपुर ज़िले में एक हज़ार मृत्युओं की जो जाँच की गई थी, उससे मृत्यु के मुख्य-मुख्य कारणों का मोटे तौर पर पता लग जाता है। ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओं की सावधानी से जाँच की गई थी। इस जाँच से पता चला कि ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओं में से कम से कम ९ प्रतिशत क्षय-रोग के कारण थीं।

इसीप्रकार की दूसरी जाँच डा० ब्रह्मचारी ने कलकत्ता के निकट काशी-पुर चितपुर में लगातार ५ वर्ष तक की थी। प्रत्येक मृत्यु के वास्तविक कारण

की यथासम्भव सावधानी से जाँच की गई थी। पाँच वर्ष के सम्मिलित आँकड़ों के देखने से पता चलता है कि कुल २१८१ मृत्युओं में से ५२२ का कारण क्षय-रोग मिला था। जिन मृत्युओं का कारण ज्वर लिखा गया था उनमें से १०.८ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था और जिनका कारण श्वास-मार्ग के रोग लिखा गया था उनमें से २३.६ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था। ऐसी ही अनेक जाँचें बंगाल के सैनिटरी कमिश्नर डा० बेंटले की अवधानता में की गई थीं। मुर्शिदाबाद ज़िले में ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओं में ५.४ प्रतिशत क्षय-रोग के कारण पाई गई थीं। नदिया ज़िले में यह अनुपात ७.२ प्रतिशत और जसोर ज़िले में ९ प्रतिशत था। ढाका ज़िले के एक भाग में जाँच करने से ज्ञात हुआ कि श्वास-मार्ग के रोगों के कारण लिखी हुई ९१० मृत्युओं में से ३५.५ प्रतिशत का कारण क्षय-रोग था।

भारतवर्ष के अन्य भागों में जाँच करने से इसीप्रकार के आँकड़े मिल सकते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनसे भी वही तात्पर्य निकलेगा। मृत्यु-सम्बन्धी विभिन्न आँकड़ों और स्वास्थ्य-विभागों की रिपोर्टों के देखने से यह धारणा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती कि आजकल की मृत्यु की रिपोर्ट करने की प्रणाली में अनेक क्षयजनित मृत्यु 'ज्वर' शीर्षक में लिख जाती हैं। वर्तमान स्थिति में यह माना जा सकता है कि ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओं में से लगभग ९ या १० प्रतिशत और श्वास-रोगों के कारण लिखी हुई मृत्युओं में से २० से २५ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं।

देहात की अपेक्षा शहरों के मृत्यु-सम्बन्धी आँकड़े कुछ अधिक ठीक होते हैं, यद्यपि अभी तक वे भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हैं। बड़े-बड़े शहरों के मृत्यु-सम्बन्धी आँकड़ों के देखने से और पश्चिमी देशों के शहरों के अनुरूप आँकड़ों से उनकी तुलना करने पर विदित होता है कि भारतवर्ष के शहरों में क्षय-रोग कहीं अधिक फैला हुआ है। कुछ शहरों में विशेष जाँच करने से ज्ञात हुआ है कि कुल मृत्युओं में से लगभग २० प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं। प्रत्येक पाँच मृत्युओं में से कम से कम एक का क्षय-रोग से होना हमारे शहरों में क्षय-रोग के विकराल प्रसार का द्योतक है।

यह पहले बताया जा चुका है कि पाश्चात्य देशों में जितनी मृत्यु होती हैं उनका आठवाँ भाग क्षय-रोग से होता है। ऊपर अभी यह बताया

जा चुका है कि भारतवर्ष के देहात में लगभग ९० प्रतिशत मृत्युओं का कारण ज्वर लिखा होता है और ज्वर के कारण लिखी हुई मृत्युओं में से लगभग १० प्रतिशत क्षय-रोग से होती हैं। इसके अतिरिक्त श्वास-मार्ग के रोगों के कारण लिखी हुई मृत्युओं में से लगभग एक चौथाई क्षय-रोग से होती हैं। इन दोनों को मिलाकर हिसाब लगाने से आठवें भाग से भी अधिक मृत्युओं का कारण क्षय-रोग होता है। यह बात देहात की है। शहरों में तो १५ से २० प्रतिशत तक मृत्यु क्षय-रोग से होती हैं। इससे निस्सन्देह यह तात्पर्य निकलता है कि पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में क्षय-रोग अधिक फैला हुआ है।

क्षय-रोग के प्रसार का भौगोलिक वितरण—भारतवर्ष में भी क्षय-रोग का प्रसार उन्हीं व्यापक नियमों के अनुसार और उन्हीं सामाजिक तथा जलवायु सम्बन्धी बातों पर निर्भर होता है जिनके अनुसार और जिन पर अन्य देशों में होता है। इन बातों की विवेचना पूर्व परिच्छेद में की जा चुकी है। परन्तु भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में क्षय-रोग के प्रसार का किन-किन बातों से कितना प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि अभी तक इस विषय में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। जो कुछ भी कहा जायगा वह अस्थायी और परिवर्तन-सापेक्ष है। विश्वस्त आँकड़ों के अभाव के कारण भारतवर्ष के विभिन्न भागों में क्षय-रोग के वास्तविक प्रसार का पता नहीं लग सकता। उनकी परस्पर तुलना करके केवल इतना कहा जा सकता है कि क्षय-रोग कहाँ अधिक और कहाँ कम होता है। यह तुलना भी विभिन्न भागों के अनुभवी और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की संगृहीत स्वतंत्र साक्षी के आधार पर की गई है। अधिक विश्वस्त सूचना मिलने पर सम्भव है कि जो कुछ इस समय कहा जाता है उसमें संशोधन करना पड़े।

राजयक्ष्मा के इलाज में जलवायु की निम्नलिखित बातें हितकर मानी जाती हैं। वायु-भार की कमी, पवनों का चलना, वायु की अक्लिन्नता, कोहरा की कमी, वर्षा की कमी, प्रकाश की अधिकता, तीव्र ताप तथा अधिक क्रिया-शील किरणवाला प्रकाश और अधिक विकिरणशक्तिवाली शुद्ध वायु।

इस बात से साधारणत: यह कहा जा सकता है कि क्षय-रोग का प्रसार भारतवर्ष के उन भागों में कम होता है जहाँ वर्षा कम होती है, वायु

में आर्द्रता कम होती है, वायु स्वच्छ तथा शुष्क होती है और जहाँ का औसत ताप-परिमाण अधिक होता है। राजपूताना, मध्यभारत, मध्यप्रान्त, दक्खिन तथा मैसोर के उच्च भूभागों (पठारों) में भारत के अन्य भागों की अपेक्षा क्षय-रोग कम होता है। इसी श्रेणी में बलुचिस्तान, पश्चिमोत्तर प्रान्त के पहाड़ी भाग, काश्मीर के ऊपरी भाग, चित्रल और गिलगित की घाटियाँ, छोटा नागपुर का पहाड़ी प्रदेश, आसाम का मध्य तथा निम्न भाग, मैसोर की दक्षिण ओर मदरास प्रान्त का ऊर्द्ध भूभाग और कुर्ग आते हैं।

उक्त प्रदेशों में क्षय-रोग के प्रसार की कमी का दूसरा प्रमाण यह है कि वहाँ के लोगों में क्षय-ग्रहणशीलता अधिक होती है और जब वहाँ के लोग अधिक क्षयवाले अन्य स्थानों में जाते हैं तो उनको क्षय-रोग अधिक होता है। यह बात उन परिवारों में बराबर देखी जाती है जो दक्षिण को छोड़कर कोंकण प्रदेश में जा बसते हैं अथवा जो राँची या हज़ारीबाग को छोड़कर बंगाल में जा बसते हैं।

उपरोक्त भागों की अपेक्षा क्षय-रोग का प्रसार सिंध की मरुभूमि, पञ्जाब का दक्षिण-पश्चिमी भाग, गोरखपुर के आसपास संयुक्तप्रान्त का उत्तर-पूर्वीय भाग और उससे लगा हुआ गंगा से उत्तर बिहार का भाग, सम्पूर्ण उड़ीसा, मलाबार-तट तथा दक्षिणी पहाड़ियों को छोड़कर सम्पूर्ण मद्रास प्रान्त में अधिक होता है।

भारतवर्ष के अन्य शेष भागों में क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है। बड़े बड़े नगरों के अतिरिक्त देहात में भी क्षय-रोग बहुत होता है और क्षय-रोगियों के इलाज के लिए वहाँ का जलवायु कम अच्छा होता है। इन अधिक क्षय-रोगवाले प्रदेशों के अन्तर्गत बंगाल का डेल्टा, पूर्वीय और पश्चिमीय ब्रह्मावर्त्त प्रदेश, दक्षिण-पश्चिमीय कोने को छोड़कर समस्त पञ्जाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश की घाटियाँ, गुजरात, पश्चिमी समुद्र-तट और विशेषकर मलाबार समुद्र-तट हैं।

हिमालय के कम आबाद उत्तरीय भाग में क्षय-रोग बहुत कम होता है और उसकी गणना प्रथम श्रेणी में है। नैपाल और भूटान की रियासतें दूसरी श्रेणी में आती हैं। हिमालय का दक्षिणी भाग, विशेषकर तराई प्रदेश अन्तिम श्रेणी में आते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि राजपूताना या दाक्षिणात्य के स्वस्थ प्रदेशों के जलवायु के सम्बंध में जो कुछ कहा गया है, उसका उन प्रदेशों के अन्तर्गत शहरों के क्षय-रोग के प्रसार से कोई सम्बंध नहीं। इन प्रदेशों के शहरों में क्षय-रोग बहुत फैला हुआ है।

नगर और देहात में प्रसार—यह निर्विवाद है कि अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी क्षय-रोग शहरों में अधिक और देहात में कम होता है। केवल बम्बई एक ऐसा प्रान्त है जहाँ क्षय-रोग मृत्यु के अंक-विवरण में पृथक शीर्षक में रक्खा जाता है और इसलिए शहरों और देहात की क्षय-रोग की मरण-निष्पत्तियाँ, वहाँ उपलब्ध हैं। बम्बई प्रान्त के चारों रेजिस्ट्रेशन उप-प्रान्तों के नगर और देहात की क्षय-रोग की मरण-निष्पत्तियाँ निम्नलिखित सारिणी में अलग-अलग दी जाती हैं। इससे देहात की अपेक्षा शहरों में क्षय-रोग की अधिकता स्पष्ट विदित होती है।

				सन् १९१७	सन् १९१८
गुजरात	रेजिस्ट्रेशन	विभाग	शहर	३·३४	३·३४
”	”	”	देहात	१·०२	१·०४
मध्यस्थ	”	”	शहर	१·६९	२·१७
”	”	”	देहात	०·७६	०·७७
दक्षिणी	”	”	शहर	१·३५	१·४६
”	”	”	देहात	०.२२	०·४४
पश्चिमी	”	”	शहर	१.७	०·८८
”	”	”	देहात	०·५४	०·४०

अन्य प्रान्तों में भी, जहाँ जहाँ जाँच की गई है, यही बात पाई जाती है। इस विषय में किसी को कोई शंका नहीं हो सकती।

क्षय-रोग की मृत्यु-संख्या का आयु-वितरण—भारतवर्ष में क्षय-रोग की मृत्युसंख्या का आयु-वितरण भी अन्य देशों के आयु-वितरण के समान होता है, जैसा कि चित्र नं० १७ से विदित होता है। यह चित्र देहरादून नगर के क्षय-रोग की मृत्युओं के आँकड़ों से तैयार किया गया है।
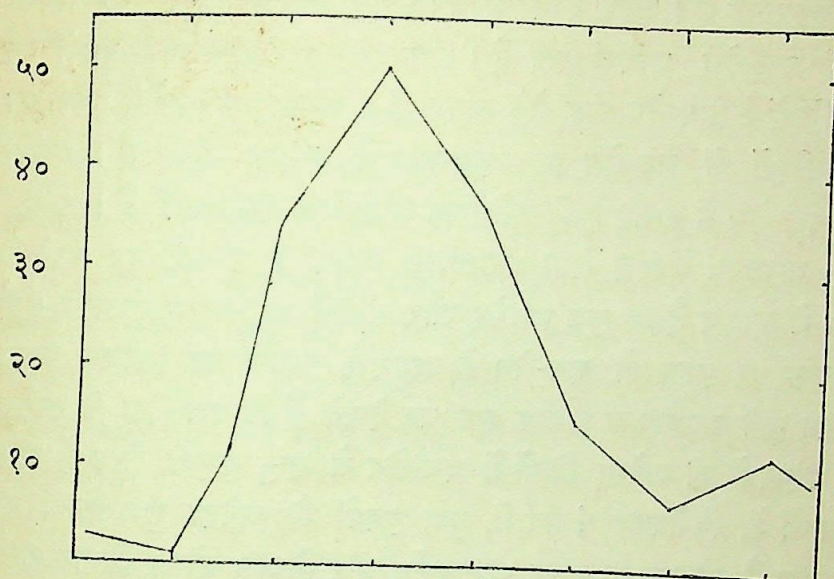
चित्र नं० १७—देहरादून नगर में सन् १९२४—२९ में क्षय-रोग को मरण-निष्पत्ति का आयु-वितरण।

उपरोक्त चित्र के देखने से विदित होता है कि भारतवर्ष में राजयक्ष्मा से सबसे अधिक मृत्यु १५ से ३० वर्ष तक की आयु में होती है।

स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग—चित्र नं० १८ भारतवर्ष में स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग का प्रसार सूचित करता है। इस चित्र के देखने से विदित होता है कि भारतवर्ष और अन्य देशों के स्त्री-पुरुषों में क्षय-रोग के प्रसार में
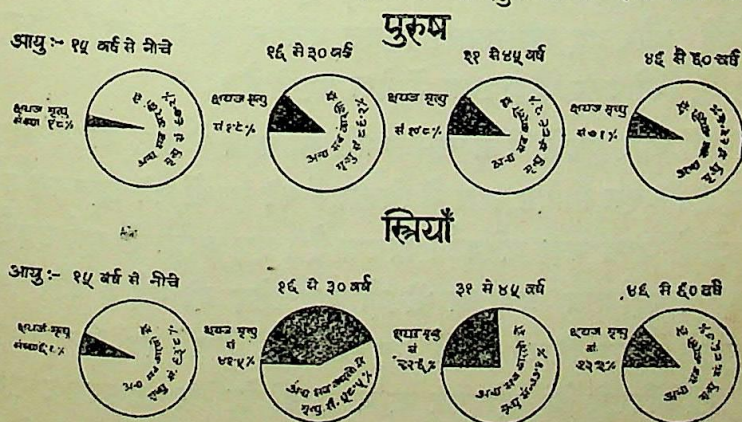
चित्र नं० १८—नैनीताल नगर में सन् १९२०-२९ में पुरुष और स्त्रियों में आयु-अनुसार क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति का वितरण

कुछ अन्तर होता है। अन्य देशों में केवल युवावस्था में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग अधिक होता है। मध्यावस्था पार करने पर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग कम होने लगता है। परन्तु भारतवर्ष में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग हर आयु-काल में अधिक होता है। इसका कारण इस देश में प्रचलित निम्नलिखित सामाजिक कुरीतियाँ हैं।

भारतवर्ष में कुछ ऐसी सामाजिक प्रथाएँ है, जिनके दूर करने के सम्बन्ध में सम्भव है कि कुछ मतभेद और संकोच हो, परन्तु जिनकी कोई भी विचारशील पुरुष जो क्षय-रोग के प्रसार के कारणों का विवेचन करता है, उपेक्षा नहीं कर सकता। जब हम यह देखते हैं कि इस देश के अनेक नगरों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से मृत्यु दुगुनी होता हैं और कई स्थानों में, विशेषकर पंजाब में, युवा पुरुषों की अपेक्षा युवा स्त्रियों की संख्या कम है, तो इस प्रश्न पर ध्यानपूर्वक और निष्पक्ष होकर विचार करने की आवश्यकता स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

इंगलैंड में क्षय-रोग के प्रसार-सम्बन्धी कुछ बातें ऐसी हैं, जो भारतवर्ष में इस रोग के लिंग-भेदानुसार वितरण के सम्बन्ध में बड़े महत्व की हैं। गत साठ वर्षों में इंगलैंड में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति लगभग आधी हो गई है। इस कमी के अनेक कारण कहे जाते हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनमें से अधिकांश सामाजिक सुधार के घेरे में आ जाते हैं।

इस प्रसंग में जो विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति की यह कमी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कहीं अधिक हुई है और यह असमानता केवल बचपन में ही नहीं, किन्तु हर आयु-काल में, विशेषकर प्रौढ़ावस्था में देख पड़ती है।

स्त्रियों और पुरुषों में मरण-निष्पत्ति की कमी के इस अंतर का मुख्य कारण यह है कि इस निर्दिष्ट काल में विलायत की स्त्रियों की रहन-सहन और रीति-रिवाजों में बहुत बड़ा परिवर्तन होगया है। इस काल से पूर्व इङ्गलैंड में अपने ढंग की पर्दा-प्रथा प्रचलित थी जो अब छोड़ दी गई है और फलतः जिसका पुरस्कार अब मिल रहा है। पूर्वकाल में स्त्रियाँ वहाँ बन्द कमरों में रहती थीं, सीने-पिरोने के छोड़कर अन्य कामों को अपमानजनक समझती थीं और खुली वायु में टहलने के लिए या व्यायाम के लिए बाहर निकलना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझती थीं। ये सब बातें अब त्याग दी गई हैं,

फलतः इङ्गलैंड की स्त्री-जाति का स्वास्थ्य इस परिवर्तन के कारण अब कहीं उन्नत होगया है।

कारण कुछ भी हो, वास्तविक बात यह है कि इङ्गलैंड में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में क्षय-रोग से मृत्यु अधिक होती हैं। अमेरिका में भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से मृत्यु कम होती हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इङ्गलैंड में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग कम होता है, अब हमको भारत की स्त्रियों और पुरुषों में क्षय-रोग के प्रसार पर दृष्टि डालनी चाहिये। निम्नलिखित आँकड़े केवल उदाहरणमात्र हैं। उत्तर भारत के चाहे किसी नगर में देखा जाय, एक ही दशा मिलेगो।

कलकत्ते में सन् १९१३ में स्त्रियों में क्षय-रोग से ४५ प्रतिशत मृत्यु हुई थीं, यद्यपि कुल जनसंख्या में पुरुषों के अनुपात से उनकी संख्या केवल ३३ प्रतिशत थीं। स्त्रियों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति ३.३ और पुरुषों में २.० प्रतिसहस्र थीं। मुसलमान स्त्रियों में ५.८ और हिन्दू स्त्रियों में ३.० प्रतिसहस्र थीं। सन् १९२७ में मुसलमान स्त्रियों में ३.६, हिन्दुओं में २.७ और ऐंग्लोइण्डियनों में १.८ प्रतिसहस्र थीं।

लाहौर में सन् १९१३ का क्षय-रोगनिजत मृत्यु का व्योरा इस प्रकार है:—

	मुसलमान		हिन्दू		अन्य जातियाँ	
	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ
क्षय-रोग से मृत्यु	१५०	२९९	५९	८६	१५	२१

पुरुष २२४ }
स्त्रियाँ ४०६ } =६३०

बम्बई प्रान्त के उत्तरी भाग के तीन नगरों में सन् १९१५—१६ में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्तियाँ इस प्रकार थीं —

बम्बई प्रान्त के कुछ नगरों में क्षय-रोग की मरण निष्पत्ति

	मुसलमान		हिन्दू	
क्षय-रोग से मृत्यु	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ
अहमदाबाद	२·८४	४·४	४·३	४·६
सूरत	१.५३	३.२७	२·१२	२·९
बरौच	१·७	४·९	२·१३	२·३

इन तीनों शहरों में मुसलमानों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कहीं अधिक है, परन्तु हिन्दुओं में स्त्री और पुरुष दोनों में लगभग बराबर है। इन नगरों में मुसलमानों में पर्दा होता है, पर हिन्दुओं में नहीं होता।

इस बात का सर्वोत्तम दृष्टान्त रन्देर का है। रन्देर सूरत से लगभग चार मील की दूरी पर एक छोटा कस्बा है जिसमें अधिकतर मुसलमान व्यापारी रहते हैं। इन व्यापारियों में अधिकांश बहुत धनवान हैं। यहाँ की आबहवा अच्छी है, और इस कस्बे की स्वच्छता भी सन्तोषजनक है।

यहाँ की क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति २५·३ प्रतिसहस्र है, जिसका लिंग और जाति-भेदानुसार विवरण इसप्रकार है:—

	हिन्दू		मुसलमान	
	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ
रन्देर	१·०५	१·१६	२·१५	६·७

यहाँ के मुसलमान, हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्धिशाली हैं, इसलिए उनको भोजन-वस्त्रादि का अधिक सुभीता है; परन्तु उनमें कड़ा पर्दा होता है जिसका हिन्दुओं में अभाव है। यह स्पष्ट है कि दोनों जातियों की मरण-निष्पत्ति के इस भेद का पर्दा-प्रथा के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है।

विभिन्न जातियों में यह अन्तर ब्रह्मदेश में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। यहाँ के बौद्धों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में क्षय-रोग अधिक होता है। इस समुदाय में पर्दा-प्रथा नहीं है और स्त्रियाँ उसीप्रकार खुली वायु में रहती हैं, जिसप्रकार पुरुष। पुरुषों में क्षय-रोग प्रायः क्लार्क विद्यार्थी इत्यादि उन श्रेणियों के लोगों में पाया जाता है जो मकानों में बैठे रहकर काम करते हैं। यह अन्तर रंगून के निम्नलिखित आँकड़ों से भलीभाँति प्रदर्शित होता है:—

क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति	बौद्ध पुरुष	बौद्ध स्त्री	मुसलमान पुरुष	मुसलमान स्त्री
रंगून	२·०३	१·७९	१·४९	३·५७

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट विदित होता है कि बौद्धों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग कम होता है, परन्तु मुसलमानों में दशा बिलकुल उल्टी है।

अब हमको यह विचार करना है कि स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाली वह कौन कौन सी सामाजिक प्रथाएँ हैं, जिनका क्षय-रोग के प्रसार से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पर्दा-प्रथा—भारतवर्ष में स्त्रीजाति सम्बन्धी जितनी सामाजिक कुरीतियाँ हैं, उनमें पर्दा-प्रथा का क्षय-रोग के फैलने में सबसे अधिक हाथ है। जितने भी डाक्टर, वैद्य, हकीम और हेल्थ आफ़िसर हैं, उन सबका यही अनुभव है कि क्षय-रोग स्त्रियों में, और विशेषकर पर्दानशीन स्त्रियों में सबसे अधिक होता है। जिस किसी से पूछा जाय, यही कहेगा कि क्षय-रोग का पर्दे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में कलकत्ते के भूतपूर्व हेल्थ आफ़िसर डा० एच० एम० क्रेक के अनुभव का, जो सन् १९१३ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ था, सारांश उल्लेखनीय है। वे कहते हैं कि जहाँ पुरुषों में प्रतिसहस्त्र मरण-निष्पत्ति २४·३ है वहाँ स्त्रियों में ३८·४ है। शहर के किसी

किसी भाग में ४८·२ तक है। पर्दा-प्रथा पर इससे अधिक भयङ्कर अभियोग और क्या हो सकता है ? भारतवर्ष की स्त्रियाँ पर्दा-प्रथा से, जिसके कारण अनेक स्त्रियों की अकालमृत्यु होती है, छुटकारा पाने की निस्सन्देह अधिकारिणी हैं। शहर के अनेक मुहल्लों में मकानों की दशा बहुत खराब होती है, इसलिए जिन लोगों को उनमें दिन-रात रहना पड़ता है, उनको रोग अधिक होता है। पुरुषों में, जो दिन में घर से बाहर रहते हैं, रोग कम होता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि पर्दे के विचार से मकान का जनाना भाग ऐसा बनवाया जाता है जहाँ सूर्य का प्रकाश और वायु पहुँच नहीं पाते।

जब हम यह देखते हैं कि इंगलैंड और अमेरिका में जहाँ पर्दा-प्रथा नहीं है, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग कम होता है, और भारतवर्ष के उन प्रान्तों में, जहाँ हिन्दुओं में पर्दा नहीं होता और मुसलमानों में होता है, हिन्दुओं में स्त्री और पुरुषों में क्षय-रोग से मृत्यु लगभग बराबर होती है और मुसलमानों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क़रीब क़रीब दूनी, तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पर्दा-प्रथा स्त्रियों में क्षय-रोग फैलने का एक प्रमुख कारण है।

पर्दे से क्षय-रोग किसप्रकार फैलता है ? मनुष्य के स्वस्थ शरीर में रोग रोकने की कुछ स्वाभाविक शक्ति होती है। जब क्षय-कीटाणुओं की संख्या कम होती है, तो उनके नष्ट करने में शरीर सफल हो जाता है, परन्तु जब कीटाणु अधिक होते हैं या उनसे सम्पर्क अधिक समय तक होता है अथवा शरीर की शक्ति कम हो जाती है तो क्षय-रोग हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि स्वच्छ वायु और व्यायाम से शरीर के पुट्ठे पुष्ट होते हैं। दूसरी ओर बन्द मकान में बैठे रहने से शरीर निर्बल हो जाता है। शरीर की रोगनाशक शक्ति के लिए स्वच्छ वायु का मिलना आवश्यक है। रात में बन्द कमरों में रहने से जो हानि होती है, वह दिन में बाहर रहने से और स्वच्छ वायु के मिलने से बहुत कुछ दूर हो जाती है; परन्तु जब दिन-रात बन्द मकान में रहना पड़ता है तो शरीर शिथिल होकर रोग का शिकार बन जाता है। ठीक यही दशा उस युवती की होती है, जो अपना बाल्यकाल खुली हवा में बिताती है और विवाह के बाद एकदम पर्दे के अंदर कर दी जाती है।

इस प्रथा के बनाये रखने का जो मूल्य देश को देना पड़ता है, उसका अनुमान विचारशील लोगों को उपरोक्त आँकड़ों से हो सकता है। इस प्रथा के विषय में विवेचन करते समय उसके स्वास्थ्यसम्बंधी पहलू का भी स्मरण रखना चाहिए। इस प्रथा का दूर करना अन्य कारणों से उचित समझा जाय या नहीं, कम से कम यह अवश्य जान लेना चाहिए कि स्त्रियों को भोजन-वस्त्रादि देने के अतिरिक्त उनके लिए स्वच्छ वायु का प्रबंध करने का बड़ा भारी उत्तरदायित्व पुरुषों पर है।

इस प्रसंग को छोड़ने से पूर्व एक और बात की ओर लोगों का ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। अनेक मुसलमान परिवारों में यह देखा गया है कि कई स्त्रियाँ एक ही बुर्के को प्रयोग में लाती हैं। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि जिस बुर्के को एक क्षयी स्त्री ओढ़ती हो, उसीको अन्य स्त्रियाँ भी ओढ़ती हों, इससे बड़ी हानि होती है।

बाल-विवाह—पर्दा-प्रथा के बाद स्त्रीजाति के लिए दूसरी हानिकारक प्रथा बाल-विवाह है। देश के उन भागों में जहाँ पर्दा-प्रथा प्रचलित नहीं है, स्त्रियों में क्षय-रोग के अधिक प्रसार का प्रमुख कारण बाल-विवाह है। परन्तु इस सम्बन्ध में या पर्दा-प्रथा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि ये सामाजिक कुप्रथाएँ क्षय-रोग का प्रत्यक्ष कारण होती हैं। इस रोग का प्रत्यक्ष कारण तो मनुष्यशरीर पर क्षय-कीटाणुओं का आक्रमण होता है; परन्तु जब बुरी आदतों और घरों की बुरी दशाओं के कारण क्षय-कीटाणु सर्वत्र पहले से विद्यमान होते हैं तो प्रत्येक सामाजिक कुप्रथा, जो ऐसे दूषित घरों में रहनेवालों के स्वास्थ्य के लिए अहितकर होती है, क्षय-रोग के उत्पन्न करने में परोक्ष कारण बन जाती है।

नव विवाहिता युवती के जीवन में विवाह के पश्चात् का प्रथम वर्ष बड़ा कठिन होता है। बाल्यावस्था के खेल-कूद को छोड़कर और अपने घर तथा माता-पिता से पृथक् होकर उसको बिलकुल अपरिचित और नये वातावरण में प्रवेश करना पड़ता है। इस स्थान के सम्बन्धियों से न उसे घर का ऐसा स्नेह मिलता है, न सहानुभूति। इन बातों का प्रभाव प्रायः नवबधू के स्वास्थ्य पर बड़ा भयंकर होता है।

मानसिक अवसाद ही बालविवाह का एकमात्र दुखद परिणाम नहीं होता। इससे कहीं अधिक भयंकर परिणाम तो यह होता है कि शरीर पर

अपक्व अवस्था में दाम्पत्य का भार पड़ता है जिसके लिए वह तैयार नहीं होता। विषय की अधिकता के दुखद परिणाम और तज्जनित मानसिक और शारीरिक दुर्बलता से, जिसका निवारण बड़ा कठिन हो जाता है, सब लोग भलीभाँति परिचित हैं। कुछ लोग केवल पर-स्त्री-गमन को ही बुरा समझते हैं। उनको यह स्मरण नहीं रहता कि नवविवाहित युवक और विशेषकर पुर्नविवाहित पुरुष के अति विषय का १३-१४ वर्ष की सुकुमार युवती के स्वास्थ्य पर कितना भयावह प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि नवबधू के स्वास्थ्य पर भार डालनेवाले उपरोक्त कारण स्वयं यथेष्ट मात्रा में भयंकर होते हैं, परन्तु भावी गर्भाधान के भार की तुलना में वे कुछ भी नहीं होते। यह स्वयं सिद्ध है कि गर्भाधानसम्बन्धी प्रक्रियाएँ अनुकूलतम परिस्थिति में होनी चाहिए।

जब तक केवल जननेन्द्रिय का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीर का पूर्णरूप से विकास होकर वह गर्भाधान के लिए तैयार न हो जाय, तब तक गर्भाधान की प्रक्रिया कदापि नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जीवन में और किसी बात का अन्तिम परिणाम शरीर के स्वास्थ्य पर इतना निर्भर नहीं होता जितना गर्भाधान का। इस सम्बन्ध में हमको न केवल गर्भाधान और प्रसवकाल का ही विचार करना है, बल्कि नवजात शिशु के जन्म लेने के बाद उसके भरण-पोषण का जो भार प्रसूता पर पड़ता है, उसका भी ध्यान रखना है। इतना होने पर भी हम देखते हैं कि रूढ़ि की ही विजय होती है और उसीके वशीभूत होकर जान-बूझकर इतना भार एक सुकुमारी पर उस समय डाला जाता है, जब कि उसको सहन करने के लिए वह कदापि तैयार नहीं होती।

प्रसव का प्रबन्ध—भारतवर्ष में जिस परिस्थिति में बच्चों का जन्म होता है उसका वर्णन प्रत्येक स्वास्थ्य विभाग की रिपोर्ट में मिल सकता है। वर्तमान दुर्दशा को दूर करने की प्रेरणा से ही "माता और शिशु कल्याण" (Maternity and child-welfare) सम्बन्धी अनेक संस्थाएँ खोली गई हैं। यद्यपि इस विषय का क्षय-रोग के प्रसार से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी जाँच करने से यह विदित होता है कि यह क्षय-रोग का एक परोक्ष कारण अवश्य है। यह देखा गया है कि स्त्रियों में क्षय-रोग प्रायः प्रसवकाल से आरम्भ होता है।

प्रसवसम्बन्धी वर्तमान दुर्दशा के मूल में प्रधानतः दो प्रकार के विचार होते हैं—(१) लोगों का यह विश्वास कि प्रसवकाल में स्त्रियाँ अस्वच्छ और अस्पृश्य होती हैं और (२) यह विश्वास कि खुली वायु प्रसूता और नवजात शिशु दोनों को हानिकारक होती है।

इस विश्वास के कारण कि प्रसवकाल में स्त्री अस्वच्छ होती है, इस देश में साधारणतः प्रसव के लिए बहुत गन्दा स्थान चुना जाता है और प्रसूता को जो वस्त्रादि दिये जाते हैं वे बहुत मैले-कुचैले होते हैं। जो दाई इस काम के लिए नियुक्त की जाती हैं, वे नीच जाति की और अस्वच्छ होती हैं और उनके कपड़े बहुत मैले-कुचैले होते हैं।

दूसरे विश्वास का क्षय-रोग से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। लोगों में यह विश्वास व्यापक रूप से फैला हुआ है कि सर्दी और हवा लग जाने से प्रसूता को ज्वर होता है। इसका परिणाम यह होता है कि सूतिका-गृह में हवा न जाने देने का विशेष प्रबन्ध किया जाता है और उस गृह में जो कुछ वायु होती है, वह भी निरंतर आग जलाकर दूषित कर दी जाती है।

प्रसूता स्त्री को इस दूषित वायुमण्डल में कम से कम दस या बारह दिन रहना पड़ता है और वह भी उस दशा में जब कि उसका स्वास्थ्य अत्यन्त दुर्बल और प्रतिरोधशक्ति न्यूनतम होती है। इसलिए वहाँ उन दोनों बातों का संयोग होजाता है जो क्षयोत्पत्ति की कारण समझी जाती हैं, अर्थात् एक तो कीटाणुओं की अधिकता और दूसरा शरीर की प्रतिरोधशक्ति की कमी। ऐसी दशा में यदि अधिकांश युवतियों में प्रसवकाल के अनन्तर क्षय-रोग का प्रारम्भ पाया जाता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

चिकित्सा-शास्त्र की यह एक साधारण बात है कि क्षय-रोग में गर्भाधान और प्रसव बड़े कठिन उपद्रव होते हैं, जिनके कारण प्रायः रोग अधिक तीव्र और विषम हो जाता है। इसके ऊपर यदि वातावरण भी दूषित हो, जैसा ऊपर बताया गया है तो कोई आश्चर्य नहीं कि क्षय-रोग और भी अधिक मात्रा में हो जाय।

कुप्रथाओं का भयङ्कर परिणाम—इन सामाजिक कुरीतियों का वही परिणाम होता है जो होना चाहिए। यदि देश में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में क्षय-रोग से मृत्यु दुगुनी मिलें, और स्त्रियों में केवल युवावस्था में सब

रोगों से जितनी मृत्यु होती हैं उनमें से ४२ प्रतिशत, जैसा कि चित्र नं० १८ से विदित होता है, केवल क्षय-रोग से हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

देश को इन सामाजिक बुराइयों का जो मूल्य देना पड़ता है उसका अनुमान निम्नलिखित अङ्क-विवरण से, जो कलकत्ता-म्युनिसिपैलिटी के हेल्थ आफ़िसर महोदय की कृपा से प्राप्त हुआ है, किया जा सकता है।

कलकत्ता शहर की स्त्रियों और पुरुषों में आयु के अनुसार क्षय-रोग की मरणनिष्पत्ति का विवरण:—

आयुकाल	क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति	
	पुरुष	स्त्रियाँ
१०—१५ वर्ष	८·९ प्रतिसहस्त्र	१·९ प्रतिसहस्त्र
१५—२० ,,	१·८ ,,	५·४ ,,
२०—३० ,,	५·० ,,	६·७ ,,
३०—४० ,,	२·४ ,,	६·७ ,,
सब आयुकाल मिलाकर	२·२ ,,	४·३ ,,

दस से बीस वर्ष तक के आयुकाल में लड़कों में क्षय-रोग से यदि एक मृत्यु होती है, तो लड़कियों में तीन। २० और ३० वर्ष के आयुकाल में पुरुषों में क्षय-रोग से जितनी मृत्यु होती हैं उनकी तिगुनी स्त्रियों में होती हैं। वास्तव में यह कितनी भयंकर दशा है, इसको विचारशील पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

क्या भारतवर्ष में क्षय-रोग बढ़ रहा है?—अधिकतर लोगों का विचार है कि पिछले कई वर्षों से भारतवर्ष में क्षय-रोग बढ़ती पर है। यह वृद्धि वास्तविक वृद्धि है या केवल जाहिरा, इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। एक ओर यह विश्वास किया जाता है कि पिछले २५-३० वर्षों में क्षय-रोग में बहुत वृद्धि हुई है और अब भी इस गति से हो रही है कि विचारशील पुरुषों के लिए इसके रोकने के उपायों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया है। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि क्षय-रोग में जो वृद्धि दिखाई पड़ती है वह आँकड़ों से प्रमाणित नहीं होती। और इस जाहिरा वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि पहले की अपेक्षा आजकल क्षय-रोग की जाँच-पड़ताल अधिक होती है, और उसके लेखा रखने की विधि में उन्नति होगई

है। इन लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में सदा से क्षय-रोग की प्रचुरता रही है, परन्तु कुछ दिनों से इस विषय में छानबीन अधिक होने लगी है और इसकी गम्भीरता पर ध्यान दिया जाने लगा है।

सावधानी से खोज करने पर यह विदित होता है दोनों ही मत अंशतः ठीक हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले की अपेक्षा आजकल क्षय-रोग की सफल परीक्षा अधिक होती है और इस विषय की ओर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। परन्तु यह भी निश्चित है कि गत कई वर्षों से क्षय-रोग में इतनी वृद्धि हुई है कि इसकी सचाई पर अब कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

खेद है, इस विषय में क्षय-रोग के आँकड़ों से कोई सहायता नहीं मिल सकती; क्योंकि भारतवर्ष में मृत्यु की रिपोर्ट करने का काम प्रायः चौकीदार इत्यादि अशिक्षित मनुष्यों पर निर्भर है। इसलिए इस विषय में क्षय-रोग के आँकड़ों को छोड़कर अन्यप्रकार की साक्षी का सहारा लेना पड़ता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में क्षय कोई नवीन रोग नहीं है। आयुर्वैदिक ग्रन्थों में इसका वर्णन बार बार पाया जाता है और इसके लक्षण तथा चिकित्सा का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। सन् १८२९ ई० में डा० कोनवेल ने लिखा था कि लोगों का यह भ्रम है कि भारतवर्ष में क्षय-रोग कम होता है। जब वह भारतवर्ष में आये थे तो पहले उनका भी यही विचार था, परन्तु कुछ समय के बाद जब उनके अनुभव क्षेत्र और परीक्षासाधनों में वृद्धि हुई तब उनको ज्ञात हुआ कि उनका विचार मिथ्या था।

यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि रोग के लेखा रखने की विधि और परीक्षासाधनों में उन्नति होने के कारण क्षय-रोग अधिक संख्या में प्रकट होने लगा है तो क्या यही समझकर सन्तोष कर लेना उचित होगा कि यह बुराई बढ़ नहीं रही है, पर जितनी पहले थी उतनी ही अब है; अन्तर केवल यह है कि पहले की अपेक्षा अब हमारी बुराई की जानकारी अधिक होने लगी है। परन्तु क्षय-रोग के आँकड़ों के अतिरिक्त अन्यप्रकार की साक्षी इतनी पर्याप्त है कि यह भलाभाँति सिद्ध होता है कि क्षय-रोग में वृद्धि हो रही है और जिन स्थानों में पहले क्षय-रोग नहीं होता था वहाँ अब होने लगा है, विशेषकर देहातों में इसका प्रसार दिन दिन बढ़ता जा रहा है।

अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी भिन्न-भिन्न स्थानों में, क्षय-रोग के प्रसार में बहुत अन्तर पाया जाता है। अब भी कुछ ऐसे विच्छिन्न स्थान हैं, जहाँ पर अभी तक क्षय-रोग नहीं पहुँचा है। कुछ स्थान ऐसे हैं, जहाँ पहले क्षय-रोग नहीं होता था, परन्तु अब लोगों के देखते देखते वहाँ भी क्षय-रोग फैल गया है।

पश्चिमोत्तर सीमान्तप्रदेश की गिलगित और चित्राल घाटियों के फ़ौजी डाक्टरों से यह ज्ञात हुआ है कि पहले वहाँ के निवासियों में क्षय-रोग नहीं होता था, परन्तु अब होने लगा है।

काश्मीर मिशन के प्रसिद्ध डॉक्टर आर्थर नीव का, जो लगातार ३८ वर्ष तक उक्त देश में रहे, कथन है कि जब वे पहले पहल वहाँ गये थे तो क्षय-रोग बहुत कम पाया जाता था। परन्तु गत कई वर्षों से काश्मीर राज्य में क्षय-रोग मृत्यु का एक मुख्य कारण बन गया है। इस कथन का समर्थन वहाँ के मिशन अस्पताल के आँकड़ों से भी होता है।

पश्चिमोत्तर सीमान्तप्रदेश की खैबर घाटी के भूतपूर्व असिस्टेंट पोलिटिकल आफ़िसर सर साहबज़ादा अब्दुलक़यूम, जिन्होंने लगभग अपना पूरा जीवन अफ़्रीदी पठानों में बिताया है, का मत है कि लगभग ५० वर्ष पूर्व पठानों में क्षय-रोग बहुत कम होता था। परन्तु आजकल सीमांतप्रदेश के गाँवों में क्षय-रोग एक चिन्ताजनक प्रश्न होगया है। उनका निश्चित मत है कि पेशावर नगर, तथा ज़िले में क्षय-रोग बढ़ रहा है। डा० आर्थर लैंकेस्टर अपने पेशावर ज़िले के १७ वर्ष के अनुभव से इस मत का समर्थन करते हैं।

रेवरेंड डा० डीस, एम० डी० ने कमायूँ के ग्रामों में अपने जीवन के ३४ वर्ष व्यतीत किये थे। उनका कथन है कि उनके समय में कमायूँ के देहात में क्षय-रोग नहीं होता था। वहाँ के बहुत से ईसाई लड़के पढ़ने के लिए बरेली भेजे जाते थे जिनमें से कितने ही को वहाँ पर क्षय-रोग हो जाता था। ये लड़के बीमार होकर अपने घर लौट आते थे। इसप्रकार बहुत से ग्रामों में जहाँ पहले क्षय-रोग नहीं होता था, अब ख़ूब होने लगा है।

अल्मोड़ा-निवासी मेरे एक मित्र का कथन है कि उनकी युवावस्था में वहाँ पर क्षय-रोग बहुत कम होता था, परन्तु जब से वहाँ का जलवायु क्षय-रोग के लिए लाभदायक प्रसिद्ध हुआ और वहाँ पर स्वास्थ्यशालाएँ

खुलीं, तब से वहाँ क्षय-रोग फैल गया है । आजकल क्षय-रोग वहाँ की एक जटिल समस्या बन गई है।

अवध के सुल्तानपुर ज़िले में बीसियों वर्ष से मिशन की ओर से लड़कियों का एक स्कूल था। गत दस वर्ष से उस स्कूल की छात्राओं में क्षय-रोग की ऐसी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई कि पिछले साल स्कूल बन्द कर देना पड़ा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रेवरेंड डाक्टर केनेडी छोटा नागपुर में आए थे। वहाँ पर क्षय-रोग की कमी देखकर उनको आश्चर्य होता था; क्योंकि वे स्वयं आयर्लैंड देश से आए थे, जहाँ क्षय-रोग अधिकता से होता था। उनके देखते देखते हज़ारीबाग़ और पड़ोस के ज़िलों में क्षय-रोग उस समय से फैल गया, जब से वहाँ का जलवायु रोग के इलाज में लाभदायक समझा जाने लगा। उत्तम जलवायु के कारण कलकत्ता तथा बङ्गाल के अन्य स्थानों से क्षयरोगी वहाँ आकर टिकने लगे, और फलस्वरूप सब देहातों में क्षय-संक्रमण फैल गया। उनके देखते देखते छोटा नागपुर के आदि निवासियों में भी क्षय-रोग फैल गया। इसका कारण यह था कि वहाँ के आदमी कलकत्ता इत्यादि नगरों में काम करने के लिए जाते और बीमार होकर लौटते थे।

उपरोक्त विवरण से प्रकट होता है कि बड़े बड़े शहरों में क्षय-रोग के आँकड़ों में विशेष बढ़ती न दिखाई पड़ने का मुख्य कारण क्या है। बड़े नगरों की जनसंख्या का काफ़ी बड़ा भाग देहात से काम करने के लिए आए हुए लोगों का होता है। बीमार होने पर ये लोग अपने घर लौट जाते हैं। कलकत्ता, लाहौर, बम्बई आदि बड़े नगरों से इस बात की पर्य्याप्त साक्षी मिलती है।

चाहे वातावरण परिवर्तन से हो अथवा शहरवालों की अपेक्षा देहातवालों में क्षय-प्रवणशीलता अधिक होने के कारण हो, यह निरन्तर देखा जाता है कि देहात से आये हुये इन लोगों में नगर-निवासियों की अपेक्षा क्षय-रोग कहीं अधिक होता है।

छोटा नागपुर की भाँति दक्षिण और मध्यभारत में भी यही देखा गया है कि वहाँ के नवयुवकों को काम करने अथवा अध्ययन के हेतु बम्बई जाने में क्षय-रोग का निश्चित भय रहता है।

क्षय-रोग की वृद्धि के सम्बन्ध में उपरोक्त ज़िलों के समान अन्य ज़िलों से भी पर्याप्त साक्षी मिलती है। परन्तु जब हम इस सम्बन्ध में शहरों पर विचार करते हैं तो निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन हो जाता है।

अधिक जानकारी तथा सफल परीक्षा-साधनों की उन्नति से क्षय-रोग की बढ़ती कितनी प्रकट हुई है, इसका ठीक ठीक निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। लोग इस रोग के विषय में अब पहले की अपेक्षा अधिक जानकारी रखते और अधिक सजग होगये हैं, इसलिए क्षय-रोग का बढ़ता हुआ प्रतीत होना स्वाभाविक है।

फिर भी इस विश्वास के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है कि बड़े बड़े नगरों में भी गत ३० वर्षों से क्षय-रोग में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। हैदराबाद (दक्षिण) और हैदराबाद (सिंध) जैसे कुछ शहरों के सम्बन्ध में डा० लैंकेस्टर को अपनी जाँच में इस बात के बहुत अच्छे प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि लगभग ४० वर्ष पूर्व इन नगरों में क्षय-रोग बहुत कम होता था और अब बहुत होता है।

क्षय-रोग को यूनानी हकीम तपेदिक़ या सिल कहते हैं। बड़े बड़े नगरों के लगभग सभी प्रतिष्ठित हकीमों का मत है कि गत ३० वर्षों में क्षय-रोग में बहुत वृद्धि हुई है।

डा० लैंकेस्टर को खोज करते समय इसीप्रकार की साक्षी भारतवर्ष के हर एक भाग से प्राप्त हुई है। उन्होंने इस विषय में सिविलसर्जनों, ज़नाने अस्पतालों की लेडी डाक्टरों तथा प्राइवेट प्रैक्टिशनरों से भी जाँच की थी। इस जाँच से यही परिणाम निकलता है कि इस देश में क्षय-रोग बढ़ रहा है। हाल में कुछ उद्योगी हेल्थ आफ़िसरों ने अपने शहरों में क्षय-रोग सम्बन्धी जाँच-पड़ताल की है। उन सबसे यही तात्पर्य निकलता है कि यह रोग बढ़ती पर है। यहाँ पर कुछ ऐसे उदाहरणों का उल्लेख करना अनुचित न होगा।

इलाहाबाद में क्षय-रोग से मृत्यु

वर्ष	पुरुष	स्त्री	कुल जोड़
१९२०	८५	१६३	२४८
१९२१	१५८	३३१	४८९
१९२२	११५	२३८	३५३

१९२३	१२३	२४६	३६९
१९२४	१२५	३०३	४२८
१९२५	१०६	२१८	३२४
१९२६	३०८	३१०	६१८
१९२७	२६२	३९२	६५४

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट विदित होता है कि क्षय-रोग की बराबर वृद्धि हो रही है। विशेषकर जब हम यह देखते हैं कि अन्य कारणों से शहर की कुल मृत्यु-संख्या में कमी हुई है, तो क्षय-रोग की बढ़ती और भी स्पष्ट हो जाती है।

दिल्ली के निम्नांकित आँकड़ों से भी यही तात्पर्य निकलता है—

वर्ष	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या
१९२०	२८२
१९२१	३५०
१९२२	३३६
१९२३	४३२
१९२४	४२८
१९२५	४००
१९२६	४२०
१९२७	४६६
१९२८	५६२
१९२९	७४१

शहर की मृत्यु-संख्या में इस दस वर्ष में कोई अन्तर नहीं हुआ है। नेशनल इंडियन लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के निम्नलिखित आँकड़ों से भी क्षय-रोग की उत्तरोत्तर वृद्धि सिद्ध होती है।

वर्ष	क्षय-रोग से मृत्यु की प्रतिशत संख्या
१९२०	२.५
१९२१	२.१७
१९२२	२.८
१९२३	९.८३
१९२४	१८.००
१९२५	१८.१९
१९२६	१५.००
१९२७	१४.८

ओरियंटल लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी के सन १९१७ तक के आँकड़ों से विदित होता है कि इस काल में प्रतिशत ६.९२ मृत्यु क्षय-रोग के कारण हुई थीं।

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या	क्षय-रोग से मृत्यु की प्रतिशत संख्या
१९१४	६३८	५४	८.४
१९१५	६५१	४३	६.६
१९१६	६२४	४२	६.७
१९१७	६३४	३७	५.८

परन्तु सन् १९२७ से १९२९ तक के निम्नलिखित आँकड़ों से विदित होता है कि इन तीन वर्षों में क्षय-रोग से मृत्यु की संख्या बढ़कर प्रतिशत ९ हो गई।

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या	क्षय-रोग से मृत्यु की प्रतिशत संख्या
१९२७	११११२	१०८	९.७१
१९२८	११७३	१०५	८.९५
१९२९	१२५३	११०	८.७७

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि सन् १९१४—१७ की अपेक्षा सन् १९२७—२९ में क्षय-रोग का प्रसार अधिक था।

बम्बई शहर के आँकड़े भी हमें इसी सिद्धान्त पर पहुँचाते हैं:—

वर्ष	कुल मृत्यु-संख्या	क्षय-रोग से मृत्यु-संख्या	क्षय-मृत्यु की प्रतिशत संख्या
१९२१	५३६०९	१६१४	३·०१
१९२२	३७२९७	१४७३	३·९५
१९२३	३७९५९	१३७१	३.६१
१९२४	३८७७४	१५६८	४·०४
१९२५	३१९६८	१४०४	४·३९
१९२६	३१९९१	१७५५	५·४८
१९२७	२७६३३	१७४८	६.३२
१९२८	२७३१२	१७६४	६·५६
१९२९	२६५५५	१५२०	५·७२

यदि अन्य स्थानों में इसप्रकार की जाँच की जाय तो यही दशा मिलेगी।

थोड़े दिन हुए भारत सरकार ने डा० आर्थर लैंकेस्टर को भारतवर्ष में क्षय-रोग की जाँच करने के लिए नियुक्त किया था। जाँच करने पर वे जिस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं वह नीचे दिया जाता है:—

"इस विषय की ध्यानपूर्वक जाँच करने से और उपलब्ध आँकड़ों की छानबीन तथा तुलना से जो धारणा उत्पन्न होती है उसका भी यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतवर्ष के बहुत से विस्तृत प्रदेश, जो ४० वर्ष पहले क्षय-रोग से बिलकुल बचे हुए थे, और 'अकृष्ट भूमि' समझे जाते थे, अब बहुधा इस रोग से ग्रसित और संक्रामित हो चुके हैं। यद्यपि यह क्षय-रोग कई पुश्तों से—सम्भवतः सदियों से—इस देश में एक आम बीमारी रही है, जो केवल बड़े बड़े शहरों में ही सीमाबद्ध रही है, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इन्हीं शहरों में पिछले ४० वर्ष में इस रोग का बड़ा भारी और वास्तविक विस्तार होगया है। यहाँ तक कि ग्रामों और ज़िलों में तथा छोटे क़स्बों में जहाँ यह विरला ही दिखाई पड़ता था, अथवा इसका अस्तित्व ही नहीं था, इन्हीं ४० वर्षों में इसके दर्शन ही नहीं हुए; बल्कि जोरों से प्रसार भी हो

चुका है। यह वृद्धि विशेषकर उन शहरों में दिखलाई पड़ी है, जिनमें व्यापारिक और शिक्षासम्बन्धी उन्नति अधिक मात्रा में हुई है। साथ ही उन ग्रामों में भी यह रोग फैल गया है, जिनका हर बात में सीधा और बेरोक-टोक सम्बन्ध उपरोक्त शहरों से रहा है।"

छठवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की उत्पत्ति

पिछले परिच्छेदों में जिन बातों की आलोचना हो चुकी है उनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि क्षय-रोग एक संक्रामक रोग है जो क्षय-कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने से होता है। जिसप्रकार बिना बीज बोये कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती उसीप्रकार क्षय-कीटाणुओं के अभाव में क्षय-रोग नहीं हो सकता। परन्तु साथ ही जिसप्रकार बीज बोने पर फसल का तैयार होना अवश्यम्भावी नहीं है उसीप्रकार यह भी अनिवार्य नहीं कि कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने पर रोग हो ही जाय। क्षय-रोग के कीटाणु-विज्ञान के गत पचास वर्ष के अनुशीलन से यह ज्ञात हुआ है कि क्षय-संक्रामित मनुष्यों में से बहुत थोड़ों में ही क्षय-रोग होता है और अधिकांश लोग बिना किसी हानि के संक्रमण को सह लेते हैं। इस बात में लगभग सभी विशेषज्ञ सहमत हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कीटाणु-विज्ञानवेत्ताओं में आज केवल इतना ही मतभेद है कि कुछ लोग सभ्य जनसंख्या का ९५ प्रतिशत और अन्य लोग केवल ७० प्रतिशत क्षय-संक्रामित मानते हैं। जिसप्रकार फुफ्फुसप्रदाह के कीटाणुओं के नाक और कंठ में रहते हुए भी सदा फुफ्फुसप्रदाह रोग नहीं होता, उसीप्रकार क्षय-कीटाणुओं के शरीर में रहने पर भी सदैव क्षय-रोग नहीं होता।

शरीर-रचना और वातावरणसम्बन्धी कारण—(Constitutional and Environmental causes) क्षय-रोग के कीटाणु-विज्ञान (Bacteriology) से संक्रमण सम्बन्धी प्रश्न तो बहुत कुछ हल होगये हैं, परन्तु रोगसम्बन्धी सब प्रश्न अभी तक हल नहीं हुए हैं। डा० थ्योबोल्ड स्मिथ का यह कथन सर्वथा सत्य है कि किसी रोग के कीटाणुओं का पता लगा लेना उस रोग की समस्या के हल करने में पहली सीढ़ी—उस

रोगसम्बन्धी अनेक प्रश्नों में से केवल एक का उत्तर—है। इसलिए कुछ वर्षों से क्षयोत्पत्तिसम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए विचारशील लोगों का ध्यान कीटाणु-विज्ञान को छोड़कर रोगोत्पत्तिसम्बन्धी अन्य आभ्यन्तरिक और बाह्य बातों की ओर आकृष्ट हुआ है। वंशपरम्परा और वातावरण, रोगग्रहणशीलता, प्रवणशीलता तथा रोगक्षमतासम्बन्धी प्रश्नों का नए ढंग से गवेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस रहस्य पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है कि क्या कारण है कि जिन लोगों में क्षय-संक्रमण होता है, उनमें से कुछ को तो रोग हो जाता है और अधिकांश निरोग बने रहते हैं, क्षयी-परिवारों तथा क्षयी माता-पिता की सन्तान में से किसी को रोग हो जाता है और किसी को नहीं; और जिनको रोग हो जाता है, उनमें से किसी को उग्रव्यापी, किसी को उग्र फुप्फुसप्रदाहरूपी, किसी को फुप्फुस का पुरातन प्रदाहरूपी और किसी को निष्फल (Abortive) क्षय होता है। क्या कारण है कि रोग किसी के फेफड़ों में होता है, तो किसी के उदर में; किसी की हड्डी या संधि में होता है तो किसी की लसिका-ग्रन्थियों तथा अन्य स्थानों में। यह समझने की चेष्टा की जा रही है कि क्या कारण है जो संक्रामित मनुष्यों में से केवल कुछ में रोग के लक्षण प्रकट होते हैं और अधिकांश में, जिनके शरीर में क्षय-कीटाणु निस्सन्देह प्रविष्ट हो जाते हैं और उनसे शरीर में विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते और विकार स्वतः अच्छे हो जाते हैं।

कीटाणुवाद के पक्षपाती क्षयोत्पत्तिसम्बन्धी उपरोक्त प्रश्नों के अनेक उत्तर देते हैं, परन्तु उनमें से कोई भी सन्तोषप्रद नहीं है। किसी किसी का मत है कि रोग के विभिन्न रूप-भेदों का कारण कीटाणुओं का जाति-भेद और उनके विषैलेपन का अन्तर होता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि युवावस्था के लगभग सभी प्रकार के क्षय मानव क्षय-कीटाणुओं से होते हैं। यह भी लोग मानने लगे हैं कि विभिन्न प्रकार के क्षय-रोग के कीटाणुओं को अलग अलग करके उनके विषैलेपन के अन्तर के सम्बन्ध में जो जाँच हुई है उनसे इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। गिनीपिग, बन्दर और असभ्य जातियों के लोगों में संक्रमण के सम्पर्क में आने से जो रोग उत्पन्न होता है, वह सदा उग्ररूप का होता है। इसके विपरीत सभ्य जातियों के मनुष्यों में स्वतः संक्रमण होकर जो रोग होता है, वह बहुधा पुरातनरूप का होता है।

चूँकि कीटाणु-विज्ञान क्षय-रोग के उत्पत्ति-सम्बन्धी सब प्रश्नों के हल करने में असमर्थ है, इसलिए अब कुछ दिनों से कीटाणुओं को छोड़कर रोगोत्पत्तिसम्बन्धी अन्य कारणों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। ऐसे अनेक कारण ज्ञात हुए हैं जिनका क्षय-रोग के विकास (Evolution of Disease) पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन सब कारणों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आन्तरिक या रचनात्मक कारण, अर्थात् वे कारण जिनका शरीर की रचना से सम्बन्ध होता है; (२) वाह्य या वातावरणिक कारण—अर्थात् वे कारण जो बाहर से शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं।

आन्तरिक या रचनासम्बन्धी कारण (Constitutional causes) दो प्रकार के होते हैं—(१) पैतृक (Hereditary) जिनको मनुष्य अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है; (२) उपार्जित, जिनमें से कुछ तो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं और कुछ जन्म के बाद उपार्जित होते हैं।

क्षय-रोग के कारणों का एक बोधक वृक्ष नीचे दिया जाता है:—

क्षय-रोग के कारणों का बोधक वृक्ष
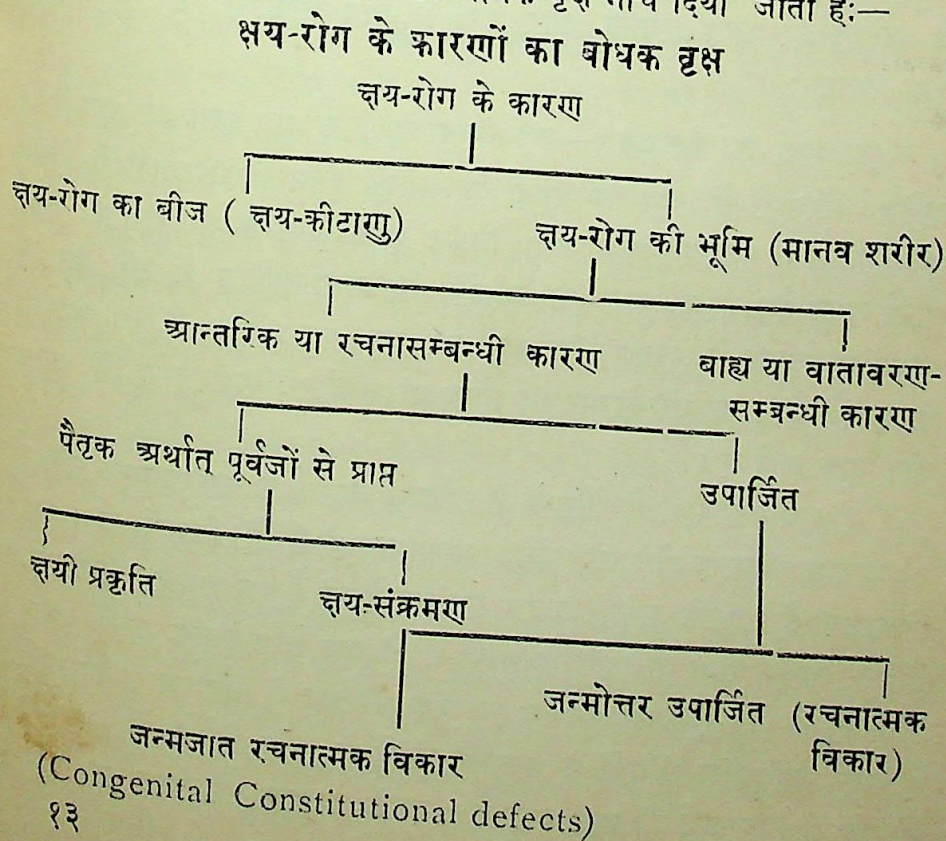
क्षयोत्पत्ति के रचनात्मक कारण

क्षयोत्पादन में पैतृकता का प्रभाव—क्षय-रोग के पैतृक मानने में दो बातें सम्भव हो सकती हैं। एक यह कि क्षय-रोग या संक्रमण पैतृक होता है, अर्थात् गर्भाधान के समय क्षय-कीटाणु माता-पिता से गर्भ में पहुँच जाते हैं और उस संक्रामित गर्भ से जो सन्तान उत्पन्न होती है उसमें उनसे क्षय-रोग हो जाता है। दूसरा यह कि एक विशेष प्रकार की क्षयी प्रकृति (Tuberculous diathesis) होती है जिसके कारण मनुष्य आसानी से क्षय-रोग का शिकार बन जाता है और वह प्रकृति माता-पिता से सन्तान को प्राप्त होती है। इस क्षयी प्रकृति के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) क्षय-ग्रहणशीलता अर्थात् रोग की ओर झुकाव अथवा (२) प्रतिरोधशक्ति की कमी।

इस विषय में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए तीन प्रकार की साक्षी विचारणीय है—(१) पैतृकता के प्रभाव-सम्बन्धी आँकड़े, (२) जीवशास्त्र के मतानुसार प्राप्त प्रमाण और (३) काय-चिकित्सा के अनुभव से प्राप्त प्रमाण।

आँकड़ों का अध्ययन—कई शताब्दियों से यह देखा जा रहा है कि अनेक परिवारों में क्षय-रोग पीढ़ी दर पीढ़ी होता चला जाता है, और क्षय-रोगियों के अनेक पूर्वजों तथा निकट सम्बन्धियों में भी रोग का होना पाया जाता है। इस बात के आँकड़े चिकित्सा-साहित्य में भरे पड़े हैं, परन्तु सावधानी से उनकी जाँच करने पर यह प्रकट होता है कि क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति का वंशपरम्परागत होना या न होना सिद्ध करने में उनका कोई मूल्य नहीं है।

क्षयी-परिवारों में रोगियों के सन्निकट सम्पर्क के कारण अन्य परिवारों की अपेक्षा संक्रमण होने की अधिक सम्भावना होती है जिससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त जब हम यह देखते हैं कि क्षय-रोग विश्वव्यापी है और प्रत्येक सात या आठ मृत्युओं में से कम से कम एक इसके कारण होती है, तो क्षय-रोग का लगभग हर एक परिवार में पाया जाना स्वाभाविक है, और अधिकांश रोगियों के सम्बन्धियों में से यदि कोई न कोई क्षय-रोगी हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अलावा एक बात यह और है

कि क्षय-रोग में पैतृकता के प्रभाव-सम्बन्धी उपलब्ध आँकड़े केवल रोगियों के कथनों से संकलित किये गये हैं, इसलिए उनको बिलकुल निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जब रोगी अपना हाल ठीक ठीक नहीं बता सकते, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि वे अपने पूर्वजों का हाल ठीक ठीक बता सकेंगे।

क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति (Tuberculous diathesis) के पैतृक होने में आँकड़ों का प्रमाण तभी संतोषजनक माना जा सकता है, जब कि बहुत से रोगियों का ध्यानपूर्वक लगातार कई पीढ़ियों तक इस बात का लेखा रक्खा जाय कि क्षयी माता-पिताओं के कितने बच्चे क्षय-रोग से मरते हैं, और वह भी उस दशा में, जब कि जन्म लेते ही उनको अपने क्षयी माता-पिताओं से पृथक् कर दिया जाय, ताकि उनके घनिष्ट सम्पर्क से संक्रमण होने की अन्य परिवारों की अपेक्षा अधिक सम्भावना न रहे। इसप्रकार के आँकड़े अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। इसके प्रतिकूल बहुत से अनाथालयों में इस बात के आँकड़े मिलते हैं कि क्षयी माता-पिताओं के बच्चों को अपेक्षाकृत अधिक क्षय नहीं होता। परन्तु क्षय-रोग को पैतृक न मानने के लिये ये आँकड़े प्रमाण नहीं माने जा सकते; क्योंकि इन संस्थाओं में चौदह वर्ष से कम आयुवाले बच्चे रक्खे जाते हैं और इस आयु में क्षय-रोग बहुत कम होता है।

अनेक लोगों ने इस बात के आँकड़े प्रकाशित किये हैं कि २५ से ५९ प्रतिशत तक क्षय-रोगियों के सम्बन्धियों में क्षय-रोग का होना पाया जाता है। परन्तु उपरोक्त कारणों से उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यह संख्या बहुत कुछ अन्वेषकों के अपने सिद्धांत के पुष्ट करने की प्रबल इच्छा पर भी निर्भर होती है। इनके प्रतिकूल डा० बर्कहार्ट ने अपनी खोजद्वारा यह पता लगाया है कि क्षयरहित मनुष्यों के पूर्वजों में भी उतना ही क्षय मिलता है जितना कि क्षयी मनुष्यों के पूर्वजों में।

अबतक आँकड़ों के सम्बन्ध में जितने आक्षेप प्रकाशित हुए हैं, हाल में उन सबको दूर करने की डाक्टर रेमण्ड पर्ल ने कोशिश की है। उन्होंने सोचा कि यदि क्षयोत्पादन में पैतृकता का कोई प्रभाव होता है, तो क्षयरहित मनुष्यों के सम्बन्धियों की अपेक्षा क्षयी मनुष्यों के सम्बन्धियों में क्षयपीड़ितों की संख्या अधिक मिलनी चाहिए। इसप्रकार उन्होंने

५७ परिवारों की, जिनकी जनसंख्या लगभग पाँच हज़ार के थी, जाँच की। उनमें से ३८ परिवार क्षयी और १९ क्षयरहित थे। इस खोज से यह विदित हुआ कि क्षयी मनुष्यों के सम्बन्धियों में प्रतिशत ७ और क्षयरहित मनुष्यों के सम्बन्धियों में केवल १·२ प्रतिशत क्षयी थे। अर्थात् क्षयरहित परिवारों की अपेक्षा क्षयी परिवारों में क्षयपीड़ितों की संख्या छः गुनी थी। परन्तु उनको अपनी इस चेष्टा में सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि बाद को अधिक सावधानी से जाँच करने पर उनको स्वयं यह मानना पड़ा कि क्षयी परिवारों में क्षय-रोगियों के घनिष्ठ सम्पर्क का प्रभाव रोग की अधिकता पर अवश्य था।

अतएव यह स्पष्ट है कि आँकड़ों से क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति का पैतृक होना या न होना प्रमाणित नहीं होता। इसके अतिरिक्त आपत्तिजनक एक बात यह और है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि क्षय रोगियों की सन्तान में से प्रतिशत ५० को प्रतिरोधशक्ति की पैतृक न्यूनता के कारण क्षय-रोग हो जाता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि संसार की जनसंख्या की वृद्धि पर विचार करते हुए क्षय-रोग की मृत्युसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु वास्तव में बात बिलकुल उल्टी है। दूसरी ओर इस शङ्का के समाधान में क्षय-रोग के पैतृक होने के पक्ष के सबसे बड़े आग्रहकर्ता कार्ल पियर्सन का यह कहना है कि जिसप्रकार हम यह नहीं कह सकते कि ऐनक लगाना पैतृक होता है, उसीप्रकार हम यह भी नहीं मानते कि क्षय-रोग पैतृक है। हम केवल इतना ही मानते हैं कि कुछ शरीरों की रचना में अधिक और कुछ में कम प्रतिरोधशक्ति होती है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि कुछ शरीरों की रचना में क्षय-प्रवणशीलता (predisposition) अधिक और कुछ में कम होती है।

बात एक ही है, चाहे हम क्षयी प्रकृति को प्रतिरोधशक्ति मानें अथवा प्रवणशीलता मानें, क्योंकि दोनों ही रोगक्षमता के अङ्ग हैं। जिस समुदाय में क्षय-रोग बहुत दिनों से होता चला आता है, उसमें प्राकृतिक छाँट (Natural selection) द्वारा कम शक्तिवाले छँटकर रोगक्षमता (Immunity) की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, क्योंकि अधिक शक्तिवाले शेष रह जाते हैं। इसलिए शक्ति की अधिकता का ही परम्पराद्वारा अवतरण होता जाता है। इसके विपरीत जिस समुदाय में क्षय-रोग पहले से प्रविष्ट नहीं हुआ है उसमें प्राकृतिक छाँट न होने से रोगक्षमता में वृद्धि नहीं

होती। क्षय-रोग के प्रसारविज्ञान (Epedemiology) के अनुशीलन से भी कार्ल पियर्सन के उपरोक्त मत का समर्थन होता है।

जीवशास्त्र की दृष्टि से क्षयी परम्परा— क्षय-रोग का उत्तरोत्तर कई पीढ़ियों तक लगातार होना इस बात का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं हो सकता कि क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति पैतृक होती है। कोयले की खान में काम करनेवालों के फेफड़ों में कोयले के परमाणु जमा होने से एक प्रकार का रोग जिसको फुफ्फुसांगार (Anthracosis) कहते हैं, हो जाता है, और उनकी सन्तान में भी कई पीढ़ी तक—जबतक वे उसी व्यवसाय को करते रहते हैं—यह रोग होता चला जाता है। केवल कई पीढ़ी तक लगातार होने के कारण इस विकार को कोई पैतृक नहीं कह सकता। इसीप्रकार जिन क्षयकारक सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार के वातावरणों में रहने से माता-पिता को क्षय-रोग हो जाता है, उन्हीं वातावरणों में रहने से उनकी सन्तान को भी क्षय हो सकता है, और बहुधा ऐसा ही होता है। इसको सामाजिक परम्परा कह सकते हैं, परन्तु यह जीवशास्त्र के अनुसार सच्ची पैतृकता नहीं कही जा सकती। जीवशास्त्र के मतानुसार सच्ची पैतृकता में तो जनन-तत्व (Germ-Plasm) अर्थात् माता-पिता के जनन-सेलों (Cells) के अन्तर्गत गुणों का अथवा उनके भौतिक आधारों का गर्भाधान के समय गर्भ में अवतरण होना चाहिये। गर्भ रहने के पश्चात यदि उसमें कोई विकार होजाय तो वह पैतृक नहीं कहला सकता, क्योंकि गार्भिक-संक्रमण या विकार का पैतृकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

गर्भ में क्षय-संक्रमण—उपरोक्त दृष्टि से क्षयी पैतृकता पर विचार करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि गर्भ में क्षय-संक्रमण हो सकता है या नहीं, और यदि हो सकता है तो कैसे और कब होता है और उसका पैतृकता से क्या सम्बन्ध होता है?

गर्भ का केवल चार प्रकार से संक्रामित होना सम्भव है:—

(१) गर्भ रहने से पूर्व माता से डिम्ब (Ovum) में संक्रमण हो सकता है।

(२) गर्भ रहने के समय जब डिम्ब से शुक्राणु (Spermatozoa)

का समागम होता है तो शुक्राणु के साथ साथ कीटाणु भी डिम्ब में प्रवेश कर सकते हैं।

(३) गर्भाधान के बाद जरायु (placenta) से डिम्ब में क्षय-कीटाणु पहुँच सकते हैं।

(४) माता के रक्त के अन्तर्गत क्षय-कीटाणुओं से गर्भ में संक्रमण हो सकता है।

इनमें से पहले दो प्रकार का संक्रमण यदि हो सकता हो, तो पैतृक कहा जा सकता है, परन्तु तीसरे और चौथे प्रकार का संक्रमण वास्तव में पैतृक नहीं कहा जा सकता।

गर्भ में संक्रमण होने की सम्भावना—डा० फ्रीडमैन के प्रयोगात्मक अन्वेषणों से यह विदित होता है कि गर्भावस्था में संक्रमण होना असम्भव नहीं है। इस खोज से बामगार्टन के इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि क्षय-कीटाणु गर्भ में पहुँचकर वर्षों तक सुप्तावस्था में रह सकते हैं और भविष्य में जब कभी शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है तो जाग्रत होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। क्षय-रोग का इसप्रकार उत्पन्न होना वास्तविक पैतृकता नहीं है, यह माता से गर्भ का संक्रामित होना है।

बामगार्टन का यह सिद्धान्त क्षयी पक्षियों पर किये हुए प्रयोगों पर आश्रित था। यह भलीभाँति ज्ञात होगया है कि क्षयी मुर्गियों की सन्तान को उस दशा में भी क्षय हो जाता है जब कि अंडा देने के बाद तुरन्त उनको हटाकर सम्पर्कद्वारा संक्रमण होने की सम्भावना दूर कर दी जाती है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि यदि अंडे की सफ़ेदी को बेधकर उसमें कीटाणु प्रविष्ट कर दिये जायँ, तब भी अंडे का विकास होता रहता है; परन्तु सेने के बाद बच्चे को क्षय होजाता है। डिम्बान्तरिक संक्रमण (Intra ovular) पशुओं में भी देखा गया है। इससे विदित होता है कि गर्भ रहने के बाद डिम्ब के संक्रामित होने से गर्भ नष्ट नहीं होता। गर्भ बढ़ता रहता है और उससे जीवित सन्तान उत्पन्न होती है, परन्तु जन्म लेने के बाद तुरन्त उसको क्षय हो जाता है। मनुष्यों में भी ऐसे कुछ उदाहरण मिले हैं, जहाँ नवजात शिशुओं के फेफड़ों में कहीं कहीं कंकड़ीले क्षेत्र (Calcified-areas) पाये गये हैं, जिनसे यह विदित होता है कि शिशुओं को गर्भावस्था में कभी कभी क्षय होकर अच्छा हो जाता है।

शुक्रजनित संक्रमण—अभी तक इस बात का पता नहीं चला है कि उपरोक्त उदाहरणों में क्षय-कीटाणु गर्भ तक किस प्रकार पहुँचे। कुछ लोगों का कहना है कि यह सम्भव है कि वीर्य संक्रामित हो, और शुक्राणुओं के साथ साथ कीटाणु भी गर्भ तक पहुँच गये हों। स्पेनो, पोर्टर और फ्रीडमैन को, ऐसे रोगियों के वीर्य्य में जिनको या तो उग्रव्यापी (Acute miliary) क्षय था या जिनकी जननेन्द्रियों में क्षय था; खोज करने पर कीटाणु मिले हैं। यह स्मरण रखने योग्य है कि जननेन्द्रियों के क्षयवाले पुरुष कभी कभी स्त्री प्रसंग करते हैं और उनसे गर्भ भी रह जाता है। एलब्रेश्ट, कैवेनिश तथा अन्य लोगों ने क्षयी साँड़ों से खरगोशिनियों और गिनीपिगनियों में संक्रमण उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। फ्रीडमैन ने खरगोशिनियों की योनि में गर्भाधान के बाद तुरन्त क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाकर सात दिन के बाद देखा तो गर्भ में क्षय-कीटाणु मिले थे, यद्यपि खरगोशिनियाँ स्वयं क्षयरहित बनी रही थीं। ऐसी खरगोशिनियों के नवजात शिशुओं के अनेक अवयवों में क्षय-कीटाणु मिले थे। इन खोजों से यह परिणाम निकाला जाने लगा कि क्षयी पिता के वीर्य से गर्भ में संक्रमण हो सकता है।

परन्तु यह बात इतनी सरल नहीं है। वीर्य में क्षय-कीटाणु तभी मिलते हैं जब कि जननेन्द्रियों में रोग हो। युक्तिपूर्वक विचार करने से इस बात में संदेह होता है कि उपरोक्त कथन इस बात का कहाँ तक पर्याप्त प्रमाण माना जा सकता है कि शुक्रकण या डिम्ब क्षय-कीटाणुओं से संक्रामित हो सकते हैं। मनुष्यों के डिम्ब या शुक्रकणों के आकार की सूक्ष्मता पर विचार करते हुए यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि उनमें क्षय-कीटाणु प्रवेश कर सकें। अभी तक किसी को शुक्रकण या डिम्ब में अणुवीक्षण यंत्र से परीक्षा करने पर कीटाणु नहीं मिले हैं। वीर्य में कभी कभी क्षय-कीटाणुओं का पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि उनसे गर्भ में संक्रमण हो सकता है। यह देखने में आता है कि ऐसे क्षयी मनुष्यों की सन्तान, जिनको जननेन्द्रियों का रोग होता है, प्रायः उतनी ही हृष्टपुष्ट होती है, जितनी कि स्वस्थ मनुष्यों की। अभी तक कोई उदाहरण ऐसा देखने में नहीं आया है कि जननेन्द्रियों के क्षय से पीड़ित पिता की सन्तान क्षयी उत्पन्न हुई

हो, यद्यपि यह तो देखने में आता है कि ऐसे मनुष्यों के साथ सहवास करने से स्त्रियों की जननेन्द्रियों का क्षय होगया है। यदि यह मान लिया जाय कि क्षय-कीटाणु शुक्रकणों के सहारे पहुँचकर डिम्ब को संक्रामित कर सकते हैं, तब भी ऐसा बहुत कम होता होगा। स्मरण रखना चाहिए कि एक बार वीर्यपात होने में लगभग दो करोड़ शुक्रकण स्खलित होते हैं जिनमें से केवल एक ही गर्भाधान करता है। इस बात की कितनी कम सम्भावना है कि दो करोड़ में से वही शुक्राणु, जिसमें क्षय-कीटाणु हों, गर्भाधान करे। इसलिए क्षय-रोग की पैतृकता-सम्बन्धी विवेचना में शुक्रजनित संक्रमण का विचार करना निरर्थक प्रतीत होता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि गर्भ रहने से पूर्व माता या पिता से डिम्ब के संक्रामित होने की इतनी कम सम्भावना है जो कि नहीं के बराबर है। दूसरे शब्दों में इसका यही अर्थ होता है कि क्षय-रोग या संक्रमण के पैतृक मानने के पक्ष में अभी तक कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं ज्ञात हुए हैं।

गर्भाधान के पश्चात् संक्रमण--गर्भावस्था में बहुत से रोग बच्चों को हो जाते हैं। चेचक, उपदंश और कोढ़ इसके उत्तम उदाहरण हैं। यह भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि जरायु में क्षय-कीटाणु रह सकते हैं। अनेक अन्वेषकों को खोज करने पर क्षयी स्त्रियों की जरायु में क्षय-कीटाणु मिले हैं। डा० शमोर्ल और गीप को २० क्षयी और गर्भवती स्त्रियों में से ९ की जरायु में क्षय-कीटाणु मिले थे। डा० शमोर्ल का अनुमान है कि लगभग आधी क्षयी स्त्रियों की जरायु में क्षय-कीटाणु रहते हैं। उनका कहना है कि गर्भकाल में किसी समय और रोग की हर अवस्था में कीटाणु जरायु में पहुँच सकते हैं, परन्तु सम्वृद्ध और उग्रव्यापक रोग में ऐसा अधिक होता है। जन्म के समय भी जरायुद्वारा माता से बच्चे को संक्रमण हो सकता है, जब कि गर्भाशय के कठोर आकुंचनों से जरायु किसी निर्बल स्थान पर आहत हो जाती है। क्षय-कीटाणुओं का सीधा गर्भ में पहुँच जाना सम्भव तो है, क्योंकि माता के रक्त से नाभिक शिरा (Umbilical vein) में होते हुए कीटाणु गर्भ में पहुँच सकते हैं, परन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम होती है। गर्भावस्था में संक्रमण होने से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह बहुधा मरी हुई होती है, और यदि जीवित भी उत्पन्न हो, तो कुछ सप्ताह से अधिक जीवित नहीं रहती।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट प्रकट होता है कि गर्भ का संक्रामित होना सम्भव तो अवश्य है, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। डा० लवन्स्टीन के मतानुसार जरायु के क्षय के केवल तीस उदाहरण चिकित्सा-साहित्य में पाये जाते हैं।

सहज क्षय (Congenital Tuberculosis) **अर्थात् जन्म के साथ क्षय का होना**—गर्भाशय के अन्दर क्षय-संक्रमण की विरलता तो जन्मजात क्षय की कमी से भी विदित होती है। पशुओं में तो सहज क्षय कुछ होता भी है, परन्तु मनुष्यों में तो बहुत ही कम होता है। सहज क्षय के सम्बन्ध में अबतक जितनी रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं, वे सभी वास्तविक सहज क्षय के उदाहरण नहीं है। सबसे पहले निश्चयात्मक सहज क्षय की रिपोर्ट डा० शमोर्ल और बर्च हर्शफेल्ड ने की थी। गर्भ के सप्तम मास में उग्रव्यापक क्षय से माता की मृत्यु होगई थी। जरायु देखने में तो स्वस्थ प्रतीत होती थी, परन्तु अनुवीक्षण-यंत्र से परीक्षा करने पर उसमें क्षयी-विकार मिले थे और नाभिक शिरा के रक्त में क्षय-कीटाणु भी पाये गये थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व माता से गर्भ में संक्रमण होगया था। इसी भाँति अन्य अन्वेषकों ने भी सहज क्षय के कई एक उदाहरण प्रकाशित किये हैं। डा० मर्था बुलस्टीन ने एक ऐसे ही रोगी का उल्लेख किया है। बच्चे के जन्म के छः दिन पश्चात् माँ की मृत्यु होगई थी और उन्नीस दिन बाद बच्चा भी मर गया था। परीक्षा करने पर जरायु में सम्वृद्ध क्षय के चिह्न और नवजात शिशु में उग्रव्यापी क्षय के चिह्न मिले थे।

इस प्रसंग में एक बात स्मरण रखने योग्य यह है कि जरायु में क्षय होने पर बच्चे में क्षय-रोग का होना अनिवार्य नहीं है। इस बात की अनेक रिपोर्टें मौजूद हैं कि जरायु में क्षय होने पर भी बच्चे स्वस्थ उत्पन्न होते हैं और भलीभाँति बढ़ते रहते हैं। सहज क्षय के जितने उदाहरणों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें से विवेचक बहुत थोड़ों को वास्तविक सहज क्षय का उदाहरण मानते हैं और शेष में से अधिकांश में इस बात की साक्षी पाई जाती है कि उनमें वस्तुतः गर्भावस्था में संक्रमण नहीं हुआ था। मेहू और चेलियर का विश्वास है कि इन सहज क्षय के उदाहरणों में गर्भावस्था के अन्त में, जब गर्भ में जरायुद्वारा माता के रक्त का संचालन होने लगता है, संक्रमण होता है। रोग की चरमावस्था में जब क्षय-कीटाणु माता के रक्त में

फैल जाते हैं तो उनमें से कुछ गर्भ में भी पहुँच जाते हैं, इसलिए ये पैतृकता के उदाहरण नहीं माने जा सकते।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि सिद्धांतरूप में जरायु-मार्गद्वारा क्षय-रोग का अवतरण होना सम्भव है, परन्तु उपलब्ध साक्षी से यह प्रकट है कि मनुष्यों में ऐसा बहुत कम होता है। जन्म के बाद होनेवाले असंख्य संक्रमणों का विचार करते हुए सहज क्षय के इने-गिने उदाहरण समुद्र में एक बूँद के समान प्रतीत होते हैं। जब कभी सहज क्षय होता भी है तो ऐसी माताओं से होता है जिनका रोग या तो चरमावस्था में या जननेन्द्रियों में होता है। ऐसी स्त्रियों के सन्तान बहुत कम होती है। इस सम्बन्ध में यह बतलाना उचित प्रतीत होता है कि क्षयी माताओं के ऐसे अनेक बच्चों की परीक्षा की गई है जो मरे हुए उत्पन्न हुए हैं, परन्तु उनमें से किसी में भी क्षय-संक्रमण के चिह्न नहीं पाये गये।

मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं में सहज क्षय कुछ अधिक होता है, उनमें भी जैसा कि अमेरिका के डा० हार्लोब्रुक्स ने सिद्ध किया है, बहुत कम बच्चों में क्षय होता है, यदि जन्म लेते ही उनको अपनी क्षयी माताओं से पृथक कर दिया जाय।

क्षयी पैतृकता के सम्बन्ध में रोगियों से प्राप्त (Clinical) अनुभव—अनेक लोगों ने कई एक चिकित्सानुभव से उपलब्ध ऐसी घटनाएँ देखी हैं, जो क्षय-रोग या क्षयी प्रकृति को पैतृक न मानने पर समझ में नहीं आतीं। ब्रीमर और उनके अनेक अनुगामियों ने इस बात का पता लगाया है कि बहुत से परिवारों में माता-पिता और उनकी सन्तान में एक ही आयु में क्षय-रोग होता है। पायरी ने पता लगाया है कि कई परिवारों में बच्चे सोलह वर्ष की आयु प्राप्त करने से पूर्व क्षय-रोग से मर जाते हैं। उपरोक्त अनुभवों के समर्थन में कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु फिर भी यह प्रतीत होता है कि अभी तक उनकी उतनी पर्याप्त संख्या का संकलन नहीं हुआ है, जिससे उनका महत्व निरसन्देह सिद्ध हो सके। क्षय-रोग का पारिवारिक होना, जैसे पैतृकता के प्रभाव से हो सकता है, वैसे ही रोगियों के सन्निकट सम्पर्क (Close contact) के कारण संक्रमण की अधिक सम्भावना से भी हो सकता है।

ब्रीमर का विचार है कि शरीर के कुछ स्थानों में प्रतिरोधशक्ति कम होती है और ये न्यून शक्तिवाले स्थान पैतृक होते हैं। टर्बन, बाल्डविन, मोलर और कुथी इत्यादि विशेषज्ञों ने इस मत का समर्थन किया है। यह प्रायः देखा गया है कि जब माता-पिता और उनकी संतान में फेफड़ों का क्षय होता है तो बहुधा दोनों में एक ही ओर का होता है। क्षय-रोग की यह पारिवारिक अनुरूपता लगभग ७५ प्रतिशत रोगियों में पाई जाती है। मोलर का कहना है कि जब एक बच्चे में अस्थि-क्षय होता है तो उसके भाई-बहनों में जब रोग होता है तो अस्थि-क्षय ही होता है। उपरोक्त बातों से यह परिणाम निकलता है कि शरीर के कुछ अवयवों में प्रतिरोधशक्ति कम होती है, जो पैतृक होती है। मेरी सम्मति में अभी तक इस प्रश्न पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है।

सारांश—उपरोक्त इने-गिने उदाहरणों से सिद्धांतरूप में तो क्षय-रोग के पैतृक होने की सम्भावना मानी जा सकती है, परन्तु यह स्पष्ट है कि व्यवहार रूप में क्षय-रोग या संक्रमण पैतृक नहीं कहा जा सकता। क्षय-रोग या संक्रमण की अपेक्षा क्षयीप्रकृति के पैतृक होने के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक साक्षी मिलती है। परन्तु जैसा कि आगे चलकर विदित होगा क्षयोत्पादन में उपार्जित कारणों की अपेक्षा तथाकथित पैतृक क्षयी प्रकृति का प्रभाव बहुत कम होता है, यहाँ तक कि कुछ विशेषज्ञ क्षयी प्रकृति को स्वीकार ही नहीं करते।

उपार्जित रचनात्मक कारण—जैसा पहले कहा जा चुका है क्षय-रोग के उपार्जित रचना सम्बन्धी कारण दो प्रकार के होते हैं:—

(१) सहज, अर्थात् वह कारण जो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं।

(२) जन्म के बाद उपार्जित, अर्थात् वह कारण जो जन्म के बाद उत्पन्न होते हैं।

सहज रचनात्मक कारण

प्रथम सन्तान में स्वाभाविक कमी—सहज रचनात्मक कारणों में से एक यह भी है कि किसी परिवार में ज्येष्ठ सन्तान को क्षय सबसे अधिक होता है और उसके बाद जन्म लेनेवाली सन्तान में यह रोग क्रमशः

उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यह सभी जानते हैं कि अधिकांश देशों में, विशेषकर राजघरानों में, ज्येष्ठ सन्तान के कुछ विशेष अधिकार होते हैं, परन्तु जन्म-विज्ञानवेत्ताओं के सम्पादित आँकड़ों से यह विदित होता है कि अनुज सन्तान की अपेक्षा ज्येष्ठ सन्तान में प्राणशक्ति निर्बल होती है। पहली सन्तान तौल में कम होती है और बहुधा मरी हुई उत्पन्न होती है। नव विवाहिता स्त्रियों में गर्भपात अधिक होता है, और जो जीवित सन्तान उत्पन्न होती है, उसमें से अधिकांश की प्रथम वर्ष में ही मृत्यु हो जाती है। कार्ल पियर्सन तथा अन्य लोगों ने अपने सम्पादित आँकड़ों से यह सिद्ध कर दिया है कि शारीरिक दुर्बलता, मानसिक दुर्बलता, अपस्मार (मृगी) और विशेषकर क्षय-रोग प्रथम सन्तान में अनुज सन्तानों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

पियर्सन ने यह दिखलाया है कि क्षय-रोग की उत्पत्ति में जन्म-क्रम का कोई प्रभाव न होने की दशा में, जहाँ प्रथम सन्तान में क्षय-रोगियों की औसत संख्या हिसाब से ६३ होनी चाहिये थी, वहाँ प्रत्यक्ष में वह ११३ मिलती है और द्वितीयजन्मा में हिसाब से जहाँ ६४ होनी चाहिये वहाँ ६९ मिलती है। कोपनहेगन शहर में हेन्सन ने ३५२२ रोगियों की खोज से यह पता लगाया है कि हिसाब से प्रथम सन्तान में क्षय-पीड़ितों की जितनी संख्या चाहिये थी, प्रत्यक्ष में उससे ३८६ अधिक थी।

संवर्तन क्रिया के दोष—(Errors of metabolism) कुछ लोगों का कहना है कि जिन मनुष्यों के शरीर की भौतिक तथा रासायनिक क्रियाओं का क्रम ठीक रहता है, उनमें क्षय-रोग कम होता है, परन्तु जिन लोगों की संवर्तन क्रिया अर्थात् भौतिक तथा रासायनिक आय-व्यय में कोई दोष होता है उनको क्षय-रोग अधिक होता है। इस विषय में अभी तक बहुत कम खोज हुई है, इसलिये निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि संवर्तन क्रिया के किन-किन दोषों का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव से सम्बन्ध होता है। कुछ लोगों का कहना है कि क्षय-रोगियों के मूत्र में रोग होने से पूर्व खटिक (Calcium) अधिक पाया जाता है या दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि इन लोगों के शरीर में खटिक की मात्रा व्यर्थ व्यय होने से कम हो जाती है। कुछ लोगों ने क्षय-रोगियों के रक्त में भी खटिक की मात्रा का अनुमान लगाया है। उनके मतानुसार स्वस्थ मनुष्यों की अपेक्षा क्षय-रोगियों के रक्त में खटिक की मात्रा कम होती है।

फ्रान्स देश के रोबिन, बिने इत्यादि अनेक विशेषज्ञों ने इस बात का पता लगाया है कि क्षय-रोग होने से पूर्व की अवस्था में रोगी के मूत्र में खनिज पदार्थ अधिक निकलते हैं और फलस्वरूप रक्त, अस्थि और फेफड़ों में इन पदार्थों को कमी हो जाती है। गोंवे ने यह पता लगाया है कि क्षय-रोगियों की सन्तान में स्वस्थ मनुष्यों की सन्तान की अपेक्षा खटिक और मग्न धातु (Manganese) का व्यय अधिक होता है। रोबिन का मत है कि खटिक तथा अन्य खनिज पदार्थों की कमी सम्बन्धी संवर्तन क्रिया के दोषों का क्षय-रोग को उत्पत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। क्षय-रोग के उत्पन्न होने के लिए केवल क्षय-संक्रमण ही पर्याप्त नहीं होता। जब संवर्तन क्रिया के विकारों से शरीररूपी भूमि निर्बल हो जाती है, तभी क्षय-रोग उत्पन्न होता है। रोग की तीव्रता खनिज पदार्थों की कमी के अनुसार होती है। रोबिन का मत है कि यदि रोग उत्पन्न होने से पहले इस कमी का पता लगा लिया जाय और उसी समय उसको पूरा कर दिया जाय तो क्षय-रोग से बचत हो सकती है।

क्षय-रोग की संवर्तन-क्रियासम्बन्धी उपरोक्त खोजों का अन्य अन्वेषकों ने अभी तक समर्थन नहीं किया है। अभी तक इस विषय में यथेष्ट जाँच-पड़ताल नहीं हुई है। इसलिए इस सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ कहना अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रणालीविहीन ग्रन्थियों (Ductless glands) **के दोष**—प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के विकारों के सम्बन्ध में हाल में जो अनुशीलन हुआ है, उससे यह ज्ञात हुआ है कि इन ग्रंथियों के विकार क्षय-रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं; परन्तु अभी तक क्षय-रोग का उनसे कोई कारणरूपी सम्बन्ध निश्चित नहीं हुआ है। क्षय-रोग के विस्तृत प्रसार का विचार करते हुए कुछ रोगियों में प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के विकारों का पाया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी ऐसा विदित होता है कि कुछ ग्रंथि-विकारों का क्षय-रोग के विकास पर हितकर और कुछ का अहितकर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि प्रणालीविहीन ग्रंथियों और क्षय-रोग-सम्बन्धी प्रश्न को अधिक खोज नहीं हुई है, तथापि इस सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात हुई हैं जिनसे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

चुल्लिका-ग्रन्थि (Thyroid gland)—यह देखा गया है कि जिन लोगों में चुल्लिका-ग्रन्थि का रस अधिक बनता है, उन लोगों में क्षय-रोग कम होता है, और जब होता भी है तो हल्का होता है। मोरिन ने इस बात का पता लगाया था कि चुल्लिका-ग्रन्थि से पीड़ित परिवारों में जिन लोगों की चुल्लिका-ग्रन्थि बढ़ी हुई थी, उनमें क्षय-रोग नहीं होता था और दूसरी ओर ३४८ रोगियों में जिनमें चुल्लिका-ग्रन्थि क्षीण (Atrophied) होगई थी उनमें से २५ प्रतिशत को क्षय-रोग होगया था। डा० सैजो के मतानुसार क्षय-रोग से पीड़ित होनेवाले लोगों में चुल्लिका-ग्रन्थि का अपचय (Atrophy) साधारणतया पाया जाता है।

उपवृक्क-ग्रन्थियाँ (Suprarenal glands)—इन ग्रन्थियों का क्षय-रोग से और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। क्षय-रोग में रक्तचाप (Blood Pressure) की कमी, मांसपेशियों की क्षीणता तथा दुर्बलता और त्वचा की श्यामता इत्यादि लक्षणों से उपवृक्कों का विकार सूचित होता है। डा० सैजो का भी यही मत है कि उपवृक्कों का विकार होने पर क्षय-रोग अधिक होता है।

जनन-ग्रन्थियाँ—जनन-ग्रंथियों का भी क्षय-रोग से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह देखा गया है कि विषय की कमी का क्षय-रोग में बड़ा हितकर प्रभाव पड़ता है। हिजड़ों में क्षय-रोग बहुत कम पाया जाता है। आख्ता (बधिया) किए हुए गिनीपिग आदि पशुओं में क्षय-रोग बहुत कम होता है। स्त्रियों में मासिकधर्म बन्द हो जाने के बाद क्षय-रोग बहुत कम होता है और यदि होता भी है तो बहुत हल्का और शीघ्र अच्छा हो जाता है। इसके विपरीत युवावस्था में जब विषयेच्छा अधिक होती है, तो क्षय-रोग अधिक होता है और बड़े तीव्र रूप का होता है। इन बातों से क्षय-रोग के होने में ब्रह्मचर्य के अभाव का प्रभाव स्पष्टतः प्रकट होता है।

फेफड़ों में क्षय-रोग की अधिकता—मनुष्यों में जितना क्षय-रोग होता है उसका ९० प्रतिशत केवल फेफड़ों में होता है। पशुओं पर प्रयोग करने से भी यही ज्ञात हुआ है कि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा फेफड़ों में क्षय-रोग कहीं अधिक होता है। चाहे त्वचा, उदरकला या शिरा में पिचकारी लगाकर और चाहे श्वास या भोजन के साथ किसी भी प्रकार से क्षय-कीटाणुओं को शरीर में प्रविष्टकर संक्रमण उत्पन्न किया जाय, शीघ्र या

देर में फेफड़ों में रोग अवश्य हो जाता है, और कहीं हो या न हो। फेफड़ों में क्षय अधिक होने के कारण अभी ठीक ठीक ज्ञात नहीं हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रचलित मत नीचे दिये जाते हैं।

कुछ लोगों का विश्वास है कि फेफड़ों में अधिक क्षय इसलिए होता है कि वहाँ के लसिका-संस्थान के विन्यास में त्रुटि होती है। चूंकि फेफड़ों में लसिका-संचालन ठीक-ठीक नहीं होता इसलिए क्षय अधिक होता है।

कुछ लोगों का विचार है कि फेफड़े में अधिक क्षय इसलिए होता है कि वहाँ की रक्त-संचालन की विधि उल्टी होती है। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि फेफड़ों को अन्य अंगों की अपेक्षा शुद्ध धामनिक रक्त (Pure arterial blood) कम मिलता है।

कुछ लोगों का मत है कि फेफड़ों में रक्त की शुद्धि होती है, इसलिए उसमें कीटाणु आदि जितने दूषित पदार्थ होते हैं वे सब फेफड़ों में रुक जाते हैं।

फुप्फुस-शिखर में अधिक क्षय होने के कारण—सम्पूर्ण फेफड़े में क्षय-ग्रहणशील प्रवृत्ति एक-सी नहीं होती। अन्य भागों की अपेक्षा शिखर में क्षय सबसे अधिक होता है।

फुप्फुस-शिखर में अधिक क्षय होने के कारण के सम्बन्ध में कई एक मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि फेफड़े के ऊपरी भाग में गति बहुत कम होती है और फलतः वायु का हेर-फेर भी उतना ही कम होता है। इसलिए क्षय-कीटाणुओं को जो श्वास-वायु या लसिका के साथ उस स्थान में पहुँचते हैं, वहाँ टिकने का अधिक अवसर मिलता है।

परन्तु इस सिद्धान्त से इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता, श्वास-वायु के अन्तर्गत धूलि के कणों के फेफड़ों में संचित होने से एक प्रकार का फुप्फुस रोग हो जाता है। इस रोग को अँग्रेजी में न्यूमोकोनियोसिस (Pneumoconiosis) कहते हैं। यदि उपरोक्त सिद्धान्त ठीक है, तो इस रोग में भी धूलि के कण फेफड़ों के ऊपरी भाग में जमा होने चाहिए, परन्तु प्रत्यक्ष में यह देखा गया है कि इस रोग में फेफड़ों का ऊपरी भाग तो साफ़ होता है और निम्न भाग में धूलि-कणों का संग्रह होता है।

कुछ लोगों का विचार है कि शिखर में क्षय अधिक इसलिए होता है कि उस भाग में रक्त और लसिका का संचालन ठीक ठीक नहीं होता। डा०

कोब का कथन है कि फुप्फुस-शिखर में लसिका-ग्रन्थियाँ कम होती हैं, इसलिए वहाँ पर क्षय अधिक होता है।

फ्रूएड का वक्ष के ऊर्द्ध द्वार की संकीर्णता का सिद्धान्त—फ्रूएड का मत है कि पहली पसली के छोटा होने और पहली उपपर्शुका के अस्थिरूप होने से वक्ष का ऊपरी द्वार छोटा होजाता है, इसलिए फुप्फुस-शिखर पर उसका दबाव पड़ने लगता है, जिसके कारण उस भाग के रक्त और लसिकासंचालन में बाधा पड़ती है। इसलिए श्वास-वायु या रक्त के साथ जो बाहरी अहितकर पदार्थ आ जाते हैं वे वहीं पर टिक जाते हैं।

फेफड़े के शिखर से कुछ नीचे शमोर्ल को एक परिखा (Groove) मिली थी। यह परिखा नवजात शिशुओं में अधिक पाई जाती है। स्वस्थ वक्षवाले मनुष्यों में किशोरावस्था में यह परिखा मिट जाती है। जिन लोगों में यह बनी रहती है, उनमें से अधिकांश में उस स्थान पर क्षय-रोग हो जाता है।

बैकमीस्टर ने अपने अन्वेषण द्वारा इन बातों का समर्थन किया है। कम आयु के खरगोशों को लेकर उनमें प्रथम पर्शुका के समतल स्थान पर इन्होंने एक तार का घेरा बनाकर कस दिया, जिससे वक्ष का ऊपरी द्वार संकीर्ण होगया। इससे फुप्फुस शिखर भी दब गया और उसमें तार के नीचे एक परिखा पड़ गई, जो शमोर्ल के क्षय-रोगियों की परिखा के अनुरूप थी। इन पशुओं में संक्रमण करने पर उस स्थान पर क्षय-रोग उत्पन्न होगया; परन्तु अन्य पशुओं में जिनमें यह तार नहीं बाँधा गया था, उग्र व्यापक क्षय हुआ और परिमित क्षय नहीं हुआ।

जहाँ कुछ लोगों ने फ्रूएड की इस खोज का समर्थन किया है, वहाँ अनेक लोगों को सावधानी से जाँच करने पर भी वक्ष के द्वार की संकीर्णता अधिक नहीं मिली है। २३८ रोगियों में से वेनकेन बैक को ६१.७५ प्रतिशत में कोई विकार नहीं मिला और केवल १७.२ प्रतिशत में यह विकार मिला था।

शरीर-रचना में न्यूनता (Constitutional Inferiority)—कुछ लोगों का विचार है कि क्षय-ग्रहणशीलता शरीर के किसी अवयव विशेष में नहीं होती, बल्कि व्यापक होती है। सब मनुष्यों के शरीर की गठन एक

सी नहीं होती। किसी का शरीर हृष्ट-पुष्ट और गठन दृढ़ होता है और किसी का शरीर निर्बल होता है और गठन दृढ़ नहीं होती। प्राचीन काल से यह देखा गया है कि निर्बल शरीर-रचनावाले प्राणियों को क्षय-रोग अधिक होता है। निर्बल-गातवाले मनुष्यों के निम्नलिखित साधारण लक्षण होते हैं। ग्रीवा लम्बी, छाती लम्बी, चपटी और संकीर्ण, अंसफलक (पुट्ठे) पंखों की तरह उभरे हुए, कंधे सामने की ओर झुके हुए, हँसली और दूसरी पसली उभरी हुई, मांसपेशी निर्बल तथा पेट बड़ा होता है।

जिनका चेहरा कान्तिहीन और पीला होता है और जिनकी त्वचा पर रूखापन होता है, ऐसे मनुष्यों को भी क्षय-रोग अधिक होता है।

अनेक विशेषज्ञों ने यह भी लिखा है कि जिन लोगों को क्षय-रोग अधिक होनेवाला होता है, उनमें प्रायः अंग-विकार होते हैं। भिन्न भिन्न विशेषज्ञों ने ऐसे नाना प्रकार के अंग-विकारों का उल्लेख किया है, जिनका क्षय-रोग से विशेष सम्बन्ध कहा जाता है। परन्तु इस बात का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि अंग-विकारों का क्षय-रोग से कोई विशेष सम्बन्ध होता है, क्योंकि क्षय-जैसे विश्वव्यापी रोग में कुछ रोगियों में अंग-विकार का पाया जाना स्वाभाविक है। अंग-विकारों से क्षय-रोग का सम्बन्ध तभी माना जा सकता है, जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि क्षयरहित मनुष्यों की अपेक्षा क्षयी मनुष्यों में अंग-विकारों की संख्या अधिक मिलती है, किन्तु अभी तक इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

उपार्जित रचनात्मक कारण

अन्य पूर्ववर्ती रोगों का प्रभाव—यह सब लोग जानते हैं कि जो भूमि ऊसर होती है, उसमें बीज बोने से कोई पैदावार नहीं होती; परन्तु बड़ी भूमि को यदि जोतकर निर्बल कर लिया जाय तो वह उपजाऊ हो जाती है। इसीप्रकार जब मनुष्य का शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है, तो उसमें कीटाणु-प्रवेश होने पर भी क्षय-रोग नहीं होता; परन्तु जब उस मनुष्य को कोई रोग हो जाता है, तो उसका शरीर निर्बल हो जाता है और उस समय उसको क्षय हो जाता है। शरीर को क्षय ग्रहण करने के योग्य बनाने में सब रोगों का एक-सा प्रभाव नहीं होता। निम्नलिखित रोगों का क्षयोत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध माना जाता है।

श्वास-मार्ग के रोग—इस सम्बन्ध में श्वास-मार्ग के रोगों का नाम सदैव लिया जाता है। यह भी देखने में आता है कि फेफड़ों के पुरातन रोगों के स्थान पर क्षय-रोग कभी कभी प्रकट हो जाता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(१) सम्भव है कि इन रोगों के होने से फेफड़ों के पुराने सुप्त क्षयी-विकार पुनरुद्दीपित हो जाते हों। (२) इन रोगों के कारण रोगी के निर्बल हो जाने से क्षयोत्पादन में सहायता मिलती हो। परन्तु इस बात की पर्याप्त साक्षी उपलब्ध है कि इन रोगों का क्षयोत्पादन पर केवल कोई प्रभाव ही नहीं होता, बल्कि इनसे क्षय-रोग के प्रति कुछ रोगक्षमता भी उत्पन्न हो जाती है। फुप्फुस-प्रदाह (Pneumonia) के बाद भी क्षय-रोग बहुत कम होते देखा गया है।

पार्श्वकला का प्रदाह (Pleurisy)—फेफड़ों के रोगों की अपेक्षा पार्श्वकला के प्रदाह का क्षय-रोग से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस प्रदाह के बाद क्षय-रोग का प्रायः प्रादुर्भाव होता है। वास्तव में पार्श्वकला-प्रदाह को क्षय-रोग का प्रवणशील (Predisposing) कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस कला का प्राथमिक प्रदाह तो यथार्थ में क्षय-रोग का ही एक रूप होता है। हृदय या वृक्क इत्यादि के रोग में पार्श्वकला का जो लक्षणरूपी गौण प्रदाह होता है, उसका क्षय-रोग से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

सर्दी लग जाना—रोगियों के अनुभव से यह विदित होता है कि सर्दी लग जाने के बाद प्रायः क्षय-रोग आरम्भ हो जाता है। यह स्वयं प्रकट है कि केवल सर्दी से क्षय-रोग नहीं हो सकता। परन्तु जब इसका ध्यान आता है कि लगभग हरएक मनुष्य के शरीर में क्षय-कीटाणु विद्यमान् होते हैं तो यह समझ में आ जाता है कि सम्भव है, सर्दी लगने से कीटाणुओं के अनुकूल अवस्था हो जाती हो, जिससे वे पुनर्जाग्रत हो जाते हैं। अधिकांश क्षय-रोगी जिनमें रोग पार्श्वकला के प्रदाह के रूप में आरम्भ होता है, यह स्पष्ट कहते हैं कि सर्दी लगने से पूर्व वे बिलकुल अच्छे थे। इसलिए सर्दी लगने से क्षय-रोग का आरम्भ होना तो निश्चित है, परन्तु अभी तक यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं हुआ है कि सर्दी लगने से शरीर में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं, जिनके कारण क्षय आरम्भ हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जब सर्दी लगने से क्षय का आरम्भ होता है तो प्रतिश्याय (ज़ुकाम) के लक्षण उत्पन्न नहीं होते, केवल उपक्रान्त क्षय के खाँसी, हरारत इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं।

पुरातन कास रोग—बहुत लोगों का और कुछ वैद्यों का यह विचार है कि ज़ुकाम, पुरानी खाँसी और श्वास-रोग की उपेक्षा करने से क्षय-रोग हो जाता है, परन्तु उनका यह विचार ग़लत है। रोगियों के अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि ये रोग क्षय-रोग का प्रवणशील कारण नहीं हैं। यह अवश्य है कि कुछ लोगों को बहुत दिनों तक खाँसी आने के बाद क्षय के अस्तित्व का पता चलता है, परन्तु यथार्थ में उन लोगों को आरम्भ से ही क्षय होता है और वही उनकी खाँसी का कारण होता है, परन्तु उसकी उस समय ठीक ठीक जाँच नहीं हो पाती।

उग्र संक्रामक रोग—प्रायः यह देखा गया है कि खसरा (Measles), कुकर खाँसी इत्यादि संक्रामक रोगों के बाद क्षय-रोग हो जाता है। इन रोगों से शरीर निर्बल होने पर शरीर के अन्तर्गत क्षय-कीटाणु उत्तेजित हो जाते हैं। निर्बलता की दशा में नया संक्रमण भी अधिक सुगमता से हो जाता है।

सन् १९१७—१८ में अमेरिका की सेना में ५९४५ सिपाहियों को खसरा निकला था, उनमें से २·९१ प्रतिशत को क्षय-रोग होगया था। इन रोगों के क्षय-रोग के प्रवणशील कारण होने का एक और भी प्रमाण है। जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में कहा जा चुका है, क्षय-संक्रमण से मनुष्यों में एक विशेष प्रकार की अतिचैतन्यता और रोगक्षमता का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिसकी यक्ष्मिन की पिचकारी लगाने पर एक विशेष प्रतिक्रिया होने से पहचान होती है। यह देखा गया है कि खसरा रोग में इस प्रतिक्रिया का अभाव हो जाता है। इससे विदित होता है कि शरीर में प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है।

इनफ्लूएंज़ा—बहुत दिनों से यह देखा गया है कि जब यह रोग महामारी के रूप में आता है तो क्षय-रोग की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है। इससे विदित होता है कि क्षय-रोग के होने में इस रोग से कुछ सहायता मिलती है।

मोतीझरा—(मियादी बुखार) यह ज्वर भी क्षय-रोग का एक प्रमुख प्रवणशील कारण माना जाता है, क्योंकि बहुत से क्षय-रोगियों का इस ज्वर से पीड़ित होना पाया जाता है। डा० चार्ल्स वुडरफ इस विषय का गहन अनुशीलन करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मंथज्वर का क्षय-रोग के प्रवणशील कारणों में प्रमुख स्थान होता है।

पुरातन रोग—मधुमेह (Diabetes) और वृक्क का पुरातन प्रदाह (Chronic nephrites) से पीड़ित रोगियों को भी क्षय-रोग अधिक होता है। रिकेट्स एक अस्थि रोग होता है जो प्रायः बचपन में होता है और जिसमें बच्चों की हड्डियाँ टेढ़ी हो जाती हैं। इस रोग से पीड़ित लोगों को भी क्षय-रोग बहुत होता है।

वातावरणसम्बन्धी कारण—अनेक लोगों को शरीर की रचना में कोई विकार या अन्य कोई रोग न होने पर भी केवल अहितकर वातावरण में रहने से क्षय-रोग हो जाता है। वस्तुतः रचनात्मक विकार और अन्य रोगों की अपेक्षा क्षयोत्पत्ति पर वातावरण का कहीं अधिक प्रभाव होता है। यदि क्षय-रोग को प्रधानतः वातावरण का रोग कहा जाय तो अनुचित न होगा। वातावरणसम्बन्धी निम्नलिखित बातों का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर विशेष प्रभाव होता है।

पौष्टिक भोजन की कमी—शरीर को हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रखने के लिये उत्तम और पौष्टिक भोजन अत्यावश्यक है। जब किसी कारणवश मनुष्य को पौष्टिक भोजन नहीं मिलता तो उसका शरीर निर्बल होकर क्षय-रोग का ही नहीं, किन्तु अन्य रोगों का भी शिकार बन जाता है। क्षय-रोग का भोजन की कमी से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ लोग तो क्षय-रोग को वस्तुतः भोजन की कमी का रोग (Deficiency disease) मानते हैं। भोजन में खद्योज नाम के जो अज्ञात पदार्थ होते हैं, उनकी कमी का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर विशेष प्रभाव होता है।

चिन्ता—क्षय-रोग की उत्पत्ति पर चिन्ता का भी बड़ा प्रभाव होता है। शोकातुर और चिन्ताकुल व्यक्तियों में क्षय-रोग बहुत होता है। चिन्ता और चिता दोनों बहनें हैं जिनमें चिन्ता बड़ी है, क्योंकि चिता मुर्दे को जलाती है, परन्तु चिंता जीवित प्राणी को भस्म कर देती है।

अति परिश्रम तथा अन्य सब प्रकार की अति--आधुनिक सभ्यावस्थाओं में मनुष्य का जीवन बड़ा अविश्रांत होगया है। उसको अधिक समय तक और रात को बहुत देर तक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम करना पड़ता है जिससे उसकी प्राणशक्ति कम हो जाती है। अनेक रोगियों में रोग का आदि कारण अधिक परिश्रम पाया जाता है। गत योरोपीय महाभारत के समय बहुत लोगों को अति परिश्रम के कारण क्षय होगया था। सभ्यता से दारिद्र्य और बाहुल्य दोनों उत्पन्न होते हैं और दोनों ही प्राणशक्ति के ह्रास के कारण होते हैं। एक ओर दरिद्रता से भोजन के अभाव के कारण शरीर पुष्ट नहीं रहता तो दूसरी ओर धन की अधिकता के कारण भोजन की अति से पाचनशक्ति बिगड़कर भोजन पेट में सड़ने लगता है और उससे विषैले पदार्थ उत्पन्न होकर शरीर में व्याप्त होने लगते हैं। अन्त में दोनों प्रकार के लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। मदिरा उपरोक्त विषैले पदार्थों का कार्य और भी प्रबल बनाकर सोने में सुहागे का काम करती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की अति,—भोजन, मदिरा, विषय तथा चित्त-विकार—से क्षय-रोग उत्पन्न होता है।

अस्वस्थता, अस्वच्छ दशायें तथा जन-संकीर्णता--सबसे पहले डा० फार ने क्षय-रोग का जन-संकीर्णता से सम्बन्ध स्थापित किया था। एडिनबर्ग नगर में जब कुछ पुराने अस्वच्छ स्थानों में स्वच्छ नये मकान बनाए गये, जिनमें वायु और सूर्य-प्रकाश के आने का समुचित प्रबन्ध था, तो वहाँ की व्यापक मरण-निष्पत्ति प्रतिसहस्र ४५ से १५ रह गई और क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति ३.४ से ०.४ होगई। इसीप्रकार लिवरपूल में, जहाँ की मरण-निष्पत्ति प्रतिसहस्र ४ थी, नये स्वच्छ स्थानों में लगभग उसीप्रकार की आबादी में १.९ होगई। क्षय-रोग का जन-संकीर्णता से सम्बन्ध प्रत्येक शहर में देखा जा सकता है। लंडन शहर में भी यह देखा गया है कि क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति का जन-संकीर्णता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। बस्ती जितनी सघन होती है, क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति उतनी ही अधिक होती है। विचार करने पर पता लगेगा कि इस देश में भी अस्वच्छता और जन-संकीर्णता का सामाजिक अवस्थाओं से सम्बन्ध है। निर्धन लोग धनाभाव के कारण अस्वच्छ और अंधेरी कोठरियों में बहुत से एक साथ रहते हैं। यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि जन-संकीर्णता और अस्वच्छता के दुष्परिणाम

का कारण दरिद्रता होती है। लंडन के श्रमजीवियों में यह अनुभव किया गया है कि जबतक वे कमाते रहते हैं और उनको अच्छा वेतन मिलता रहता है तब तक अस्वच्छ दशाओं में रहने पर भी क्षय-रोग कम होता है। अमेरिका के संयुक्तराज्य में श्रमजीवियों को जाँच करने पर डा० वारिन को भी यही अनुभव हुआ है। अस्तु, अस्वच्छता और जन-संकीर्णता उसी सीमा तक क्षय-रोग के कारण रूप होती हैं जहाँ तक वे दरिद्रता की सूचक होती हैं।

दरिद्रता, बेकारी और वेतन की कमी—क्षय-रोग के शिकार प्रधानतः वे ही लोग होते हैं जो निर्धन और असहाय होते हैं, जिनको पौष्टिक भोजन नहीं मिलता और जो गंदे तथा अंधेरे मकानों में रहते हैं। डा० वारिन ने पता लगाया है कि वेतन की कमी और क्षय-रोग साथ साथ चलते हैं। यह बतलाया जा चुका है कि क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक दशा के अनुसार न्यूनाधिक होती है। ऊँची श्रेणी और धनिक लोगों में कम तथा निर्धनों में अधिक होती है। हरएक शहर में यही बात मिलती है कि धनवान लोगों में कम और दरिद्रों में क्षय-रोग से अत्यधिक मृत्यु होती हैं। वेतन अच्छा और आय अधिक होने पर लोगों को अच्छा पौष्टिक भोजन मिलता है, वे अच्छे मकानों और वातावरणों में रहते हैं, सुखी रहते हैं और उनको चिन्ता कम होती है। आमदनी कम होने से न खाने को पौष्टिक भोजन मिलता है, न रहने को स्वच्छ मकान; निरन्तर चिन्ता घेरे रहती है। फल यह होता है कि ऐसे लोग शीघ्र क्षय-रोग का शिकार बन जाते हैं।

व्यवसाय—क्षय-रोग की प्रवणशील अथवा शान्त क्षय को उभाड़नेवाली जितनी बातें कही जाती हैं उनमें से रोगियों के व्यवसाय की ओर अनेक ग्रन्थकारों ने विशेष ध्यान दिया है। इस प्रश्न के औद्योगिक, सामाजिक तथा आर्थिक महत्व पर विचार करते हुये यह स्पष्ट है कि लेखकों में कुछ व्यवसायों के हानिकारक होने के सम्बन्ध में मतभेद होना स्वाभाविक है। डा० ब्राउनली का कहना है कि क्षय-रोग की उत्पत्ति पर व्यवसाय के प्रभाव के सम्बन्ध में सतर्क होने की आवश्यकता है। यह सम्पूर्ण समस्या इतनी जटिल है कि यदि अधिक से अधिक सावधानी न रक्खी जाय तो

आँकड़ों से कोई तात्पर्य निकालना उतना ही आशंकापूर्ण होगा जितना कि किसी धर्म-ग्रंथ की व्याख्या करना।

प्रधान कठिनाई यह है कि अंकविशेषज्ञ साधारणतः मृत्युलेखों से असंस्कृत अंकों को लेकर मृतकों के व्यवसाय के अनुसार क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति निकाल लेते हैं और इस बात की जाँच नहीं करते कि मृत व्यक्तियों ने कितने दिनों तक उन व्यवसायों को किया था। राजयक्ष्मा से पीड़ित अनेक लोग अपना व्यवसाय बदलते रहते हैं और मृत्यु होने पर उनका केवल अन्तिम व्यवसाय ही लिखा जाता है। ऐसी दशा में उस व्यवसाय का न लिखा जाना सम्भव है जो यथार्थ में उसके रोग के उभड़ने का कारण होता है।

सामाजिक निर्वाचन (Social selection) की प्रक्रिया जिसके अनुसार लोग व्यवसाय-निर्वाचन करते हैं, इस सम्बन्ध में बहुत प्रमुख होती है, परन्तु साधारणतः लोग इस पर कोई ध्यान नहीं देते। डा० कवेट का कहना है कि इंगलैंड में होटलों के नौकरों में क्षय-रोग से मृत्यु अधिक होती हैं। कुछ लोग इसका कारण उन लोगों का गृहाबद्ध जीवन और अधिक मदिरापान की प्रवृत्ति बतलायेंगे। परन्तु घर के भीतर काम करनेवाले अन्य लोगों में, क्षय-रोग से इतनी अधिक मृत्यु नहीं होतीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक निर्वाचन की प्रक्रिया कार्य कर रही है। निर्बल और अस्वस्थ लोग जिनमें से अनेक को गुप्त या शान्त क्षय-रोग होता है, उन व्यवसायों को पसन्द कर लेते हैं जिनमें परिश्रम कम करना पड़ता है। यही कारण है कि पुलिसवालों में क्षय-रोग होने की कम सम्भावना होती है, क्योंकि उस विभाग में छाँटकर हृष्ट-पुष्ट लोग लिये जाते हैं। डा० ब्राउन्ली ने इस बात का एक उदाहरण और दिया है।

व्यवसायों में क्षय-रोग का प्राबल्य निम्नलिखित बातों से हो सकता है:—(१) उनमें उत्पन्न धूल से, जो काम करनेवालों के श्वास के साथ उनके शरीर में प्रवेश करती है, (२) व्यवसायों में प्रयुक्त पदार्थों से निकलनेवाले हानिकारक वाष्प तथा दुर्गंध से, (३) अस्वच्छ कारखानों में लगातार काम करने से, (४) वेतन की कमी तथा अन्य उन सब बातों से जिनसे प्राणशक्ति और प्रतिरोधशक्ति कम होती है।

राजयक्ष्मा के विकास में धूल एक कारण—चूँकि राजयक्ष्मा एक ऐसा रोग माना गया है जो प्रधानतः श्वास के साथ कीटाणुओं के प्रविष्ट होने से होता है, इसलिए लेखक शताब्दियों से धूल को क्षय-रोग का एक कारण मानते आये हैं। क्षय-रोग अथवा व्यवसायजनित रोगों पर जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उन सबमें इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया गया है कि खनिजपदार्थों, धातुओं, बनस्पतियों अथवा पशुओं की धूल से धूसरित व्यवसायों में काम करनेवालों में अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है। डा० हाफमैन के हाल के एक निबंध से उद्धृत कुछ आँकड़ों से इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है कि धूलधूसरित उद्योगों के करनेवालों में अधिक क्षय-रोग होने का भय होता है। सन् १९०८ या १९०९ ई० में अमेरिका के संयुक्तराज्य के रेजिस्ट्रेशन-विभाग में सब प्रकार के व्यवसायरत व्यक्तियों में क्षय-रोग की मरण-निष्पत्ति कुल मृत्यु-संख्या के अनुपात में १४·९ प्रतिशत थी और किसानों, बागवालों तथा खेतों में काम करनेवाले मज़दूरों में केवल ८·७ प्रतिशत थी। परन्तु धातु-धूलमय उद्योगों के करनेवालों में २१ प्रतिशत, खुदाई के काम करनेवालों में ३१·१ प्रतिशत, मुद्रकों तथा छापेखानेवालों में २९·५ प्रतिशत, औज़ार तथा चाकू-छुरी बनानेवालों में २४·१ प्रतिशत, रत्नकारों में १७·८ प्रतिशत और लोहारों में १४·९ प्रतिशत थी। खनिज-धूलवाले कारखानों में काम करनेवालों में तो और भी अधिक क्षय-रोग होता है। ऐसे उद्योगों के करनेवालों में २१·३ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग के कारण हुई थी। कुम्हारों में ३४·६ प्रतिशत, मनिहारों में ३०·७ प्रतिशत, ईंट और खपड़ेवालों में १२ प्रतिशत और कोयले की खानों में काम करनेवालों में केवल ९ प्रतिशत मृत्यु क्षय-रोग के कारण मिली थीं। अन्य देशों में भी इसीप्रकार की साक्षी मिलती है।

हानिकारक धूलें—उपरोक्त आँकड़ों से विदित होता है कि सब प्रकार की धूलें राजयक्ष्मा का कारण रूप नहीं होतीं। कोयले की खानों में काम करनेवालों में राजयक्ष्मा अपेक्षाकृत बहुत कम होता है, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोयले की धूल की पर्याप्त मात्रा श्वास के साथ उनके फेफड़ों तक पहुँचती है, और वहाँ जमा हो जाती है, जैसा कि उनमें फुफ्फुसांगार (Anthracosis) रोग की अधिकता से सूचित होता है। सन् १८६३ ई०

में डा० क्यूबत ने लोगों का ध्यान इस ओर दिलाया था और कहा था कि फ्रान्स में कोयले की धूल से न राजयक्ष्मा होता है और न उससे राजयक्ष्मा के विकास में कोई सहायता मिलती है। इङ्गलैण्ड में भी जैसा कि डा० आलिवर ने दिखलाया है, यही दशा पाई जाती है। डा० ब्राउनली का कहना है कि राजयक्ष्मा कोयले की खान में काम करनेवालों में अपेक्षाकृत कम होता है। अमेरिका के संयुक्तराज्य में भी यही बात पाई जाती है। अस्तु, उपलब्ध साक्षी से यह प्रकट होता है कि कोयले की धूल के श्वास-मार्ग के भीतर तक पहुँचने पर भी, कोयले की खानों में काम करनेवालों में क्षय-रोग अधिक नहीं होता।

इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि सड़क पर झाड़ू लगानेवालों में तथा कोचवानों में, श्वास के साथ अधिक धूल अन्दर जाने पर भी राजयक्ष्मा अधिक नहीं होता। डा० सौमरफिल्ड ने पता लगाया है कि बर्लिन नगर में सड़क पर झाड़ू लगानेवाले मेहतरों में अन्य लोगों की अपेक्षा राजयक्ष्मा से मृत्यु आधी होती हैं। न्यूयार्क नगर में जाँच करने पर यह पता लगा है कि अन्य लोगों की अपेक्षा मेहतरों में क्षय-रोग अधिक नहीं होता। कुछ लोगों ने इससे यह तात्पर्य निकाला है कि सड़कों पर क्षय-संक्रमण का भय नहीं होता, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्षय-रोग के फैलाने में धूल एक बहुत बड़ा साधन होती है। परन्तु मेहतरों में राजयक्ष्मा की कमी से यह सिद्ध नहीं होता कि सड़क की धूल हानिरहित होती है। उनमें क्षय-रोग कम होने के उपार्जित रोगक्षमता इत्यादि अन्य कारण होते हैं।

दूसरी प्रकार की धूल, जिसका क्षयोत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं होता, चूने की धूल है। इङ्गलैण्ड में जाँच करने पर पता लगा है कि चूने के काम करनेवालों में राजयक्ष्मा अधिक नहीं होता। इसके विपरीत पत्थर के काम करनेवालों में क्षय-रोग विशेष रूप से होता है। डा० हाल्टर और डा० गार्व को जर्मनी में यही बात मिली है। डा० फिसक ने लिखा है कि स्पेन में चूना के काम करनेवालों में गंदे मकानों में रहने और अपुष्ट भोजन मिलने पर भी राजयक्ष्मा कम होता है। उनका विश्वास है कि उन लोगों की इस रोग-क्षमता का कारण चूने की धूल का श्वास के साथ प्रविष्ट होना है। अमेरिका

के संयुक्तराज्य में हाफमैन को इस बात की प्रचुर साक्षी मिली है कि चूना के काम करनेवालों में क्षय-रोग कम होता है।

उपरोक्त कुछ धूलों को छोड़कर अन्यप्रकार की धूलें राजयक्ष्मा के विकास में कारणरूप होती हैं। अनेक लोगों की जाँच से यह विदित हुआ है कि सबसे अधिक भयंकर धूल वह होती है जिसमें अधिक बालुकाकण होते हैं। धातुधूल भी बुरी होती है। धातुओं में सबसे कम हानिकारक धूल लोहे की होती है। अभी तक इस बात का सन्तोषजनक ज्ञान नहीं हुआ है कि कोयले और चूने की धूलें क्यों हानिरहित होती हैं और काँच, पत्थर, टीन, ताँबा इत्यादि की धूलें क्यों हानिकारक होती हैं। कुछ लोगों की प्रयोगात्मक खोजों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ धूलें श्वास के साथ प्रविष्ट होने पर फेफड़ों से तुरन्त निकाल दी जाती हैं और जो धूल फेफड़ों से तुरन्त नहीं निकाली जा सकतीं उनसे क्षय-रोग के विकसित होने में सहायता मिलती है।

अहितकारक वाष्पों का प्रभाव—समय समय पर उन व्यवसायों को जिनमें काम करनेवालों को बुरे वाष्प सूँघने पड़ते हैं, क्षय-रोग का कारणरूप बताया गया है। परन्तु अंक-साक्षी से इस मत का समर्थन नहीं हुआ है। गत योरोपीय महाभारत में सहस्रों सैनिकों को विभिन्न प्रकार के विषैले वाष्पों का आक्रमण सहना पड़ा था। यह देखा गया था कि जो लोग वाष्प-आक्रमण से बच जाते थे, उनमें अन्य फुप्फुस रोग तो हो जाते थे, परन्तु क्षय-रोग कम होता था। इस अवसर पर मनुष्यों में इस बात की जाँच करने का बड़ा अच्छा सुयोग मिल गया था कि विषैले वाष्पों का क्षय-रोग से कारण रूपी क्या सम्बन्ध है। उस समय यह स्पष्ट विदित होगया था कि विषैले वाष्प क्षय-रोग का कारणरूप नहीं होते।

वेतन की कमी का प्रभाव—अस्तु, इस विषय पर एक सरसरी निगाह डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल धातुज और कुछ खनिज धूलवाले व्यवसायों को छोड़कर व्यवसाय का स्वतः क्षय-रोग के विकास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। एवं इन व्यवसायों में भी कुछ महत्वपूर्ण अपवाद होते हैं, जैसा कि सड़क, कोयला, चूना इत्यादि की धूल के सम्बन्ध में बताया जा चुका है।

परन्तु जाँच करने से यह पता लगा है कि श्रमिकों की आर्थिक दशा और क्षय-रोग का निश्चयात्मक सम्बन्ध होता है। अमेरिका के संयुक्तराज्य

में डा० वारिन ने पता लगाया है कि वेतन की कमी और क्षय-रोग की वृद्धि साथ साथ चलती है।

क्षय-रोग और सामाजिक तथा आर्थिक दशाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की विस्तृत आलोचना चौथे परिच्छेद में की जा चुकी है।

सातवाँ परिच्छेद

क्षयरोग की उत्पत्ति

रोगक्षमता की विचित्र घटना

प्रयोगोत्पादित यक्ष्मा और स्वयमोत्पन्न राजयक्ष्मा में भेद—प्रयोगद्वारा किसी पशु को संक्रामित करने पर यह कहा जा सकता है कि उस पशु में उस संक्रमण से क्या क्या विकार उत्पन्न होंगे। उदाहरणार्थ, गिनीपिग नामक पशु के उदर की कला में क्षय-कीटाणुओं को प्रविष्ट करने पर उस कला में शीघ्र क्षयी प्रदाह हो जाता है। उसके बाद प्लीहा, यकृति इत्यादि उदर की अन्य इन्द्रियों में क्षय-रोग होकर अन्त में पशु की मृत्यु हो जाती है। परन्तु अपने आप संक्रमण होने पर भविष्य में क्या परिणाम होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता। सम्भव है, कि उस संक्रमण से जीवनपर्यन्त उस मनुष्य के शरीर में कोई भी विकार उत्पन्न न हो। वास्तव में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकांश लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-संक्रमण हो जाता है और उससे उनकी कोई हानि नहीं होती। मृत्यु के बाद शवच्छेद करने पर जिन लोगों के शरीरों में सुस्पष्ट क्षयी-विकार मिलते हैं उनमें से अधिकांश को अपने जीवनकाल में उनके होने का पता तक नहीं चलता। इसके विपरीत कुछ लोगों ने अथवा यह कहना चाहिए कि केवल थोड़े से ही लोगों में संक्रमण से शीघ्र या देर में क्षय-रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

पशुओं के प्रयोगोत्पादित क्षय-रोग और मनुष्यों के स्वयमोत्पन्न राजयक्ष्मा (फुफ्फुस क्षय) में केवल यही एक अन्तर नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजयक्ष्मा (फुफ्फुस क्षय) केवल मनुष्यों में ही होता है और यदि सम्भवतः पशुओं में होता भी हो तो बहुत विरल होता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रयोगशाला में पशुओं में कभी नहीं होता। चाहे क्षय-कीटाणुओं को त्वचा बेधकर, भोजन के साथ, अथवा श्वास के साथ किसी भाँति से उनके शरीर

में क्यों न प्रविष्ट किया जाय। गिनीपिग, खरगोश इत्यादि पशुओं में जिनमें स्वाभाविक क्षय-रोग बहुत कम होता है, प्रयोगोत्पादित संक्रमण से केवल अर्बुदाकार यक्ष्म उत्पन्न होते हैं, जो कि रक्त-नाड़ीशून्य सेल समूह होते हैं। परन्तु मनुष्यों के स्वयमोत्पन्न राजयक्ष्मा में फेफड़ों में उत्पादक और श्रावक प्रदाही प्रक्रिया प्रधान होती है जिसमें विशिष्ट क्षयी सेलवृद्धि कभी होती है और कभी नहीं भी होती। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि प्रयोगोत्पादित संक्रमण से पशुओं में सर्वाङ्गिक अथवा बजरीला क्षय होता है जो मनुष्यों में बहुत कम पाया जाता है।

डा० रिबार्ट ने पशुओं के प्रयोगोत्पादित यक्ष्मा में और मनुष्यों के राजयक्ष्मा में विशेष भेद किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धूल में मिलाकर क्षय-कीटाणुओं को सुँघाने से पशुओं के फेफड़ों में यक्ष्म उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु इसप्रकार जो रोग उत्पन्न होता है, वह मनुष्य के राजयक्ष्मा रोग के सदृश नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि जब तक और प्रमाणों से सिद्ध न किया जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यों में संक्रमण इसीप्रकार होता है। जिन दशाओं में मनुष्य क्षय-कीटाणुओं को श्वास-मार्ग से ग्रहण करते हैं, वे प्रयोग की दशाओं से कहीं भिन्न होती हैं। न यह सिद्ध किया जा सकता है कि रोग होने से पूर्व मनुष्यों में श्वास-मार्गद्वारा क्षय-कीटाणु प्रविष्ट होते हैं और न यह कि कीटाणु प्रविष्ट होकर उन्हीं इन्द्रियों में स्थापित होते हैं जिनमें रोग होता है। डा० बैक्मीस्टर का कहना है कि फुफ्फुस क्षय केवल प्रौढ़ मनुष्यों में होता है। यह रोग पशुओं में न अपने आप होता है और न कभी प्रयोगद्वारा उत्पन्न किया जा सका है।

प्रयोगद्वारा ज्ञात बातें मनुष्यों के सम्बन्ध में तभी लागू हो सकती हैं जब पहले पशुओं में प्रयोगद्वारा मनुष्यों के राजयक्ष्मा के सदृश रोग उत्पन्न कर लिया जाय। पशुओं में प्रयोगद्वारा अन्य प्रकार के क्षय-रोग उत्पन्न करने से कोई विशेष बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उनमें जो अङ्ग-विकार होते हैं, वे मनुष्य के राजयक्ष्मा के अङ्ग-विकारों से कहीं भिन्न होते हैं।

यह प्रश्न अभीतक सन्तोषपूर्वक हल नहीं हुआ है कि क्षय-कीटाणुओं के संक्रमण के बाद राजयक्ष्मा रोग जो बाल्यावस्था में और पशुओं में नहीं होता, प्रौढ़ावस्था में मनुष्यों में क्यों हो जाता है? फ्रूएड, हार्ट, बैक्मीस्टर तथा अन्य लोगों का यह विश्वास है कि पहली पसली के छोटी होने से

अथवा पहली उपपर्शुका के अस्थिरूप होने से फुफ्फुस शिखर पर दबाव पड़ता है और इससे वहाँ रोग होता है। परन्तु यह बताया जा चुका है कि इस सिद्धान्त से इस प्रश्नसम्बन्धी सब बातें हल नहीं होतीं।

राजयक्ष्मा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के लिए और कई एक सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

संक्रमण की तीव्रता—शरीर में क्षय-कीटाणुओं के प्रवेश करने पर रोग केवल तभी होता है जब उनकी संख्या और रोगोत्पादक शक्ति अधिक होती है और उनको ग्रहणशील तंतुओं में टिकने का स्थान मिल जाता है। अधिकांश कीटाणुकृत रोगों के अनुभव से यह विदित होता है कि एक साधारण पशु किसी संख्या तक कीटाणुओं का प्रतिरोध कर सकता है और उस संख्या तक कीटाणुओं के उसके शरीर में प्रविष्ट होने से रोग उत्पन्न नहीं होता। यह स्पष्ट है कि स्वयमोत्पन्न संक्रमण में कीटाणुओं की संख्या का पता नहीं चल सकता। किन्तु प्रयोगद्वारा यह ज्ञात हुआ है कि जब संक्रमण की मात्रा कम होती है तो पशु रोग होने से बच जाता है। डा० कार्वेट ने पता लगाया है कि बछड़ों में पशु क्षय-कीटाणुओं की थोड़ी मात्रा अर्थात कम संख्या में पिचकारी लगाने से केवल स्थानबद्ध और परिमित विकार उत्पन्न होता है जो शीघ्र अच्छा हो जाता है और बछड़े थोड़े समय के लिए अस्वस्थ होकर बाद को नीरोग बने रहते हैं। कीटाणुओं की मध्यम मात्रा का अनिश्चित परिणाम होता है। अधिक मात्रा में पिचकारी लगाने से लगभग सदा उग्र सर्वांगिक क्षय होता है जिससे कुछ दिनों में पशु की मृत्यु हो जाती है। डा० गिल्बर्ट और ग्रेग ने पता लगाया है कि गिनीपिग में संक्रमण उत्पन्न करने के लिए १० से १८० तक क्षय-कीटाणुओं की आवश्यकता होती है। डा० गिल्बर्ट और वेब ने पता लगाया है कि कीटाणुओं की इस संख्या से बच्चों में संक्रमण तो हो जाता है, परन्तु रोग नहीं होता।

अनेक लोगों का कहना है कि कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने के विभिन्न मार्गों के अनुसार संक्रमण के परिणाम में बड़ा अन्तर हो जाता है। ८७ गिनीपिग पशुओं में श्वास के साथ क्षय-कीटाणुओं को प्रविष्ट करने पर डा० फिंडेल को पता लगा कि ५० से भी कम कीटाणुओं के इसप्रकार शरीर में प्रवेश करने से रोग उत्पन्न हो जाता है और पशुओं के बच्चों में तो

केवल एक ही कीटाणु से रोग हो जाता है। इसके विपरीत अन्न-मार्ग से संक्रमण उत्पन्न करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में कीटाणुओं की आवश्यकता होती है। डा० फिंडेल ने १४ गिनीपिग पशुओं को १९ हज़ार से ३ लाख ८७ हज़ार तक क्षय-कीटाणु खिलाये थे। १७४ दिन तक उनको निरीक्षण में रखने पर भी उनको कोई क्षयो-विकार नहीं मिले। अनुभव से उनको ज्ञात हुआ कि कम से कम ३॥ करोड़ कीटाणु खिलाने से अन्न-मार्ग से संक्रमण हो सकता है। इससे विदित होता है कि काटाणुओं की जिस संख्या से श्वास-मार्ग से संक्रमण होता है, अन्न-मार्ग से संक्रमण उत्पन्न करने के लिए उससे ६० लाख गुनी संख्या में कीटाणुओं की आवश्यकता होती है।

प्रयोगद्वारा ज्ञात ये मनोरञ्जक बातें मनुष्यों के प्राकृतिक संक्रमण के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से लागू नहीं हो सकतीं। ये प्रयोग कीटाणुओं के शुद्ध शस्यों (Cultures) से किये गये थे, परन्तु मनुष्य के शरीर में कीटाणुओं के ऐसे शुद्ध शस्यों का प्रवेश कभी नहीं होता। श्वास या भोजन के साथ अथवा त्वचा को बेधकर, चाहे किसी मार्ग से कीटाणु शरीर में प्रवेश करें, वे सदा धूल, कफ और भोजन के पदार्थ इत्यादि में सम्मिश्रित रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके साथ अन्य जाति के कीटाणु भी रहते हैं, जिनका संक्रमण के अन्तिम परिणाम पर बड़ा प्रभाव हो सकता है। यह भी बताया जा चुका है कि मनुष्यों में बाल्यावस्था में भी क्षय-संक्रमण के प्रति बड़ी प्रतिरोधशक्ति होती है और इसी कारण हर संक्रमण के बाद रोग नहीं होता। यह विश्वास किया जाता है और युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है कि कीटाणुओं को अल्पमात्रा में बार बार और अधिक मात्रा में केवल एक ही बार संक्रमण होने से रोग उत्पन्न हो सकता है।

युक्तिपूर्वक ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता कि कभी किसी मनुष्य के श्वास के साथ, चाहे वह क्षय-रोगी के सन्निकट ही क्यों न रहता हो, इतने कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश कर सकते हैं, जितने कीटाणुओं को मनुष्य के समान डीलडौल के पशु को संक्रामित करने के लिए आवश्यकता होगी। इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यों के प्राकृतिक संक्रमणों में कीटाणुओं की संख्या प्रायः रोग उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। परन्तु दूसरी ओर यह भी भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि मनुष्य शरीर

में क्षय-कीटाणुओं की वंशवृद्धि होती है। अतएव थोड़े से कीटाणुओं से भी अनुकूल अवस्था में रोग उत्पन्न हो सकता है। डा० कार्वेट कम संख्या में कीटाणुओं के हानिकारक न होने का निम्नलिखित कारण मानते हैं। कीटाणुओं के प्रवेश करने पर शरीर की रक्षाशक्तियाँ प्रेरित होकर जाग्रत हो जाती हैं और वे थोड़े कीटाणुओं के प्रतिरोध के लिए पर्याप्त होती हैं। परन्तु जब कीटाणुओं की संख्या अधिक होती है तो कीटाणु शरीर की रक्षाशक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। बच्चों में चिकित्सानुभव (Clinical experience) से इस बात की कुछ अंश तक पुष्टि होती है। अधिकांश बालक शिशुकाल में अल्पसंख्यक कीटाणुओं से संक्रामित होते हैं और उस संक्रमण से उनको कोई हानि नहीं होती। परन्तु थोड़े से बालकों में, जिनमें संक्रमण की मात्रा अधिक होती है, उग्र व्यापक क्षय-रोग हो जाता है। हल्के संक्रमण से रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे कीटाणुओं की वृद्धि रुक जाती है। परन्तु कीटाणुओं की संख्या अधिक होने पर वे रोगक्षमता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और अपनी संख्या में वृद्धि करके रोग उत्पन्न कर देते हैं।

इस मत से क्षय-कीटाणुओं से परिपूर्ण बड़े बड़े नगरों में रहनेवाले बच्चों की रोगक्षमता की बात तो समझ में आ सकती है, परन्तु इस रहस्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि जिस व्यक्ति में बाल्यकाल में अल्पसंख्यक कीटाणुओं से संक्रमण हो चुका है, कीटाणुओं के वर्षों तक चुपचाप पड़े रहने के बाद, प्रौढ़ावस्था में उसमें फेफड़े का क्षय क्यों हो जाता है? इसकी व्याख्या क्षय-प्रवणशीलता या क्षयी-प्रवृत्ति के अनेक सिद्धान्तों से की जाती है, जिनकी विवेचना पूर्व परिच्छेद में की जा चुकी है।

राजयक्ष्मा की नींव बाल्यावस्था में पड़ जाती है—कुछ दिनों से यह सिद्धान्त कि फुप्फुस क्षय बाल्यावस्था में उपार्जित यक्ष्मा का विलम्बित विकास होता है, प्रचलित हो रहा है। डा० बेहरिंग का मत है कि केवल एक संक्रमण से राजयक्ष्मा नहीं होता और उनका यह मत गिनीपिग पशुओं पर किये गये प्रयोगों के आधार पर अवलम्बित है। उनका कहना है कि राजयक्ष्मा उस मनुष्य में पुनर्संक्रमण होने से होता है, जिसको शिशुकाल में एक बार पहले क्षय-संक्रमण हो चुका है। उनका यह भी मत है कि बाल्यावस्था का यह प्रथम संक्रमण प्रधानतः क्षयी गायों के दूध के द्वारा होता है। क्षय-

कीटाणु पाचक संस्थान के मार्ग से होकर लसिका-ग्रन्थियों में पहुँच जाते हैं और वहाँ वे वर्षों तक निष्क्रिय अवस्था में बने रहते हैं। प्रौढ़ावस्था में जब किसी रोग से शरीर निर्बल हो जाता है तो उनकी रोगोत्पादक शक्ति फिर प्रबल होकर उनसे फेफड़ों में रोग हो जाता है। फेफड़े का क्षय उस वृक्ष का अन्तिम फल होता है, जिसका बीजारोपण शिशुकाल में हो जाता है।

फुफ्फुस क्षय के बारे में डाक्टर हैम्बर्गर का भी यही विचार है कि फेफड़े का क्षय पुराने निवृत्त या गुप्त क्षय का पुनरुद्दीपन होता है, पर इसके लिये नये संक्रमण का होना आवश्यक नहीं है। उनका कहना है कि बालकों में क्षय-रोग का रूप प्रौढ़ावस्था के रोग के रूप से भिन्न होता है। फेफड़े का क्षय जो प्रौढ़ावस्था में बहुत होता है, बच्चों में बहुत कम होता है। परन्तु यह भली प्रकार विदित है कि अधिकांश लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-संक्रमण हो जाता है। ऐसी दशा में यह सिद्धान्त निकालना न्यायसंगत प्रतीत होता है कि राजयक्ष्मा के होने से कई वर्ष पूर्व क्षय-संक्रमण हो जाता है।

हैम्बर्गर की राय में फुफ्फुस क्षय की गति उपदंश के समान होती है जिसमें रोग शान्त रह-रहकर फिर उभड़ता है। प्राथमिक विकार बाल्यकाल में दस वर्ष की आयु से पूर्व हो जाता है। शैशवकाल में यदि संक्रमण की मात्रा अधिक अथवा शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम होती है तो इस प्राथमिक क्षयी-विकार से या तो उग्र व्यापक क्षय हो जाता है अथवा क्षय-कीटाणु रक्त में मिलकर अन्य स्थानों में पहुँच जाते हैं। परन्तु अधिकांश लोगों में यह प्राथमिक क्षयी-विकार हल्का होता है और इसलिए या तो यह बिलकुल अच्छा हो जाता है या सुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। जिनमें क्षय-कीटाणु स्थानान्तरित होकर शरीर के विभिन्न भागों में पहुँच जाते हैं, उनमें द्वितीय श्रेणी के क्षयी-विकारों का, लसिका-ग्रन्थियों, अस्थियों और संधियों के क्षय के रूप में प्रादुर्भाव होता है। दस वर्ष के बाद यक्ष्मा के विभिन्न प्रकार के पुरातन क्षय, स्वरयंत्र का क्षय, कुछ संधि-क्षय, वृक्क-क्षय, त्वचा-क्षय, पार्श्वकला का क्षय इत्यादि तृतीयक रूपों का प्रादुर्भाव होता है। क्षय-रोग के ये तृतीयक रूप शिशुकाल में कभी नहीं मिलते और उपदंश के तृतीयक रूपों की भाँति रोग के प्रारम्भ के वर्षों बाद प्रकट होते हैं।

हैम्बर्गर के मतानुसार राजयक्ष्मा बाल्यावस्था में उपार्जित क्षय का

पुनरुद्दीपन होता है जो वर्षों तक शान्त रहने के बाद किसी कारणवश अनुकूल अवस्था पाकर उभड़ आता है।

क्षयी-विकारों की गुप्तावस्था (Latency of tuberculous lesions)—इस सिद्धान्त पर पहुँचने से पूर्व कि राजयक्ष्मा (प्रौढ़ावस्था का फुफ्फुस क्षय) बाल्यावस्था में उपार्जित क्षय-संक्रमण का पुनरुद्दीपन होता है, यह देखना है कि जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु विना किसी रोग-लक्षण के उत्पन्न किये शरीर में वर्षों तक रह सकते हैं अथवा नहीं। प्रसार सम्बन्धी परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि चाहे मृत्यु किसी कारण से हो, शवों की परीक्षा करने से और जीवित मनुष्यों में यक्ष्मिन-परीक्षा से यह निस्सन्देह सिद्ध हो चुका है कि ६० से ९५ प्रतिशत लोगों के शरीरों में किसी न किसी भाग में क्षयी विकार होते हैं और उनमें से अधिकांश लोग स्वस्थ बने रहते हैं। यह भी बताया जा चुका है कि इन गुप्त क्षयी-विकारों की संख्या प्रथम वर्ष में बहुत कम होती है, परन्तु प्रतिवर्ष क्रमशः बढ़ती जाती है और प्रौढ़ावस्था पहुँचने तक ९० प्रतिशत हो जाती है।

पशुओं पर प्रयोग करने से एक महत्वपूर्ण बात यह और ज्ञात हुई है कि क्षय-कीटाणु बिना किसी स्थूल या सूक्ष्म-विकार के उत्पन्न किए हुए दीर्घकाल तक शरीर में रह सकते हैं। अनेक विशेषज्ञों ने पता लगाया है कि ऐसा मनुष्यों में भी होता है। बर्टिल ने इस दशा को क्षय-रोग की लासिकीय गुप्तावस्था (Lymphoid Latency) का नाम दिया है। उन्होंने कुछ गिनीपिग पशुओं को कई सप्ताह तक क्षय-रोगियों के साथ रक्खा था, और उनको रोगियों के कमरे में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने की और रोगियों के साथ खेलने की छुट्टी दे रक्खी थी। इसके बाद उनको उस समय तक निरीक्षण में रक्खा, जबतक उनकी स्वाभाविक मृत्यु न होगई। जिनमें बीच में क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होगये उनको उसी समय मार डाला गया। इन पशुओं के शवों की परीक्षा करने पर २७ में से १७ में कोई स्थूल क्षयी-विकार नहीं मिले, फिर भी उनकी उदर और वक्ष की लसिका-ग्रन्थियों को निकालकर जब अन्य पशुओं में पिचकारी लगाई गई तो रोग उत्पन्न होगया। ठीक इसी प्रकार की बातें मनुष्य की चीरकर निकाली गई लसिका-ग्रन्थियों के सम्बन्ध में देखी गयी हैं। यद्यपि जाँच करने पर उनमें कोई स्थूल या सूक्ष्म-विकार नहीं दिखाई पड़े, तथापि पशुओं में उनकी पिचकारी लगाने पर क्षय-रोग

उत्पन्न होगया। सन् १८९० ई० में लुमिस ने पता लगाया था कि क्षयरहित मनुष्यों में से २६·६ प्रतिशत लोग क्षय-कीटाणु के गुप्तबाहक होते हैं। इससे भी अधिक प्रतिशत संख्या में कालमेटी को क्षयरहित रोगियों के अस्पतालों में मरे हुये बच्चों में क्षय-कीटाणु गुप्तावस्था में मिले थे। न इन बच्चों के जीवन-काल में क्षय-रोग के कोई लक्षण प्रकट हुए थे और न मरने पर इनके शरीर में कोई क्षयी-विकार पाये गये थे। इन बातों से उन्होंने यह तात्पर्य निकाला है कि लसिका-ग्रन्थियों के संक्रमणों में साधारणतः गुप्त रहने की प्रवृत्ति होती है।

क्षय-रोग की यह लासिकीय गुप्तावस्था वर्षों तक—यथार्थ में जीवन भर—रहती है, परन्तु जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, क्षय-कीटाणु स्थानाबद्ध होते जाते हैं और अभिभूत तन्तुओं में से किसी न किसी स्थान पर सूक्ष्म विकार प्रकट होते जाते हैं। बहुत से लोगों में उनके जीवन-काल में क्षय-रोग के कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते, परन्तु अन्य कारणों से मृत्यु होने के बाद जब उनके शरीर की परीक्षा की जाती है तो उनकी लसिका-ग्रन्थियों, फेफड़ों और पार्श्व-कला में जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु मिलते हैं। जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु केवल पके हुये क्षयी-विकारों में ही नहीं, बल्कि सूत्रोल्वण (Fibroid) और कंकड़ीले (Calcified) विकारों में भी पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि क्षयी-विकारों के कंकड़ीले हो जाने से क्षय-कीटाणुओं की मृत्यु नहीं होती। अनेक विशेषज्ञों की खोज से पता लगा है कि मनुष्य और पशुओं के वक्षस्थल और उदर की लसिका-ग्रन्थियों के खटिक-संचित कंकड़ीले भाग में विषैले और जीवित क्षय-कीटाणु मिलते हैं। कंकड़ीले यक्ष्म प्रधानतः प्रौढ़ावस्था में पाये जाते हैं और दो वर्ष से कम आयुवाले बच्चों में बहुत कम मिलते हैं। इनमें से कुछ तो पूर्णतया सौत्रिकतन्तु के घेरे से घिरे होते हैं, परन्तु अधिकांश पूर्ण रूप से घिरे नहीं होते, इसलिये जब कभी शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है, तो कीटाणु उनसे बाहर निकलकर रक्त या लसिका में पहुँच जाते हैं और उनके प्रवाह के साथ अन्य किसी स्थान पर पहुँचकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। जहाँ एक ओर उनके स्थानान्तरित होने से अन्य स्थान में आत्म-संक्रमण (Autoinfection) होता है वहाँ दूसरी ओर साधारणतः उनसे रोगक्षमता भी उत्पन्न होती है जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

इसप्रकार के क्षयी-विकारों के विस्तृत प्रसार को देखते हुये और इस बात पर विचार करते हुए कि क्षय-कीटाणु बिना किसी शारीरिक विकार उत्पन्न किये शरीर के तन्तुओं में वर्षों तक जीवित बने रहते हैं, गुप्त क्षय का मानना न्याय-संगत प्रतीत होता है। चिकित्सकों को यह स्मरण रखना चाहिये कि इन गुप्त क्षयी-विकारों के इलाज की कोई आवश्यकता नहीं होती। जब इन गुप्त कीटाणुओं से उत्पन्न रोगक्षमता और मनुष्य की प्रतिरोधशक्ति का साम्य किसी कारणवश नष्ट हो जाता है तो इन कीटाणुओं के पुनरुत्तेजित होने से राजयक्ष्मा हो जाता है। इस आत्म-संक्रमण के स्थानान्तरित होने से जो रोग होता है, वह कहाँ होगा और उसका क्या रूप होगा, यह बात इस बात पर उतनी निर्भर नहीं होती कि क्षय-कीटाणु किस स्थान से स्थानान्तरित होते हैं जितनी कि उस व्यक्ति की शरीर की रचनासम्बन्धी विशेषताओं पर।

रोगक्षमता—पाल रोमर द्वारा प्रतिपादित क्षयोत्पत्ति का सिद्धान्त जो हाल में अधिक मान्य होता जाता है और जिसका आधार भी प्रकटतः सुदृढ़ प्रतीत होता है, यह है कि राजयक्ष्मा बाल्यावस्था में उपार्जित क्षय-संक्रमण से उत्पन्न क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है।

अन्य संक्रामक रोगों के सम्बन्ध में यह देखा गया है कि रोग का एक बार आक्रमण होने पर उससे रोगक्षमता उत्पन्न होने के कारण उस रोग के कीटाणुओं से दुबारा संक्रमण नहीं होता। यह बात क्षय-रोग के सम्बन्ध में भी ठीक प्रतीत होती है। बाल्यावस्था में हल्का क्षय-संक्रमण हो जाने से शरीर में कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे फिर बाहरी क्षय-कीटाणुओं से दुबारा संक्रमण नहीं होता। जिस व्यक्ति में बाल्यावस्था में क्षयी-विकार उत्पन्न होकर निवृत्त या शान्त हो जाते हैं वह क्षय-कीटाणुओं के प्रति रोगक्षम हो जाता है।

रोगक्षमता के प्रयोगप्राप्त प्रमाण—कॉक की खोज से यह सिद्ध हो चुका है कि प्रयोगरूप में क्षय-कीटाणुओं को पिचकारी (Inoculation) द्वारा शरीर में प्रविष्ट करने से पशुओं में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। अन्य कई लोगों ने भी इसका समर्थन किया है। किसी स्वस्थ गिनीपिग में क्षय-कीटाणुओं का निवेशन करने पर प्रवेश-व्रण कुछ दिनों में भर जाता है और बाहर से देखने में अच्छा हो जाता है। परन्तु १० से १४ दिन बाद उस निवेशन स्थान पर एक गिल्टी बन जाती है जो शीघ्र पककर फूट जाती है और

वहाँ एक व्रण बन जाता है जो पशु की मृत्यु तक अच्छा नहीं होता। परन्तु किसी क्षयी पशु में क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाने पर परिणाम भिन्न होता है। प्रवेशव्रण तो अच्छा हो जाता है, पर गिल्टी नहीं बनती और कुछ दिन के बाद प्रवेशस्थान कड़ा और लगभग आध इञ्च के व्यास में काला-सा हो जाता है। कुछ दिन और बीतने पर उस स्थान में गलाव पड़ जाता है। गलित तन्तु छँटकर एक शुद्ध व्रण बन जाता है जो शीघ्र अच्छा हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वस्थ पशुओं को संक्रामित करने पर प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं, परन्तु क्षयी पशुओं में नहीं फूलतीं।

इस सम्बन्ध में रोमर और हैम्बर्गर ने जो कार्य किया है उससे क्षय-संक्रमणसम्बन्धी विचार में बहुत कुछ परिवर्तन होगया है और उनसे क्षय-रोग से बचने के जिन उपायों की ओर निर्देश होता है वे वास्तव में क्रान्तिकारी हैं। उन्होंने पता लगाया है कि क्षय-रोग में पुनर्संक्रमण उतना ही कठिन एवं असम्भव होता है जितना उपदंश रोग में। उन्होंने क्षय-कीटाणुओं को त्वचा बेधकर, भोजन के साथ, श्वास के साथ इत्यादि सभी मार्गों से शरीर में प्रविष्ट करके संक्रमण उत्पन्न करने की चेष्टा की, परन्तु क्षयी पशुओं में कोई नया क्षयी-विकार नहीं उत्पन्न हो सका। इसके विपरीत स्वस्थ पशुओं में संक्रमण होकर रोग से उनकी मृत्यु होगई। उन्होंने न केवल गिनीपिग और खरगोशों ही में, बल्कि भेड़, कुत्ते और बन्दरों में भी संक्रमण उत्पन्न करने की चेष्टा की, परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। रोमर को पता लगा कि क्षय-कीटाणुओं की जिस मात्रा से एक स्वस्थ भेड़ में संक्रमण होकर आठ सप्ताह में व्यापक क्षय से उसकी मृत्यु हो जाती है, उस मात्रा से एक क्षयी भेड़ की कुछ हानि नहीं होती। बन्दरों में भी यही बात पाई गई। रोमर की खोज से यह विदित होता है कि यह रोगक्षमता वंश-परम्परा द्वारा अवतरित नहीं होती, यहाँ तक कि गर्भवती माता में मौजूद होने पर भी सन्तान में नहीं पहुँचती।

रोमर और हैम्बर्गर की प्रयोगरूपी खोज से एक और महत्वपूर्ण बात यह ज्ञात हुई है कि यदि पुनर्संक्रमण में कीटाणुओं की मात्रा कम होती है तो रोगक्षमता पूर्ण मिलती है और प्रवेशव्रण बहुत शीघ्र अच्छा हो जाता है। और यदि पुनर्संक्रमण में क्षय-कीटाणुओं की मात्रा अत्यधिक होती है तो पशु की मृत्यु शीघ्र हो जाती है। साधारणतः रोगक्षमता उन पशुओं में मिलती है जो कुछ समय (३ या ४ मास) पहले से क्षयी होते हैं।

इन प्रयोगात्मक खोजों से जो बातें ज्ञात हुई हैं वे दृढ़ आधार पर अवलम्बित हैं और विभिन्न देशों में अनेक लोगों ने उनका समर्थन किया है। परन्तु क्षयोत्पत्ति के अध्ययन में कई और महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। यह भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर कि अधिकांश लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-संक्रमण हो जाता है, यह प्रश्न न्यायपूर्वक पूछा जा सकता है कि क्या प्रौढ़ावस्था में भी क्षय-संक्रमण हो सकता है? क्षय-रोग की पूर्वरक्षा के उपायों के विचार में यह प्रश्न बड़े महत्व का है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि शिशुकाल और बाल्यकाल के उपार्जित क्षयी-विकारों से प्रौढ़ावस्था में राजयक्ष्मा कैसे हो जाता है? क्या राजयक्ष्मा की उत्पत्ति नये संक्रमण से होती है अथवा ऐसे पुराने क्षयी-विकारों से, जो पहले शान्त रहते हैं और फिर किसी कारणवश जाग्रत होकर बढ़ने लगते हैं और अन्य स्थानों में फैलने लगते हैं?

मनुष्यों में पुनर्संक्रमण की विधि— जिस मनुष्य में एक बार संक्रमण हो जाता है उसमें पुनर्संक्रमण दो प्रकार से हो सकता है—(१) आभ्यन्तरिक (Endogenous) अर्थात् उसी मनुष्य के शरीर के भीतर के कीटाणुओं से, (२) बाह्यान्तरिक (Exogenous) अर्थात् शरीर के बाहर से अन्य किसी मनुष्य या पशु से आये हुए कीटाणुओं से। आभ्यन्तरिक या आत्म-पुनर्संक्रमण बड़ी सरलता से हो सकता है। जब फेफड़े में कोई क्षयी-विकार पककर श्वास-नल में फूट जाता है तो खाँसने से क्षयी-द्रव्य श्वास-नलिकाओं के द्वारा फेफड़े के अन्य भाग में पहुँच जाता है और वहाँ इसके ठहर जाने से नये क्षयी-विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसी भाँति स्वरयंत्र और अँतड़ियों में भी क्षय-रोग हो सकता है। अँतड़ियों में रोग कफ के निगलने से हो सकता है। आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण सदा श्वास-नलिकाओं के द्वारा ही नहीं होता, किन्तु रक्तद्वारा भी होता है। जब क्षयी-विकार पककर किसी रक्तनाड़ी में फूट जाते हैं तो क्षय-कीटाणु रक्त में मिलकर शरीर के अन्य भागों में पहुँच जाते हैं। इसके अतिरिक्त लसिकाद्वारा भी पुनर्संक्रमण हो सकता है। क्षयी द्रव्य लसिका में मिलकर उसके साथ लसिका-ग्रन्थियों इत्यादि में पहुँच जाता है।

बाह्य पुनर्संक्रमण का होना यदि सम्भव हो तो बहुत ज्यादा होना चाहिए, क्योंकि क्षय-कीटाणु विश्वव्यापी होते हैं और यह स्पष्ट है कि जिस

व्यक्ति को एकबार क्षय-रोग होगया है वह प्रवणशील होता है, अन्यथा उसको प्रथम संक्रमण से रोग क्यों हो जाता ? संक्रमण का होना अत्यन्त सहज है क्योंकि यह देखा जाता है कि जब किसी क्षयरहित बच्चे का क्षय-रोगी से सम्पर्क होता है तो उसमें तुरन्त संक्रमण हो जाता है। हैम्बर्गर ने एक शिशु के बारे में लिखा है कि उसमें केवल एक घंटे के संसर्ग से संक्रमण होगया था। प्रौढ़ लोगों में भी यही बात पाई जाती है। जब ऐसे लोग, उदाहरणार्थ असभ्य-जातियों के लोग, जिनमें बाल्यावस्था में संक्रमण नहीं होता, क्षयी लोगों के सम्पर्क में आते हैं तो उनको तुरन्त क्षय-संक्रमण होकर रोग हो जाता है।

इन पूर्व पक्षों को जो सावधानी से किये गये अन्वेषणों से ज्ञात बातों पर स्थित हैं, मानते हुए अब यह देखना है कि मनुष्य में पुनर्संक्रमण के प्रश्न के सम्बन्ध में चिकित्सानुभव हमको क्या बतलाता है, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्यों में प्रयोगविधि से काम नहीं लिया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह देखने की आवश्यकता है कि (१) क्षय-रोगियों के अस्पतालों में कितना बाह्य और कितना आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण होता है, (२) उन नीरोग मनुष्यों में जो क्षय-रोगियों के साथ रहते हैं, क्षय-रोग कितना होता है और (३) जिन लोगों में बाल्यावस्था में क्षय-संक्रमण नहीं हुआ है, उनमें संक्रमण का क्या प्रभाव होता है।

क्षय-रोगियों के अस्पतालों में पुनर्संक्रमण—चिकित्सानुभव से ज्ञात हुआ है कि किसी व्यक्ति को उसके जीवनकाल में उद्भेदक रोग दुबारा बहुत कम होते हैं। यह भी देखा गया है कि अस्पताल के जिस कमरे में चेचक इत्यादि संक्रामक रोग के रोगी रहते हैं वहाँ अधिक तीव्र रोगवालों से हल्के रोग वालों को छूत लगने का भय नहीं होता। लगभग सभी संक्रामक रोगों में यह देखा जाता है कि जबतक रोग मौजूद रहता है तबतक उस रोग के बाहरी कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होता। क्षय-रोगियों के अस्पतालों के अनुभवों से क्षय-रोग के सम्बन्ध में भी इसीप्रकार की सूचना मिलनी चाहिये। इन अस्पतालों में अपने सहरोगियोंद्वारा प्रक्षिप्त क्षय-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण होने की सभी सुविधाएँ होती हैं। क्योंकि यह मानना पड़ेगा कि अस्पतालों में चाहे कितनी ही सफ़ाई क्यों न रक्खी जाय, अनेक रोगियों के एकत्रित होने पर थूक की फुहार के द्वारा संक्रमण होना नहीं रोका जा सकता। गिनीपिग

पशुओं को पिँजड़ों में बन्द करके क्षय रोगियों के स्वच्छ से स्वच्छ कमरे में रखने पर भी उनको शीघ्र क्षय-रोग हो जाता है। परन्तु अभी तक ऐसा देखने में नहीं आया है कि किसी उग्र और प्रगतिशील रोग से पीड़ित रोगी से उसके साथ एक कमरे में रहनेवाले किसी हल्के या शान्त रोगवाले रोगी को पुनर्संक्रमण होगया हो और वह भी ऐसी दशा में जब उग्र रोगवाले रोगी के कफ में असंख्य कीटाणु बाहर निकलते हैं और थूक की फुहार से संक्रमण होने की बहुत सुविधा होती है।

अनेक रोगी जिनको यथार्थ में क्षय-रोग नहीं होता, महीनों तक स्वास्थ्यशालाओं में रहते हैं, परन्तु अभी तक यह देखने में नहीं आया है कि वहाँ ठहरने के कारण उनमें से किसी को क्षय-रोग होगया हो। यही कारण है कि अस्पतालों और स्वास्थ्यशालाओं में बद्ध रोगियों (जिनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं निकलते हैं) को खुले रोगियों (जिनके कफ में क्षय-कीटाणु निकलते हैं) से पृथक नहीं रक्खा जाता, यद्यपि बहुत से चिकित्सकों का यह दृढ़ विश्वास होता है कि क्षय-रोग के फैलने में फुहार का बड़ा प्रभाव होता है।

यदि ऐसे प्रौढ़ मनुष्यों में, जिनमें बाल्यकाल में संक्रमण हो चुका है, पुनर्संक्रमण हो सकता है तो अस्पताल के कर्मचारियों में जिनका रोगियों से घनिष्ठ सम्पर्क रहता है, संक्रमण अवश्य होना चाहिए। परन्तु इस व्यवसाय के सहस्रों व्यक्तियों के अनुभव से विदित होता है कि उनमें अन्य लोगों की अपेक्षा न क्षय-रोग अधिक होता है, न क्षयज मृत्यु। इस विषय के आँकड़े सबसे पहले थ्योडोर विलियम्स ने प्रकाशित किये थे। उन्होंने दिखलाया कि क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान से बहुत पहले भी जब कि रोग के प्रसार के रोकने का कोई उपाय काम में नहीं लाया जाता था, अस्पताल के कर्मचारियों में क्षय-रोग होते नहीं देखा गया था। सन् १८४६ ई० से, जिस वर्ष लन्दन नगर में क्षय-रोगियों के लिए ब्राम्पटन अस्पताल खोला गया था, सन् १८८२ ई० तक उक्त अस्पताल के विभिन्न कर्मचारियों में शहर के अन्य नागरिकों की अपेक्षा अधिक क्षय नहीं हुआ, यद्यपि इनमें से बहुत से कर्मचारी वर्षों तक लगातार वहाँ काम करते रहे। बाद को एक दूसरे निबन्ध में विलियम्स ने सन् १९०९ ई० तक के आँकड़ों का संकलन किया है। इस काल में भी वही दशा मिली है। हाल में अस्पताल के कर्मचारियों में क्षय-

रोग की कमी का कारण स्वच्छता की उन्नति, कफ की शुद्धि इत्यादि कही जा सकती है, परन्तु सन् १८२२ ई० से पूर्वकाल के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

फ्रांस और जर्मनी के अस्पतालों से भी इसीप्रकार के आँकड़े संकलित करके अनेक लोगों ने प्रकाशित किये हैं। डा० सागौन ने विभिन्न देशों की स्वास्थ्यशालाओं से बड़े शिक्षाप्रद आँकड़ों का संकलन किया है जिनसे यह तात्पर्य निकलता है कि क्षय-रोगियों के साथ व्यवहार करनेवाले लोगों में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक क्षय-रोग नहीं होता।

ऐसे आँकड़ों को कुछ लोगों ने क्षय-रोग के संक्रामक न होने के प्रमाण में उद्धृत किया है, परन्तु अब तक जो बातें ज्ञात हुई हैं उनके विचार से इन आँकड़ोंद्वारा केवल इतना ही सिद्ध होता है कि क्षय-रोग में पुनर्संक्रमण नहीं होता।

दाम्पत्यिक क्षय—जो लोग पहले से संक्रामित नहीं होते उनमें कितना शीघ्र क्षय-रोग हो जाता है इस बात पर विचार करते हुए यही अनुमान होता है कि क्षयी पतियों की पत्नियों में और क्षयी पत्नियों के पतियों में अधिकांश को क्षय-रोग हो जाना चाहिए। उपदंश रोग में ऐसा ही होता है। दम्पति के एक व्यक्ति से दूसरे को रोग यदि पहले से ही न हो चुका हो तो अवश्यमेव लग जाता है। परन्तु बहुत काल तक इस रहस्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा कि पति-पत्नी दोनों में, जिनका पिता-पुत्र से भी परस्पर अधिक घनिष्ठ सम्पर्क होता है, क्षय-रोग इतना कम क्यों होता है? जिन परिवारों में लगभग सब या अधिकांश बच्चों में क्षय-रोग हो जाता है उनमें भी ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि उनके माता-पिता दोनों में क्षय-रोग हो। पहले क्षय-रोग के संक्रामक न होने के पक्ष में यह एक प्रबल युक्ति बतलाई जाती थी, परन्तु अब यह ज्ञात हो चुका है कि इसका कारण रोगक्षमता होती है जो संक्रमण के हल्के होने से रोग न होकर उत्पन्न हो जाती है।

कई वर्षों तक डा० फिशबर्ग एक परोपकारिणी समिति के चिकित्सक थे और उनके निरीक्षण में प्रतिवर्ष लगभग ८०० से १००० तक क्षय रोगी रहते थे। ये रोगी निर्धन होने के कारण जन-संकीर्ण कोठरियों में रहते थे, जहाँ दम्पतियों में एक से दूसरे व्यक्ति को संक्रमण होने की सभी सुविधाएँ थीं। वास्तव में अधिकांश रोगी या रोगिनी अपनी नीरोग पत्नी या पति के साथ

एक ही चारपाई पर सोते थे । फिर भी ऐसे बहुत कम उदाहरण देखने में आये थे जिनमें क्षय-रोग पति-पत्नी दोनों में पाया गया हो । जिन विधवाओं के पतियों की मृत्यु क्षय-रोग से हुई थी उनमें क्षय-रोग बहुत कम होते देखा गया था । १७० दम्पतियों में से जिनमें एक ही एक व्यक्ति को क्षय-रोग था, २.५ प्रतिशत में पति-पत्नी दोनों में क्षय-रोग मिला था और यह भी उस दशा में, जब कि उनमें से अधिकांश एक दूसरे के बहुत सन्निकट रहते थे, यहाँ तक कि एक ही चारपाई पर सोते थे । जब ऐसी दशाओं में भी क्षय-संक्रमण नहीं होता तो यह कहा जा सकता है कि अन्य प्रौढ़ मनुष्यों में नहीं हो सकता ।

डा० फिशबर्ग का यह अनुभव विचित्र नहीं है । डा० मंगौर को ४४० ऐसे दम्पतियों में से जिनमें एक ही व्यक्ति को क्षय-रोग था, केवल १६ दम्पतियों में दूसरे व्यक्ति में भी रोग मिला । टाम को ४०२ दम्पतियों में से केवल १२ ऐसे मिले थे जिनमें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में सम्भवतः संक्रमण हुआ था । अन्य कई लोगों ने इसीप्रकार की जाँचें की हैं और उनसे भी यही परिणाम निकलता है कि पति को पत्नी से या पत्नी को पति से क्षय-रोग बहुत कम लगता है । हाल में डा० लेवी ने ३१५ निर्धन दम्पतियों की जाँच की है, जिनमें ३४ प्रतिशत एक चारपाई पर सोते थे । इनमें केवल २.८ प्रतिशत में दाम्पत्यिक संक्रमण मिला था । १५५३ क्षयी दम्पतियों में डा० बौट को केवल ७ प्रतिशत में दोनों व्यक्तियों में क्षय-रोग मिला था । इस विषय के जितने आँकड़े प्रकाशित हुए हैं उनमें सबसे बड़ी प्रतिशत संख्या यही है और यह स्मरण रखने योग्य है कि यह ठीक वही अनुपात है जिसमें संसार की मानव जाति में क्षय-रोग पाया जाता है ।

इस सम्बन्ध की एक विचित्र घटना विशेष उल्लेखनीय है । डा० प्रेट्रुश्की ने सबसे पहले इसका वर्णन किया था और इसको "मातृ रोगक्षमता" का नाम दिया था । एक स्त्री ने क्षयी पुरुष के साथ विवाह किया और उससे उसको सन्तान उत्पन्न हुई । अधिकांश सन्तान को क्षय-रोग होगया था या उससे मृत्यु होगई । परन्तु उसको स्वयं क्षय-रोग नहीं हुआ । अन्य लोगों ने भी ऐसी घटनाएँ देखी हैं । पुरुषों में भी इसके अनुरूप घटनाएँ देखी गई हैं जिनको "पिता की रोगक्षमता" कहा जा सकता है । एक मनुष्य किसी स्त्री से विवाह करता है जिसकी क्षय-रोग से मृत्यु हो जाती है । वह फिर दूसरा विवाह

करता है और दूसरी स्त्री की भी क्षय-रोग से मृत्यु हो जाती है, परन्तु वह स्वयं नीरोग बना रहता है। इसप्रकार एक मनुष्य की क्रमशः तीन स्त्रियों की क्षय-रोग से मृत्यु होगई थी, पर वह नीरोग बना रहा। ऐसे लोगों की सन्तान में साधारणतः क्षय-रोग हो जाता है।

इन बातों के विस्तृत वर्णन करने की इसलिए आवश्यकता हुई कि क्षयोत्पत्ति के सम्बन्ध में ये बातें बड़े महत्व की हैं। इनसे विदित होता है कि (१) क्षय-संक्रमण केवल एक बार हो सकता है और (२) राजयक्ष्मा केवल उन्हीं लोगों में होता है जिनके शरीर की रचना में किसी कारणवश क्षय-ग्रहणशीलता होती है। चूँकि दम्पति के क्षयरहित व्यक्ति को बाल्यकाल में संक्रमण हो लेता है, इसलिए उसको दूसरे क्षयी व्यक्ति के साथ प्रसंग करने के कारण पुनर्संक्रमण का जो अवसर मिलता है इससे रोग की उत्पत्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। क्षय-रोग होना या न होना उस दम्पति के क्षयरहित व्यक्ति की शरीर की रचना के ऊपर निर्भर होता है, न कि पुनर्संक्रमण के सुअवसरों पर।

क्षय-संक्रमण से उत्पन्न रोगक्षमता के चिकित्सानुभव से प्राप्त प्रमाण—हाल में जाँच करने से ज्ञात हुआ है कि क्षय-रोगियों के रक्त में क्षय-कीटाणुओं का मिलना कोई असाधारण बात नहीं है, फिर भी उनमें उग्र बजरीले क्षय के लक्षण व्यक्त नहीं होते, जैसा कि होना चाहिए। रोगक्षमता सम्बन्धी इसीप्रकार की घटनाएँ उपदंश और शीत ज्वर में भी देखी गई हैं। इससे विदित होता है कि क्षय-संक्रमण में कीटाणु और मनुष्य शरीर में परस्पर एक दूसरे के प्रति क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सानुभव से ज्ञात कुछ बातें ऐसी हैं जिन पर अब तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा था, परन्तु अब क्षय-रोगी में क्षय-कीटाणुओं के प्रति उत्पन्न रोगक्षमता के मानने से वे समझ में आ जाती हैं और उनसे इस धारणा का भी समर्थन होता है कि पशुओं में प्रयोगद्वारा जो बातें ज्ञात होती हैं उनमें से कुछ मनुष्यों के सम्बन्ध में भी उपयुक्त होती हैं। असंख्य क्षय-कीटाणुओं से लदा हुआ कफ क्षय-रोगी के कंठ, मुख, होंठ इत्यादि से होकर निकलता रहता है, फिर भी वहाँ की श्लेष्मकला और ग्रीवा की लसिका-ग्रन्थियों में क्षय-रोग प्रौढ़ों में बहुत कम होता है। और लोगों की तरह क्षय-रोगियों को भी प्रायः अपने दाँत उखड़वाने पड़ते हैं और टॉन्सिल (Tonsil) निकलवाने

पड़ते हैं, परन्तु फिर भी इन स्थानों में क्षय नहीं होता, यद्यपि क्षय-कीटाणुओं से परिपूर्ण कफ खुले हुए व्रण पर लगा रहता है।

बहुत दिनों से यह देखा गया है कि जिन बालकों में लसिका-ग्रन्थियों का क्षय होता है उनको आगे चलकर फेफड़ों का सक्रिय क्षय बहुत कम होता है। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि ऐसे बालक राजयक्ष्मा के प्रति रोगक्षम होते हैं। इसी भाँति अस्थि, संधि और त्वचा के क्षयवाले रोगियों में भी राजयक्ष्मा बहुत कम होता है। अमेरिका की कोलराडो रियासत की जनसंख्या का अधिकांश भाग उन लोगों की सन्तान हैं जो क्षय-रोग के कारण उस रियासत में जा बसे थे। अब इस रियासत के निवासियों में क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता पाई जाती है। कुछ लोग इसका श्रेय वहाँ की जलवायु को देते हैं, परन्तु इससे इस घटना की सन्तोषपूर्वक व्याख्या नहीं होती। प्राकृतिक छाँट से रोगग्रहणशील वंशों का लोप होकर केवल उन्हीं की सन्तान चलती हैं जिनमें प्रतिरोधशक्ति अधिक होती है। रोगियों की सन्तान होने पर भी उनका शेष रह जाना सूचित करता है कि उनमें असाधारण प्रतिरोधशक्ति होती है जो उनकी सन्तान में भी आ जाती है। चिकित्सानुभव से भी ज्ञात होता है कि जो क्षय-रोगी क्षयी माता-पिता के सन्तान होते हैं अथवा जिनको स्वयं बाल्यावस्था में ग्रन्थि क्षय हो जाता है उनमें रोग हल्का होता है और उसकी गति कम भीषण होती है।

अस्तु, क्षय-रोगियों में क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता अनेक चिकित्सानुभवसिद्ध बातों से प्रमाणित होती है जो अन्यथा समझ में नहीं आती।

क्षयरहित मनुष्यों में क्षय-रोग—जहाँ एक ओर संक्रामित मनुष्यों में क्षय-कीटाणुओं के पुनर्संक्रमण के प्रति रोगक्षमता दिखाई पड़ती है वहाँ दूसरी ओर यह देखा जाता है कि संक्रमणरहित मनुष्य बहुत क्षयग्रहणशील होते हैं। और जब कभी उनमें संक्रमण होता है तो उसीप्रकार का रोग होता है जैसा कि पशुओं में प्रयोगद्वारा उत्पन्न होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए कि नवजात शिशु—चाहे वे क्षयी वंशों से उत्पन्न हुए हों या अक्षयी वंशों से—सदैव क्षय-संक्रमण से मुक्त होते हैं, यह धारणा स्वतः उत्पन्न होती है कि उनमें संक्रमण होने पर जो रोग होगा, वह पशुओं के प्रयोगोत्पादित रोग के समान उग्र और प्रगतिशील होगा। किन्तु इसका पता लगाना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह स्वयं विदित है कि शिशुओं पर इस

प्रकार के प्रयोग नहीं किये जा सकते। परन्तु यहूदियों में खतना करते समय नवजात शिशुओं में क्षय-संक्रमण हो जाने के कुछ उदाहरण देखने में आये हैं। इनमें यह देखा गया है कि बच्चे को तुरन्त क्षय-रोग हो जाता है, रोग की गति बड़ी तीव्र होती है और प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियाँ भी रोगाक्रांत हो जाती हैं। इसके बिलकुल विपरीत प्रौढ़ों में संक्रमण के हल्केपन के उदाहरण कसाइयों और शवच्छेदकों में देखने में आते हैं। इनमें अकस्मात् उँगली कट जाने से प्रवेशन स्थान पर केवल स्थानाबद्ध और हल्का क्षय-रोग होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे कुछ और प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह निस्सन्देह विदित होता है कि प्रौढ़ मनुष्यों में प्रयोगद्वारा भी क्षय-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण उत्पन्न नहीं किया जा सकता। फरवरी, सन् १९०० ई० में डा० फेलिक्स क्लैम्परर ने अपनी भुजा में त्वचा के नीचे पशु-कीटाणु की पिचकारी लगाई थी। दस मास के बाद पिचकारी के स्थान को, जो कुछ कड़ा पड़ गया था, काटकर अनुवीक्षण यंत्रद्वारा परीक्षा करने पर उसमें सुसङ्गठित दानेदार तन्तु मिला जिसमें दैत्य सेलें भी थीं, परन्तु क्षय-कीटाणु नहीं मिले। इससे विदित होता है कि विशिष्ट क्षयी-प्रक्रिया नहीं थी। एक और चिकित्सक ने, जिसको चौदह वर्ष से क्षय-रोग था, अपने शरीर में पशु-कीटाणुओं की पिचकारी लगवाई थी। चौदह पिचकारी लगाने पर भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। चार क्षय-रोगियों में गिनीपिग पशुओं के क्षयी लसिका-तंतुओं की ३९ पिचकारी लगाई गई थी। इससे जो स्थानिक विकार उत्पन्न हुए थे वे बहुत क्षुद्र थे, किसी में भी व्यापक प्रभाव नहीं हुआ था। बल्कि रोगी कहते थे कि प्रयोगकाल में उनको कुछ लाभ हुआ था। अन्य अनेक चिकित्सकों ने भी इसीप्रकार के प्रयोग किये हैं और यह बड़े महत्व की बात है कि चिकित्सकों के ये सभी प्रयोगिक संक्रमण हानिरहित सिद्ध हुए हैं।

राजयक्ष्मा रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है—उपरोक्त प्रयोगज्ञात तथा चिकित्सानुभवसम्बन्धी बातों से यह स्पष्ट है कि क्षय-कीटाणुओं का संक्रमण या प्रवणशीलता दोनों में से अकेले किसी से क्षय-रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। संक्रमण होने पर जहाँ एक को रोग होता है तो अनेक ऐसे होते हैं जो नीरोग बने रहते हैं। यथार्थ में बाल्यावस्था में जो स्वतः संक्रमण होता है उससे शरीर में कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे क्षय-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होता।

यह भी स्पष्ट है कि राजयक्ष्मा केवल उन्हीं व्यक्तियों में होता है, जिनमें बाल्यावस्था में संक्रमण तो हो जाता है; परन्तु जो युवावस्था तक नीरोग बने रहते हैं।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राजयक्ष्मा केवल उन्हीं लोगों में हो सकता है, जो पूर्व संक्रमण से कुछ रोगक्षम हो जाते हैं।

वास्तव में राजयक्ष्मा स्वयं रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो रोगी की उग्रव्यापक क्षय होकर उन लोगों की तरह मृत्यु हो जाती जिनमें पूर्वसंक्रमण न होने के कारण रोगक्षमता का अभाव होता है। यह रोगक्षमता साधारणतः मनुष्य की रक्षा के लिए पर्याप्त होती है, परन्तु कुछ विशेष दशाओं में यह असमर्थ हो जाती है और उस समय पुनर्संक्रमण हो सकता है। यह पुनर्संक्रमण बाह्य कीटाणुओं से भी हो सकता है, क्योंकि क्षय-कीटाणु विश्वव्यापी होते हैं और उनसे बचना कठिन होता है, और शरीर के भीतर भी उन कीटाणुओं की संख्यावृद्धि और स्थानान्तरित होने से हो सकता है जो शरीर के अन्दर निवृत्त या गुप्त अवस्था में क्षयीविकारों में रहते हैं।

संक्रामक रोगों में उपार्जित रोगक्षमता पूर्ण नहीं होती। यह केवल सापेक्षिक और जीवन की साधारण अवस्था में पर्याप्त होती है, परन्तु विशेष आपत्तिकाल में अपर्याप्त होती है। बाल्यावस्था में क्षय-कीटाणुओं के संक्रमण से उपार्जित रोगक्षमता के सम्बन्ध में भी यही बात ठीक प्रतीत होती है। इससे एक साधारण मनुष्य की बाह्य क्षय-कीटाणुओं के पुनर्संक्रमण से रक्षा होती रहती है, परन्तु जब इसमें कुछ कमी हो जाती है तो पुनर्संक्रमण से व्यापक क्षय न होकर केवल स्थानिक क्षय होता है। चूँकि शरीर का सबसे अधिक ग्रहणशील भाग फेफड़ा होता है, इसलिए यह स्थानिक क्षय अन्य अवयवों की अपेक्षा फेफड़ों में अधिक होता है।

पशु-कीटाणुओं के संक्रमण से प्राप्त रोगक्षमता—कुछ विशेषज्ञों का मत है कि प्रौढ़ावस्था में जो रोगक्षमता देख पड़ती है और जिसके कारण मनुष्य-कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होने पाता, वह बाल्यावस्था में पशु-कीटाणुओं से संक्रमण हो जाने से उत्पन्न होती है। डा० क्लाइव रिवियरी मनुष्यजाति को इसप्रकार पशु-कीटाणुओं से कृत्रिम तौर पर संक्रमण कराकर रोगक्षम बनाने के पक्ष में है। उनका कहना है कि जब तक संक्रमण के मानव उद्गम स्थान बिलकुल दूर न किये जा सकें अथवा कृत्रिम रोगक्षमता उत्पन्न न की जा सके तब तक दूधद्वारा पशु-कीटाणुओं से संक्रमण का होना क्षय-रोग के

संग्राम में सबसे बड़ा सहायक है। यह पहले कहा जा चुका है कि पशु-कीटाणुकृत संक्रमण बहुत कम घातक होता है और इससे मनुष्य की मनुष्य क्षय-कीटाणुओं के संक्रमण से रक्षा हो सकती है। यह इस बात से विदित होता है कि जिन लोगों में पशु-कीटाणुकृत ग्रन्थियों, अस्थियों इत्यादि का क्षय-रोग हो जाता है उनमें राजयक्ष्मा बहुत कम होता है। इस विषय में एडिनबर्ग नगर के, जहाँ पशु-कीटाणुकृत क्षय बहुत फैला हुआ है, डा० मैकलीन द्वारा संकलित आँकड़े बड़े महत्व के हैं। उन्होंने पता लगाया है कि वीयना नगर की अपेक्षा एडिनबर्ग नगर में चार वर्ष की आयु तक क्षय-संक्रमण अधिक होता है जिससे दुग्धज संक्रमण की अधिकता सूचित होती है। परन्तु राजयक्ष्मा से एडिनबर्ग की अपेक्षा वीयना में तिगुनी मृत्यु होती हैं। योरोप के अन्य सभ्य देशों की तुलना में उदर क्षय की अधिकता और राजयक्ष्मा की कमी समस्त ग्रेटब्रिटेन की एक विशेषता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि पशु-कीटाणुकृत संक्रमण पहले अधिक हो जाने से राजयक्ष्मा से, जो कि मनुष्य क्षय-कीटाणुओं से होता है, लोगों की कुछ रक्षा होती रहती है। ब्राउन्ली ने पता लगाया है कि इङ्गलैंड के उन प्रान्तों में राजयक्ष्मा कम होता है जिनमें बाल्यकाल में क्षय-रोग से मृत्यु अधिक होती है और जहाँ से क्षय-संक्रामित दूध लन्दन नगर को अधिक आता है।

रोगक्षमता का ह्रास—यह स्पष्ट है कि राजयक्ष्मा का विकास केवल बाल्यावस्था के संक्रमण की तीव्रता ही पर निर्भर नहीं होता। शरीररूपी भूमि की, जिस पर कीटाणुओं का आक्रमण होता है, रचना का महत्व होता है। कुछ लोगों की इतने हल्के संक्रमण से रोग होकर मृत्यु हो जाती है, जितने से एक साधारण व्यक्ति की कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इससे विदित होता है कि शरीर की प्रवणशीलता का बड़ा प्रभाव होता है। जैसा कि पूर्व परिच्छेद में बताया गया है, यह प्रवणशीलता क्या चीज़ होती है, इस पर अभी तक पर्य्याप्त प्रकाश नहीं पड़ा है। अनेक भौतिक, रासायनिक और शारीरिक परिवर्तनों से जिनसे लोग अभी तक अनभिज्ञ है, इस रोगक्षमता का ह्रास हो सकता है। यह बात उन बच्चों में देखने आती है जो क्षय-कीटाणुओं से संक्रामित होने पर भी बढ़ते रहते हैं। परन्तु जब खसरा, कुकर खाँसी इत्यादि किसी रोग के आक्रमण से इनकी रोगक्षमता का ह्रास हो जाता है, जैसा कि इन रोगों के दौरे में यक्ष्मिन-परीक्षा के ऋणात्मक

होजाने से विदित होता है, तो गुप्त क्षयी-विकारों के पुनरुद्दीपित हो जाने से क्षय-रोग हो जाता है। अन्य ज्वर रोगों में भी ऐसा होता है, परन्तु अभी तक इस बात का पता नहीं लगा कि इन संक्रामक रोगों के हो जाने से शरीर में क्या क्या भौतिक और रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं और इनका क्या प्रभाव पड़ता है?

क्षयोत्पत्तिसम्बंधी प्रश्न के हल करने के मार्ग में यह समस्या कि क्षय-प्रवणशीलता क्या वस्तु है, एक ऐसा रोड़ा है, जिसपर सब सिद्धान्त आकर अटक जाते हैं। पशुओं पर प्रयोग, मनुष्यों में चिकित्सासम्बन्धी अनुभव और जनशास्त्र (Demography) के अध्ययन से जो बातें ज्ञात हुई हैं उनसे इस प्रश्न पर अभी तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। ऐसा कोई कारण या कारण समूह नहीं है जो सब रोगियों पर लागू हो सके। जैसा कि डा० मार्टियस का कथन है, क्षय-प्रवणशीलता कोई एक ऐसी अखंड विशेषता नहीं होती जो केवल उन्हीं लोगों में पाई जाती हो जिनको क्षय-रोग होता है या जिसका उन लोगों में पूर्ण अभाव होता हो जो संक्रमण होने पर भी रोग से बच जाते हैं। यह एक जटिल वस्तु प्रतीत होती है। प्रत्येक व्यक्ति में शरीररचना और इन्द्रिय व्यवहार सम्बन्धी कितनी ही ऐसी बातें होती हैं जिनमें से दशा विशेषों में प्रत्येक से पृथक् पृथक् अथवा कई एक के साथ मिल जाने से क्षय-रोग हो जाता है। और फिर यह भी नहीं कि इन बातों में कोई स्थिरता होती हो। भिन्न भिन्न दशाओं में भिन्न भिन्न बातों के भिन्न भिन्न संयोग हो सकते हैं। इस विचार दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति क्षय-प्रवणशील कहा जा सकता है, परन्तु भिन्न भिन्न व्यक्तियों की प्रतिशोधशक्ति में अनेक प्रकार के अन्तर होते हैं, जो विभिन्न प्रवणशील कारणों के आकस्मिक संयोग पर निर्भर होते हैं। और इन प्रवणशील कारणों पर भी मनुष्य के जीवन-काल में जो प्राणशक्ति सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते हैं, उनका प्रभाव पड़ता है। अस्तु, प्रवणशीलता के भी, अत्यन्त रोगग्रहणशीलता से लेकर अत्यन्त रोगक्षमता तक विभिन्न दर्जे होते हैं। अतएव इन बातों से क्षय-रोग के विभिन्न रूप-भेदों का कारण कुछ अंश तक समझ में आ सकता है।

आभ्यन्तरिक और बाह्य पुनर्संक्रमण—इस बात पर विचार करते हुए कि क्षय-रोग उस व्यक्ति में होता है जिसमें पूर्व संक्रमण से कुछ रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है और जिसके शरीर के किसी भाग में क्षयी-विकार

निवृत्त या गुप्त अवस्था में बने रहते हैं, यह प्रश्न उठता है कि फेफड़े के इस स्थानिक क्षयी विकार का पुनरुद्दीपन बाहर के नये कीटाणुओं के पुनर्संक्रमण से होता है अथवा शरीर के अन्दर के उन कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से, जो शरीर में वर्षों से बन्द पड़े रहते हैं और किसी कारणवश रोगक्षमता का ह्रास होने पर पुनरुत्तेजित हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रयोगद्वारा जो बातें ज्ञात हुई हैं उनमें परस्पर कुछ विरोध है। आर्थर और राबिनाविश ने पता लगाया है कि जब गिनीपिग पशुओं में हल्के विषैले कीटाणुओं से कम मात्रा में, जिससे केवल स्थानिक क्षयी विकार उत्पन्न होते हैं, संक्रमण कराया जाता है तो उसका यह परिणाम होता है कि अधिक विषैले मनुष्यक्षय-कीटाणुओं से दुबारा संक्रमण कराने पर साधारणरूप का व्यापक क्षय नहीं होता, परन्तु कुछ कुछ मनुष्यों के राजयक्ष्मा के अनुरूप फेफड़ों का क्षय होता है। खरगोशों में भी उन्होंने इसीप्रकार पुरातन क्षयी-विकार उत्पन्न किये थे। अन्य लोगों ने भी इन बातों का समर्थन किया है। इन बातों से यह प्रतीत होता है कि राजयक्ष्मा बाह्य पुनर्संक्रमण से होता है।

इसके विपरीत बेहरिंग का मत है कि राजयक्ष्मा का प्रादुर्भाव आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण से होता है। इनके मतानुसार प्राथमिक संक्रमण पाचक संस्थान के मार्ग से बाल्यावस्था में हो जाता है और क्षय-कीटाणु उस समय तक चुपचाप पड़े रहते हैं जब तक किसी कारण से वे पुनरुत्तेजित नहीं हो जाते। परन्तु यदि यह बात सत्य होती तो पशु-कीटाणुकृत राजयक्ष्मा अधिक संख्या में मिलना चाहिये था, क्योंकि बाल्यावस्था में कम से कम १० प्रतिशत संक्रमण इन कीटाणुओं से होते हैं। परन्तु अभी तक राजयक्ष्मा के ऐसे बहुत कम उदाहरण ज्ञात हुए हैं जिनमें केवल पशु-कीटाणु मिले हों। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कुछ लोगों का विचार है कि जिन लोगों में पशु-कीटाणुओं से संक्रमण हो जाता है वे मनुष्य कीटाणुओं के प्रति रोगक्षम हो जाते हैं, इसलिए उनमें फेफड़े का क्षय नहीं होता, परन्तु यह बात अभी तक प्रमाणसापेक्ष है।

रोमर और मक का कहना है कि उनकी खोज से यह सिद्ध होता है कि पुनर्संक्रमण सदा आभ्यन्तरिक अर्थात् शरीरान्तर्गत क्षयी विकारों से कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से होता है। मक का

कहना है कि एक क्षयी व्यक्ति न केवल क्षय-ग्रहणशीलता से मुक्त ही होता है प्रत्युत यथार्थ में बाह्य पुनर्संक्रमण के प्रति रोगक्षम भी होता है। यह मानना पड़ेगा कि जब बाल्यावस्था में प्रथम बार क्षय-संक्रमण होता है, तो शरीर को एक बड़े संकट का सामना करना पड़ता है, परन्तु जब वह उस संकट को पार कर लेता है तो उसमें रोगक्षमता आ जाती है। परन्तु युवावस्था में, जब शरीर की प्राणशक्तियों पर बड़ी माँग होती है, कीटाणु शरीर पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और शरीर का सबसे अधिक ग्रहणशील भाग होने से फेफड़े में क्षय-रोग हो जाता है।

निदानशास्त्र में इसके अनुरूप अन्य दशाएँ हैं, जिनसे विदित होता है कि शरीर में बिना कोई हानि पहुँचाये विषैले क्षय-कीटाणु रह सकते हैं। मंथज्वर, डिप्थीरिया, फुप्फुस प्रदाह इत्यादि रोगों के कीटाणुओं के बाहक लोगों में वर्षों तक रोग के कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते, परन्तु दूसरों को उनसे निरन्तर भय होता है। टेक्साज़ ज्वर (Texas Fever) से यह बात और भी अधिक विशद हो जाती है। जिन पशुओं में यह ज्वर होकर अच्छा हो जाता है उनके शरीर में इसके जीवित कीटाणु बने रहते हैं। परन्तु रोगक्षम हो जाने पर उनमें नया संक्रमण नहीं होता, इसलिए संक्रामित चरागाहों में रहने पर भी उनकी कोई हानि नहीं होती। परन्तु जब उनको कोई अन्य व्याधि हो जाती है तो फलस्वरूप उनके शरीर के अन्दर बहुत दिनों से चुपचाप पड़े हुए कीटाणुओं के पुनरुत्तेजित हो जाने से पुराने रोग का पुनरुद्दीपन हो जाता है।

मनुष्यों में भी इसीप्रकार की चिकित्सानुभवसम्बन्धी घटनाएँ पाई जाती हैं। यह भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि शीतज्वर के कीटाणुओं से संक्रमण होने पर इसी ज्वर के अन्य बाह्य कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण नहीं होता। यही कारण है कि शीतज्वरपरिपूर्ण प्रान्तों के असली निवासियों में प्रौढ़ावस्था में शीतज्वर कम होता है। परन्तु कुछ लोगों में कई वर्ष बाद पुनर्संक्रमण होकर जीर्ण शीतज्वर हो जाता है जिसको राजयक्ष्मा से समानता दी जा सकती है। उपदंश रोग में यह बात और भी विशदरूप से दिखाई पड़ती है। इस रोग में पुनर्संक्रमण अत्यन्त कठिन और साधारणतः असम्भव होता है। त्वचा और श्लेष्मकलाओं पर बाहरी उपदंश-

कीटाणुओं का कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु आभ्यन्तरिक कीटाणुओं से वे प्रभावित हो जाते हैं। लिवेडिटी ने सिद्ध कर दिया है कि पशुओं में उपदंश-कीटाणुओं से संक्रमण होने पर फिर दुबारा नया संक्रमण नहीं होता। उनके रक्ततरल में रोगक्षम शक्ति होती है, परन्तु उनके रक्त में कीटाणु रहते हैं और उनसे स्वस्थ पशुओं में संक्रमण हो सकता है।

यह बताया जा चुका है कि निवृत्त क्षयी विकारों में जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु होते हैं, यहाँ तक कि कंकड़ीले क्षयी विकारों में भी होते हैं। इसमें सन्देह है कि एक बार क्षय-कीटाणुओं से संक्रमण होने पर फिर कभी इनका शरीर में अभाव होता है। यही कारण है कि राजयक्ष्मा को आभ्यन्तरिक संक्रमण से उत्पन्न माना जाता है। रोमर के मतानुसार राजयक्ष्मा उन गुप्त क्षयी विकारों का पुनरुद्दीपन होता है जो बाल्यकाल में क्षय-संक्रमण से उत्पन्न होते हैं और जिनमें क्षय-कीटाणु वर्षों तक चुपचाप पड़े रहते हैं। जब कभी किसी अन्य रोग के होने से अथवा किसी और कारण से रोगक्षमता का ह्रास हो जाता है तो निवृत्त क्षयी विकार पुनरुत्तेजित हो जाते हैं। इन दशाओं में भी रोगक्षमता का पूर्ण ह्रास नहीं होता। यह इस बात से विदित होता है कि रोग बहुत समय तक फेफड़ों में ही स्थानाबद्ध रहता है। राजयक्ष्मा इसलिए क्षय-रोग के प्रति रोगक्षमता का एक प्रमाण है। अधिकांश लोगों में पूर्व संक्रमण से कुछ रोगक्षमता हो जाने के कारण सर्वांगिक क्षय नहीं होता।

प्रौढ़ मनुष्यों की रोगक्षमता—अभी तक इस बात पर सन्तोषपूर्वक प्रकाश नहीं पड़ा है कि हल्के प्राथमिक संक्रमण से बच्चों की भाँति प्रौढ़ों में रोगक्षमता क्यों उत्पन्न नहीं होती। यह बताया जा चुका है कि जब ऐसे देशों के प्रौढ़ मनुष्य, जहाँ क्षय-रोग नहीं होता और इसलिए क्षय-कीटाणुओं के अभाव के कारण बाल्यकाल में संक्रमण नहीं हो पाता, पहले पहल शहरों में आकर क्षयी वातावरण में रहने लगते हैं तो उनको तुरन्त शिशु और गिनीपिग पशु की भाँति उग्ररूप का क्षय हो जाता है। मक ने इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि दो बातें सम्भव हो सकती हैं। एक यह कि केवल बालकों के ही शरीर में रोगक्षमता के विकास की शक्ति होती है, दूसरा यह कि जब एक प्रौढ़ मनुष्य क्षयरहित वातावरण से क्षयी वातावरण में आता है तो वह वहाँ के लोगों में

स्वतंत्रतापूर्वक विचरने लगता है, इसलिए संक्रमण उसको अत्यधिक मात्रा में हो जाता है जिसके रोकने की उसमें पर्याप्त शक्ति नहीं होती। इसके विपरीत एक सुरक्षित शिशु आयु के प्रथम कई वर्षों में लोगों के बीच में अधिक नहीं जाता। इसलिए यदि उसके घर में ही कोई क्षय रोगी न हो तो उसका केवल अल्पसंख्यक कीटाणुओं से सम्पर्क होता है। इसका यह कारण भी हो सकता है कि बाल्यकाल में पशु-क्षय-कीटाणुओं से, जो मनुष्य कीटाणुओं की अपेक्षा कम विषैले होते हैं, क्षय-संक्रमण होकर लोगों में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है।

सारांश—राजयक्ष्मासम्बन्धी संक्रमण और रोगक्षमता के विषय में अब तक जो बातें ज्ञात हुई हैं उनसे निम्नलिखित सारांश निकलता है।

सभ्य जातियों में लगभग सभी स्त्री-पुरुषों में प्रौढ़ावस्था तक क्षय-संक्रमण हो जाता है, परन्तु इस संक्रमण से सब में रोग नहीं होता।

क्षय-संक्रमण लगभग सब लोगों में बाल्यावस्था में हो जाता है और क्षय-कीटाणु शरीर के अन्दर वर्षों तक चुपचाप पड़े रहते हैं। जब शरीर की प्रतिरोधशक्ति कम हो जाती है अथवा किसी कारण से कीटाणु पुनरुत्तेजित हो जाते हैं तो आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण होकर क्षय-रोग हो जाता है।

बाल्यावस्था में संक्रमण होने पर यदि उग्र क्षय होकर तुरन्त मृत्यु न हो जाय तो क्षय-कीटाणुओं के बाह्य और आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण के प्रति प्रतिरोधशक्ति बढ़ जाती है। अधिकांश लोगों में यह उपार्जित रोगक्षमता इतनी होती है कि उनके जीवन भर न बाह्य पुनर्संक्रमण हो सकता है और न आभ्यन्तरिक।

जब किसी कारणवश इस रोगक्षमता का ह्रास हो जाता है तो शरीर के अन्दर के कीटाणु पुनरुत्तेजित होकर और सन्तानोत्पत्ति करके अन्य स्थानों में फैल जाते हैं और वहाँ रोग उत्पन्न कर देते हैं। अनुभव से यह विदित होता है कि ऐसे स्थानान्तरिक पुनर्संक्रमण उन लोगों में अधिकतर होते हैं जिनमें बाल्यकाल में अधिक मात्रा में संक्रमण होता है।

अतएव राजयक्ष्मा क्षय-कीटाणुओं के बाह्य और आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण के प्रति रोगक्षमता की एक अभिव्यक्ति होती है। जब किसी

कारणवश इस रोगक्षमता में कमी हो जाती है तो उग्र सर्वाङ्गिक रोग—जैसा कि अधिक प्राथमिक संक्रमण से होता है—नहीं होता, किन्तु केवल स्थानाबद्ध रोग होता है और चूँकि शरीर का सबसे अधिक ग्रहणशील भाग फेफड़ा होता है, इसलिए वहीं क्षय-रोग अधिक होता है।

आठवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

यक्ष्म—जब क्षय-कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर किसी स्थान पर स्थापित हो जाते हैं और उनकी वृद्धि होने लगती है तो शरीर के तंतुओं में आत्मरक्षक और बाद को क्षतिपूरक प्रतिक्रियायें होने लगती हैं। आक्रान्त तंतु की रचना, संक्रमण की तीव्रता, शरीर की रोगक्षमता तथा बहुत सी अन्य बातों के अनुसार, जिनका अभीतक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है, यह प्रतिक्रिया विविध रूप की होती है। परन्तु सबका मूलाधार एक ही होता है। क्षय-कीटाणुओं से जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे विशिष्ट और लाक्षणिक रूप के होते हैं। क्षय-कीटाणुओं की उत्तेजना से तन्तुओं में उत्पादक प्रदाह होकर वहाँ पर एक गुठली सी बन जाती है जिसको यक्ष्म (Tubercle) कहते हैं।

यक्ष्मनिर्माण क्षयीप्रक्रिया की विशेषता और मूल तत्व होता है। इसका सर्वोत्तम अध्ययन उग्र व्यापक बजरीले क्षय (Acute miliary Tuberculosis) में होता है; क्योंकि इस रोग में कीटाणुओं के उत्तरोत्तर आक्रमणों के अनुरूप हर आयु के यक्ष्म पाये जाते हैं। छोटी छोटी कड़ी गिल्टियाँ फेफड़ों भर में बिखरी हुई होती हैं। नए यक्ष्म भूरे रंग के और अर्द्ध पारदर्शक होते हैं और पुराने यक्ष्म कुछ पीलापन लिए हुए सफ़ेद और अपारदर्शक होते हैं। नये पारदर्शक यक्ष्म बाजरा के दानों से छोटे और पुराने अपारदर्शक यक्ष्म कुछ बड़े होते हैं (चित्र नं० १९)। फेफड़ों के ऊपरी भाग में वे अधिक संख्या में और अधिक बड़े होते हैं, क्योंकि ऊर्ध्व खंडों में रक्तप्रवाह की कमी के कारण उनकी वृद्धि अधिक और शीघ्र होती है। अलग अलग ये यक्ष्म इतने छोटे होते हैं कि नग्न नेत्र से साफ़ साफ़ दिखाई
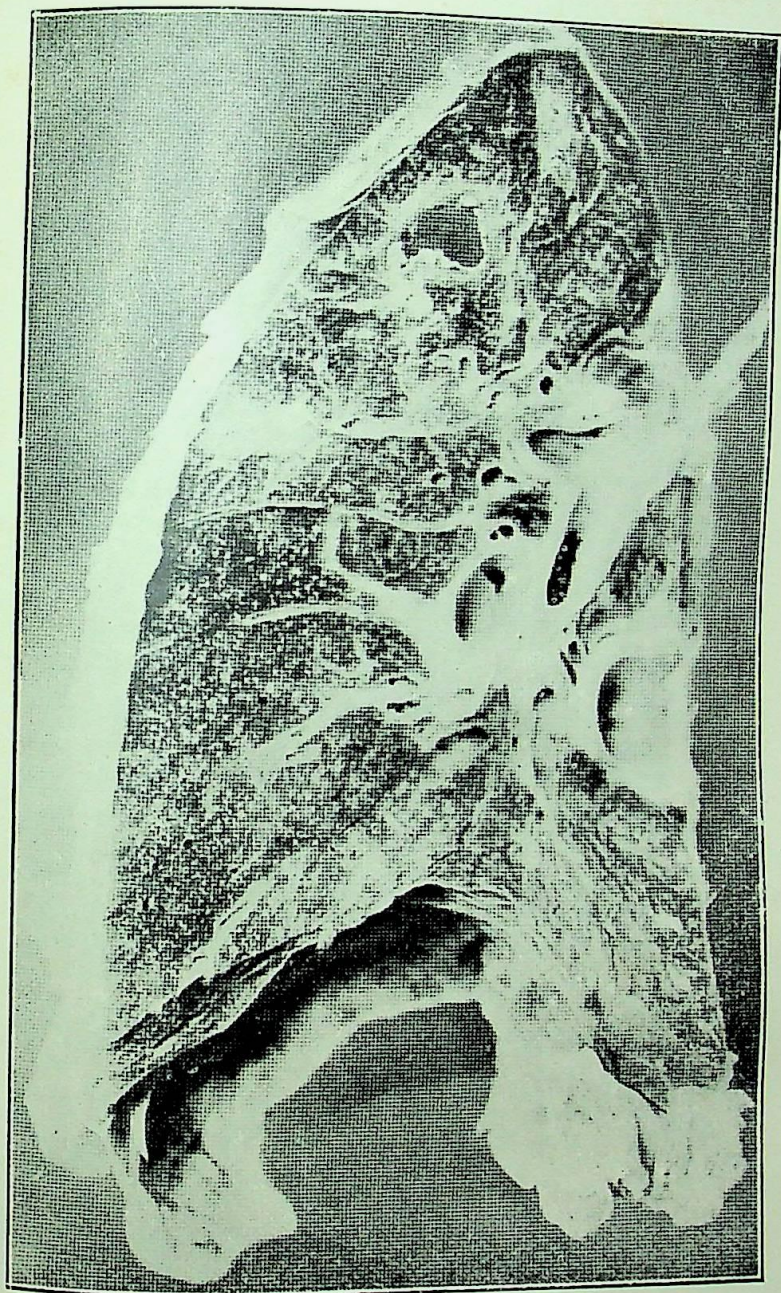
चित्र नं० १६—उग्र व्यापक बजरीला क्षय; फेफड़े के इस चित्र में छोटे छोटे सफ़ेद दाने यक्ष्म सूचित करते हैं।

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permssion.)

(पृष्ठ १२०)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.
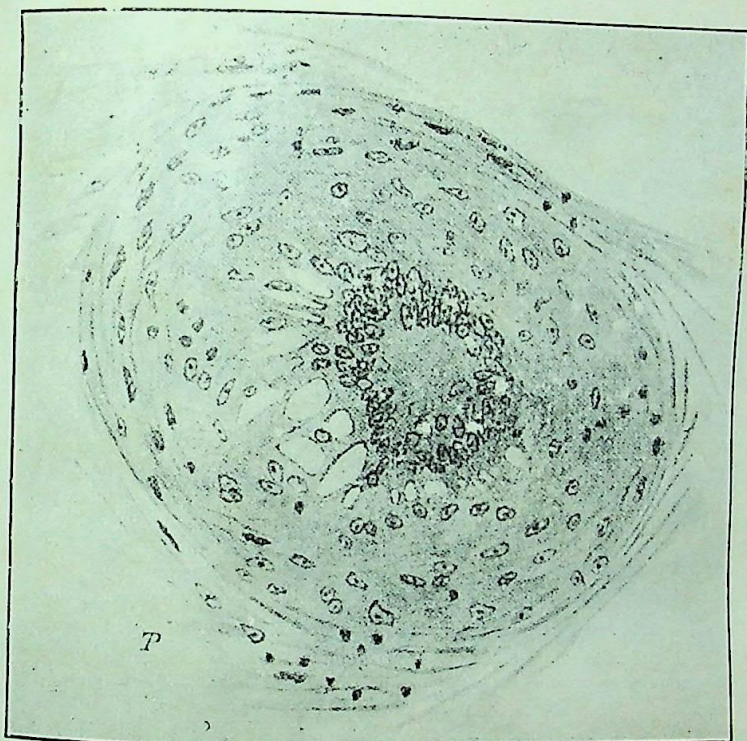
चित्र नं० २०—यक्ष्म का सूक्ष्म रूप (Ribbert)

(पृष्ठ १५१)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.
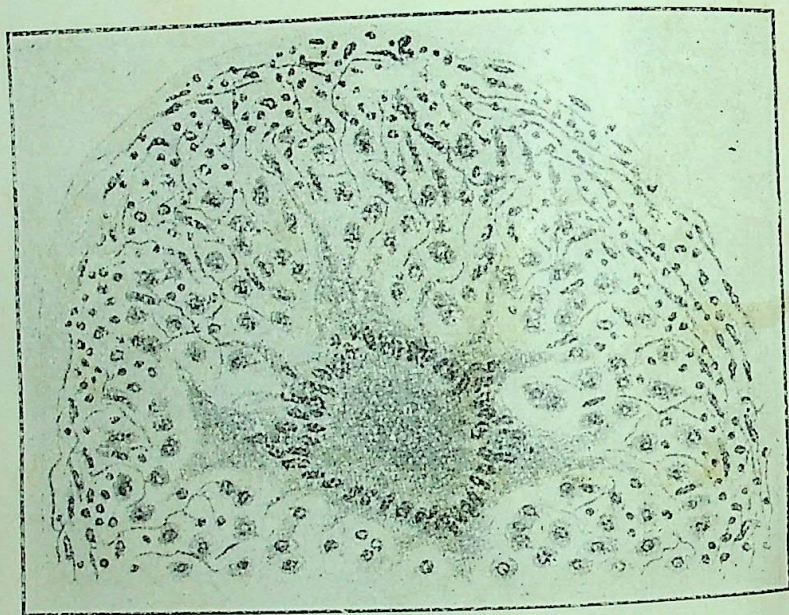
चित्र नं० २१—यक्ष्म का सूक्ष्म रूप अधिक बढ़े हुए रूप में (Tendeloo)

(पृष्ठ १२१)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

नहीं पड़ते। जो यक्ष्म दिखाई देते हैं, वे वस्तुतः अनेक छोटे छोटे यक्ष्मों के समूह होते हैं। इसलिए उनको संयुक्त यक्ष्म (Conglomerate tubercle) कहते हैं।

यक्ष्म का सूक्ष्म रूप—अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर यक्ष्म एक विशिष्ट सुपरिगत सेल समूह प्रतीत होता है (चित्र नं० २० और २१)। उसमें आदि से ही रक्त का अभाव होता है। निकटस्थ लसिका और रक्तवाहिनी नाड़ियाँ सेलों की वृद्धि से दबकर मिट जाती हैं। प्रत्येक प्रतिरूपक तरुण यक्ष्म में एक बहुमींगी वाली (Multi neucleted) सेल होती है, जिसको दैत्यसेल (Giant cell) कहते हैं। इस दैत्यसेल के चारोंओर एक विशेष प्रकार की सेलें होती हैं जो रूप और विन्यास में उपस्तरण (Epithelium) की सेलों के सदृश होती हैं। इसलिए इन सेलों को उपस्तरणीयवत (Epithelioid) सेल कहते हैं। इन सेलों के चारोंओर यक्ष्म की परिधि पर लसिकाणुओं का घेरा होता है।

दैत्यसेल—साधारणतः दैत्यसेल यक्ष्म के मध्य में होती है। इसक शरीर बसात्मक अपकृष्ट जीवोज (Degenerative protoplasm) का बना होता है जिसमें बहुत सी मींगीं होती हैं। मींगी देखने में अंडाकार तथा तक्वाकार होती हैं और विन्यास में समकेन्द्रिक अर्द्धचन्द्राकार या छल्ला-कार होती हैं। इनकी संख्या कभी कभी एक दैत्यसेल में सौ तक होती है। क्षय-कीटाणु प्रधानतः दैत्यसेलों में मींगियों के बीच बीच में अलग अलग अथवा गुच्छों में पड़े दिखाई देते हैं। प्रौढ़ दैत्यसेलों के जीवोज के केन्द्र में क्षय-कीटाणु नहीं होते। दैत्यसेल का जीवोज या तो समानभाव अथवा कुछ कुछ दानेदार होता है। इसकी लम्बी लम्बी धाराएँ निकटस्थ उपस्तरणीयवत सेलों के बीच में भी फैली हुई दिखाई दे सकती है।

दैत्यसेल की व्युत्पत्ति—दैत्यसेलों की व्युत्पत्ति का विषय विवाद-ग्रस्त है। वीगर्ट और बामगर्टन इत्यादि कुछ लोगों का मत है कि क्षय-कीटाणुओं के विषैले प्रभाव के कारण जीवोज तो पृथक् पृथक् सेलों में विभक्त नहीं हो सकता, परन्तु मींगियों में विभाजनशक्ति बनी रहती है; इससे दैत्य-सेल उत्पन्न हो जाती है। क्षयी केन्द्रों में साधारणतः ऐसी सेलें मिलती हैं जिनका जीवोज अपकृष्ट तथा जिनकी मींगियों में रंजकतंतु अधिक होता है। इस मत के अनुसार दैत्यसेल एक अपकर्षीय घटना होती है। दूसरी ओर

इसके विपरीत मेचनीकाफ का मत है कि दैत्यसेल की उत्पत्ति कीटाणुभक्षण (Phagocytosis) की एक अभिव्यक्ति होती है। दैत्यसेलें सक्रिय वृहत् कीटाणुभक्षी सेलें होती हैं जो अनेक उपस्तरणीयवत् सेलों के मिलने से आक्रमणकारी क्षय-कीटाणुओं के सङ्गठित प्रतिकार के लिए बनती हैं। दैत्यसेल के जिस भाग में मींगी नहीं होती वह साधारणतः कीटाणुओं के विषों से नष्ट होता है। अस्तु, यह प्रकट है कि दैत्यसेलों की व्युत्पत्ति का प्रश्न अभी तक हल नहीं हुआ है। जैसा कि बताया जा चुका है क्षय-कीटाणु प्रधानतः दैत्यसेलों में पाये जाते हैं और कभी कभी उपस्तरणीयवत् सेलों में भी मिलते हैं, परन्तु सेलों के अन्तर्वर्ती पदार्थ में बहुत विरल होते हैं। यक्ष्म के किलाटीय अंशों में वे परिधि पर मिलते हैं, मध्य में कभी नहीं मिलते। किलाटभूत दैत्यसेलों में केवल उन्हीं भागों में मिलते हैं जिनमें रञ्जनशक्ति बनी रहती है।

उपस्तरणीयवत् सेलें (Epithelioid cells)—कुछ यक्ष्मों में उपस्तरणीयवत् सेलें कम होती हैं और लसिकाणुओं की संख्या अधिक होती है। ऐसे यक्ष्मों को लसिकाणुप्रधान यक्ष्म (Lymphoid tubercle) कहते हैं। परन्तु अधिकतर यक्ष्मों में उपस्तरणीयवत् सेलें प्रधान होती हैं। ऐसे यक्ष्मों को उपस्तरणीयवत् सेलप्रधान यक्ष्म (Epithelioid tubercle) कहते हैं। ये सेलें गोल अथवा कुछ कुछ लम्बी सी होती हैं और इनके शरीर पर साधारण रँगने की विधि से हल्का रंग चढ़ता है। उनकी मींगी में साधारणतः बहुत थोड़ा दानेदार क्रोमैटिन (Chromatin) होता है। दैत्यसेलों की भाँति इन सेलों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतैक्यता नहीं है। मैक्सिमों का विचार है कि ये सेलें लसिकाणुओं से उत्पन्न होती हैं। परन्तु बामगार्टन के मतानुसार इनकी सृष्टि बंधकतंतुओं की सेलों से होती है। अन्य लोगों का विचार है कि वे रक्त की भ्रमणकारी सेलों (Wandering cells) से उत्पन्न होती हैं। फुट के मतानुसार वे रक्तनाड़ियों के अंतस्तरण (Endothelium) की सेलों से उत्पन्न होती हैं।

यक्ष्म की उत्पत्ति—यक्ष्म की उत्पत्ति का विषय बहुत दिनों से विवादग्रस्त चला आता है, परन्तु बामगार्टन की विस्तृत खोज से इस बात पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। यह देखा गया है कि जब क्षय-कीटाणु किसी रक्तकेशिका में अथवा अन्तिम श्वासप्रणालिका

चित्र २२

चित्र २३

चित्र नं० २२—किलाटीय परिवर्तन। 'सी' (c) अक्षर फुप्फुस शिखर में रंध्र सूचित करता ... 'एफ' (f) अक्षर फुप्फुस खंडों के बीच में की दरार सूचित करता है। चित्र के निचले ... में भूरे अंश विस्तृत किलाटीय परिवर्तन सूचित करते हैं। चित्र नं० २३—'सी' (c) अक्षर शिखर ... भाग में एक छोटा किलाटीय स्थल सूचित करता है। 'बी' (b) अक्षर एक श्वासनल ... किलाटीय दीवार सूचित करता है। फेफड़े का भाग ठीक है, केवल उसमें थोड़ा-सा कालापन है। (From Fishburgs Pulmonary Tuberculosis; by Permission)
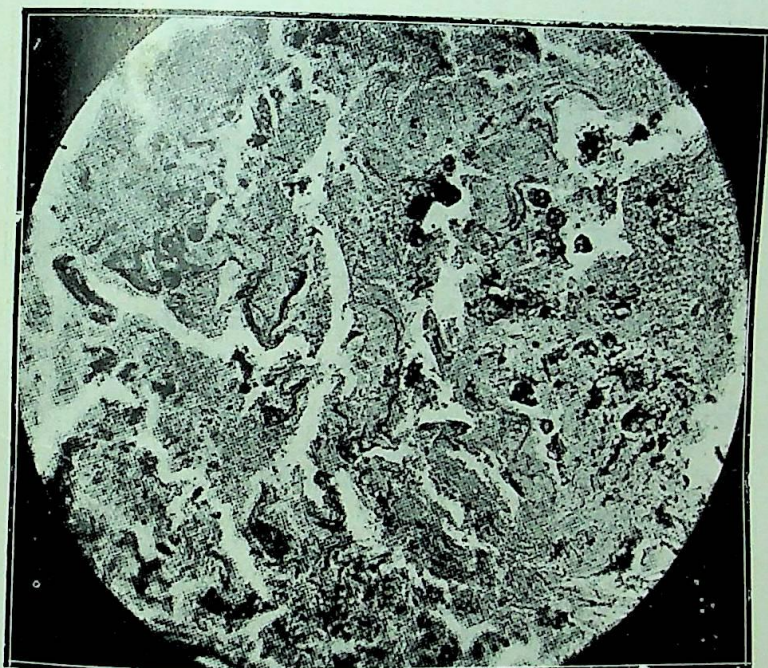
चित्र नं० २४—किलाटीय भाग में खटिकसंग्रह; काले काले गोल दाने संगृहीत खटिक के दाने सूचित करते हैं

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)

(पृष्ठ १२४)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.
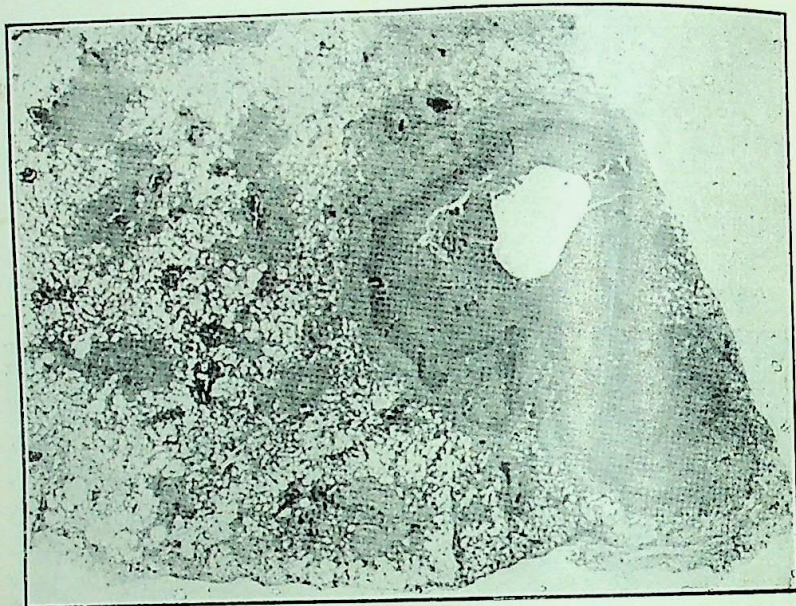
चित्र नं० २५—रंध्र बनने से पूर्व किलाटीय भाग में गलाव
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)
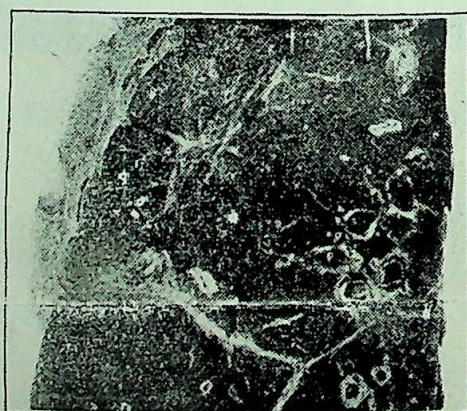
(पृष्ठ १२४)

चित्र नं० २६—फेफड़े के शिखर में क्षयी क्षत-चिह्न
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)

(पृष्ठ १२७)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

की दीवार में रुक जाते हैं तो उनसे साधारण प्रदाह की भाँति रक्तनाड़ियों का फूलना, और उनसे श्वेत रक्तकणों का बाहर निकलना, इत्यादि प्रतिक्रिया नहीं होती, किन्तु स्थानिक बंधक तन्तु की सेलों से नई सेलें उत्पन्न होती हैं जो कीटाणुओं को घेर लेती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन स्थानिक तन्तु की सेलों से उत्पन्न नई सेलें उपस्तरणीयवत सेलों में परिणत हो जाती हैं और उनमें से कई एक के मिलने पर दैत्यसेल बनती है। क्षय-कीटाणुओं के विषों से कुछ सेलें नष्ट हो जाती हैं और फलतः रक्त से कुछ भ्रमणकारी सेलें आने लगती हैं। पहले तो ये बहु मींगीवाली होती हैं, परन्तु शीघ्र ही इनका स्थान लसिकाणु ले लेते हैं जो यक्ष्म के बाहरी भाग में दिखाई देते हैं।

यक्ष्म का विकास और प्रगति

विनाश—(Coagulation necrosis) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यक्ष्म में रक्तनाड़ी नहीं होती, इसलिए रक्त के अभाव के कारण उनकी प्राणशक्ति टिकाऊ नहीं होती। इसके अतिरिक्त क्षय-कीटाणु और यक्ष्म की नई सेलों में जो जीवनसंग्राम होता है, उसमें कुछ कीटाणुओं का भी नाश होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि कीटाणुओं के नष्टभ्रष्ट शरीरों से विषैले पदार्थ निकलते हैं। रक्त की कमी और कीटाणुओं के विषों से सेल-समूह के मध्यभाग की सेलों की मृत्यु हो जाती है। मृत सेलों की मींगी टूटफूट जाती है और उनके जीवोज में बसात्मक अपकर्ष (Fatty degeneration) हो जाता है। फलतः सेलों का पृथक् रूप मिटकर एक रूपरहित राशि बन जाती है।

किलाटीय परिवर्तन—(Caseation) सेलों की मृत्यु के पश्चात् उनके शरीरों की रूपरहित राशि रासायनिक परिवर्तन से पनीर के सदृश एक श्वेत अपारदर्शक पदार्थ में परिणत हो जाती है। (चित्र नं० २२ और २३) किलाटसदृश रूप होने के कारण इस प्रक्रिया को 'किलाटीय प्रक्रिया' (Caseation) कहते हैं। कभी कभी यह किलाटीय पदार्थ अनियत काल तक ज्यों का त्यों बना रहता है, परन्तु अन्त में (शीघ्र या देर में) उसमें इन दो में से एक प्रकार का परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि एक ओर जहाँ क्षय-कीटाणु शरीर की सेलों के नाश की चेष्टा करते हैं वहाँ दूसरी ओर शरीर की सेलें कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने की और उनके द्वारा की हुई क्षति को पूरा करने की चेष्टा करती हैं। यह क्षतिपूरक क्रिया (Reparative process)

दो प्रकार की होती है—(१) खटिकसंग्रह (Cafcifiction), (२) सूत्र-निर्माण (Fibrosis) ।

खटिकसंग्रह—पहले किलाटीय पदार्थ सौत्रिक तन्तु से घिर जाता है और फिर जल का शोषण होकर शुष्क हो जाता है तथा मात्रा में बहुत कम हो जाता है। इसके बाद उसमें खटिक (Calcium) के दाने जमा होने लगते हैं, जिससे अन्त में वह कंकड़ीला हो जाता है (चित्र नं० २४)। कभी कभी खटिक के दानों के मिलने से बड़ी बड़ी कंकड़ी सी बन जाती हैं। इन कंकड़ियों में प्रायः कीटाणु जीवित अवस्था में बने रहते हैं। यह रासायनिक-परिवर्तनक्रिया क्षयी व्रणों के पुरने की साधारण और स्वाभाविक विधि होती है।

सूत्रनिर्माण—परन्तु यक्ष्म में सदा किलाटीय परिवर्तन, खटिक-संग्रह अथवा गलाव नहीं होता। अधिकांश लोगों में, जिनमें राजयक्ष्मा विकसित नहीं होता अथवा उसकी प्रगति रुककर अन्त में रोग अच्छा हो जाता है, बंधक तन्तु की सेलों से सूत्र की रचना होकर यक्ष्म सौत्रिक क्षत-चिह्न में परिणत हो जाता है। मृतक शरीरों का शवच्छेद करने पर निदानशास्त्र-वेत्ताओं को पता लगा है कि अधिकांश लोगों के फेफड़ों और पार्श्वकलाओं में क्षतचिह्न होते हैं, जिससे विदित होता है कि बहुत से लोगों में क्षय-रोग होकर स्वयं अच्छा हो जाता है। इन्हीं पुरे हुये अथवा गुप्त क्षयी-विकारवाले लोगों में यक्ष्मिन प्रतिक्रिया मिलती है, यद्यपि प्रकटतः उनमें कोई रोग नहीं होता।

गलाव (Softening)—जब नाशकारक क्रिया प्रबल होती है तो यक्ष्म के किलाटीय पदार्थ में सौत्रिक या खटिक परिवर्तन होने के बजाय गलाव होने लगता है। जब ऐसा होता है तो यक्ष्म पक जाता है और उसका किलाटीय पदार्थ गलकर क्षयी पीव में परिणत हो जाता है। (चित्र नं २५)

यक्ष्म की अन्तगति—यक्ष्म की अन्तगति सूत्रनिर्माण तथा खटिकपरिवर्तन और किलाटीयपरिवर्तन तथा गलाव—इन दोनों प्रकार की क्षतिपूरक और नाशकारक प्रक्रियाओं की तीव्रता पर निर्भर होती है। वस्तुतः क्षय-रोग की गति पर इन्हीं दो क्रियाओं की परस्पर तीव्रता का प्रभाव होता है। पहली दो क्रियायें क्षतिपूरक और दूसरी दो क्रियायें नाशकारक होती हैं। जब नाशकारक क्रियायें प्रबल होती हैं तो रोग के लक्षण और रोग का विस्तार—दोनों में वृद्धि होती है। जब क्षतिपूरक क्रियायें प्रबल होती हैं तो रोग की गति मंद होती है और अन्त में सौत्रिक या खटिक परिवर्तन होकर क्षयी व्रण

अच्छे तक हो जाते हैं। साधारण पुरातन राजयक्ष्मा में दोनों प्रकार की क्रियायें प्रायः साथ-साथ चलती हैं। क्षतिपूरक प्रक्रिया, जिसमें बंधक तंतु की सेलों की सम्वृद्धि होती है, प्रधानतः यक्ष्म की परिधि पर दिखाई देती है। यक्ष्म के मध्यभाग में नाशकारक क्रिया की प्रबलता होती है। इसलिए यक्ष्म के मध्यभाग में बहुधा किलाटीयपरिवर्तन देख पड़ता है और उसको घेरे हुये सौत्रिक तंतु होता है। इससे स्पष्ट है कि रुग्नभाग को परिमित करने की प्रकृति कितनी चेष्टा करती है। अन्त में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, घिरे हुए किलाटीय पदार्थ में खटिक संग्रह हो जाता है।

फेफड़ों के क्षय-रोग का विकाश और रूप—यह पहले ही बताया जा चुका है कि सभ्य जातियों के अधिकांश लोगों में बीस वर्ष की आयु तक क्षय-संक्रमण हो जाता है और क्षय-कीटाणु साधारणतः भोजन अथवा श्वास-मार्ग के किसी भाग से शरीर में प्रवेश करते हैं। इस बात पर विचार करते हुए कि लोग बिना सोचे विचारे चाहे जहाँ थूक देते हैं और श्वास या भोजन के साथ कफ के कणों का शरीर के अन्दर पहुँचना कितना आसान है, मनुष्य जाति में क्षय-संक्रमण की विश्वव्यापकता समझ में आ जाती है। अब यह देखना है कि मनुष्य-शरीर में क्षय-संक्रमण और क्षय-रोग से क्या क्या विकार उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य में प्राथमिक यक्ष्म—प्रयोगों से यह स्पष्ट ज्ञात हो चुका है कि किसी पशु में प्रथम क्षय-संक्रमण से जो यक्ष्म उत्पन्न होता है, उसका रूप उसी पशु में बाद की क्षय-रोग की सब अभिव्यक्तियों से भिन्न होता है। प्राथमिक विकार में केवल उत्पादक प्रतिक्रिया होती है जिससे कई सेलों के बनने से यक्ष्म की उत्पत्ति होती है, परन्तु स्रावक प्रदाह बिलकुल नहीं होता। यह प्राथमिक विकार कुछ बड़ा हो जाता है और लसिकावाहिनियोंद्वारा निकटस्थ लसिका-तंतुओं में स्थानान्तरित हो जाता है, जहाँ पर द्वितीयक (Secondary) रूप के विकार हो जाते हैं। इस दरजे तक पहुँचकर विकार की प्रक्रिया रुक सकती है और सूत्रनिर्माण तथा खटिक-संग्रह होकर विकार अच्छा हो जाता है। कभी-कभी विकार पूर्णतः विलीन हो जाता है। परन्तु जब तक इस प्राथमिक संक्रमण का कुछ भी चिह्न अवशिष्ट रहता है तब तक वह पशु क्षय-कीटाणुओं के प्रति अतिचैतन्य रहता है और जब

कभी उन कीटाणुओं से फिर संक्रमण होता है तो वह उनका घोर प्रतिरोध करता है जो स्रावक प्रदाह के रूप में व्यक्त होता है। यदिमन प्रतिक्रिया के अनुभव से यह विदित होता है कि मनुष्यों में भी ऐसी ही अतिचैतन्यता की दशा होती है जो प्रथम वर्ष के बाद प्रकट होती है और आयु के पहली और दूसरी दशाब्दियों में क्रमशः बढ़ती जाती है। चूँकि बहुत कम बच्चों में क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त होते हैं और चिह्न मिलते हैं, इसलिए यह स्वतः प्रकट होता है कि इस अतिचैतन्यता के कारणरूपी विकार बहुत छोटे होते हैं,—इतने छोटे कि उनका पता लगाना बड़ा कठिन होता है।

फेफड़ों में प्राथमिक विकार—अनेक निदानशास्त्रवेत्ताओं ने इन प्राथमिक विकारों का पता लगाने की चेष्टा की है। सावधानी से शवच्छेद करने और फेफड़ों को निकालकर उनकी एक्सरे-परीक्षा करने से यह विदित हुआ है कि लगभग २० प्रतिशत लोगों के फेफड़ों में बिखरे हुए खटिकपूर्ण विकार मिलते हैं। साधारणतः ऐसे विकार बहुसंख्यक होते हैं, पर कभी कभी अकेले भी होते हैं उनमें से अधिकांश फेफड़े के पृष्ठ से लगभग ½ इंच की गहराई पर होते हैं। फेफड़े के शिखर पर वे बहुत कम होते हैं। परिमाण में सरसों से लेकर ज्वार तक के बराबर होते हैं। अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर विदित होता है कि वे विकास की विभिन्न अवस्थाओं के होते हैं। छोटी गिल्टियाँ गोल होती हैं। उनके बीच का भाग कंकड़ीला होता है और सघन सौत्रिक तंतु से घिरा होता है। बड़े विकार आकर में अनियमित होते हैं और लगभग सौत्रिक तंतु के बने होते हैं। अनेक में खटिक-संग्रह के कंकड़ीले अंश होते हैं और मध्य में प्रायः सूखा या कुछ गीला किलाटीय पदार्थ होता है। सबके सब सुसीमित होते हैं और फुप्फुस तंतु के बीच में नगों की भाँति जड़े हुए से प्रतीत होते हैं। फेफड़े के जिन भागों में वे होते हैं उनसे सम्बन्ध रखनेवाली लसिकावाहिनियों और ग्रन्थियों में भी पुरातन रोग होता है। साधारणतः फुप्फुस तंतु की अपेक्षा लसिका-ग्रन्थियों में रोग अधिक विस्तृत होता है। साधारणतः उनमें किलाटीय परिवर्तन होने के बाद सूत्र-निर्माण या खटिक-संग्रह मिलता है। फेफड़े के इन पृष्ठस्थ विकारों और तत्सम्बन्धी लसिका-ग्रन्थियों के सम्मिलित रोग को वान रैंकी ने प्राथमिक संयोग (Primary complex) का नाम दिया है।
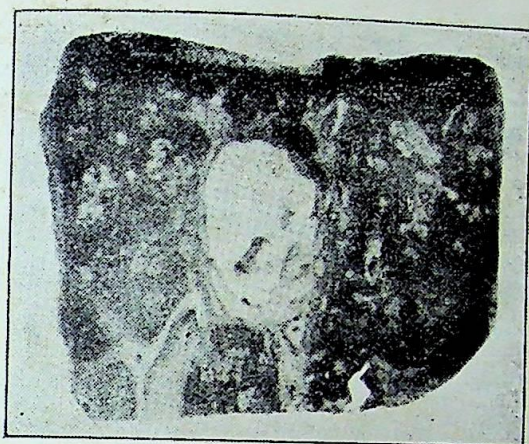
चित्र नं० २७—शिखर क्षय; कोषबद्ध किलाटीय पदार्थ और लसिकावाहिनियों तथा श्वास-नलोंद्वारा स्थानिक प्रसार।
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)
(पृष्ठ १२७)

चित्र नं० २८—शिखर क्षय; चित्र २७ का अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा प्रदर्शित रूप
(From Baldwin Petroff and Gardner's Bacteriology Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)
(पृष्ठ १२७)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.
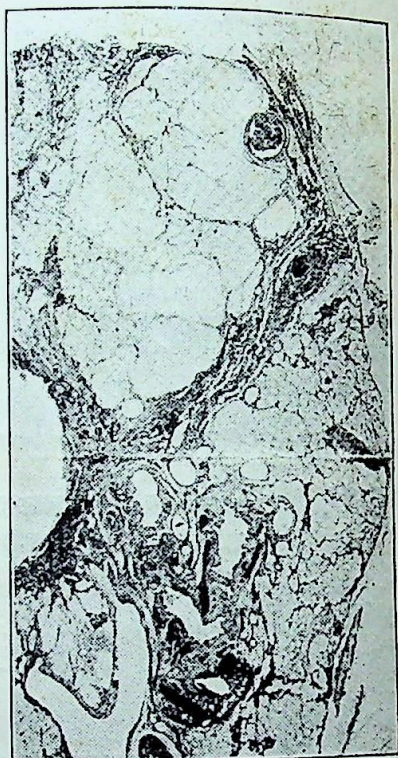
चित्र नं० २९—शिखर का निवृत्त क्षय
पार्श्वकला मोटी होगई है; 'सी' (C) अक्षर अवशिष्ट
रंध्र सूचित करता है; 'टी,' 'बी' (T. B.)
अक्षर कंकड़ीला यक्ष्म और श्वासानलों
को मोटी पड़ी हुई दीवार सूचित
करते हैं

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by Permission.)

(पृष्ठ १५७)

चित्र नं० ३०—शिखर का निवृत्त क्षय; प्रतिपूरक वायुध्मान

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by Permission)

(पृष्ठ १५८)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

द्वितीयक रूप का क्षय-रोग

फुप्फुस शिखर का क्षय—सभ्य जातियों के लोगों के फेफड़ों की जाँच करने से पता लगता है कि अधिकांश लोगों में एक या दोनों फेफड़ों के शिखरों पर स्थानाबद्ध कठोर और पिचके हुए क्षेत्र मिलते हैं और उनके साथ साथ पार्श्वकला में सघन बंधन होते हैं। ऐसे विकार विभिन्न देशों में २० से ९० प्रतिशत तक लोगों में पाये जाते हैं। शिखरों के इन विकारों की सावधानी से जाँच करने पर पता लगता है कि उनके आसपास फुप्फुस प्रायः सिकुड़ा हुआ होता है और उनके ऊपर की पार्श्वकला भीतर की ओर खिंची हुई होती है। काटकर देखने पर इन विकारों के विविधरूप मिलते हैं। विकार क्षेत्र साधारणतः पच्चराकार होता है। उसका चौड़ा भाग पार्श्वकला की ओर तथा नोक भीतर की ओर होती है और उसमें जाती हुई एक मोटी और टेढ़ी-मेढ़ी श्वास-प्रणालिका होती है। इस श्वास-प्रणालिका के साथ रक्तनाड़ियाँ होती हैं और वे भी मोटी और कड़ी होती हैं। फुप्फुस तंतु के स्थान में गहरे रंग का सौत्रिक गूथ (क्षत-चिह्न) होता है (चित्र नं० २६), जिसमें क्षयी प्रक्रिया के चिह्न कभी मिलते हैं और कभी नहीं मिलते। कुछ में भूरे रंग के छोटे छोटे बहुत से यक्ष्म मिलते हैं जिनमें से कुछ कंकड़ीले होते हैं। किसी किसी में मटर से लेकर विलायती अखरोट के कद की एक गिल्टी होती है जो कभी कभी पूर्णतः कंकड़ीली होती है और कभी कभी उसमें कुछ किलाटीय पदार्थ होता है (चित्र नं० २७ और २८)। कुछ रोगियों में शिखर पर छोटे रंध्र बन जाते हैं जो कभी खाली और कभी स्राव से भरे होते हैं (चित्र नं० २९)। वास-नलों और रक्तनाड़ियों के ऊपर से नीचे तक जाँच करने से पता लगता है कि उनके शाखाओं में विभाजित होने के स्थान पर जो लसिका-तंतु होता है उसमें भी कुछ रंगीन गाँठें-सी होती हैं जो सूत्रनिर्माण या खटिकपरिवर्तन से पुरे हुए यक्ष्मों को बनी हुई प्रतीत होती हैं। परन्तु ऐसे विकार बहुत दूर तक नहीं होते। टेटुँआ और श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियों की जाँच करने पर उनमें फुप्फुस तंतु के रोग के अनुरुप कोई रोग-चिह्न नहीं मिलते।

फेफड़े के शिखर के विकृत भाग को काटकर और उसकी अणुवीक्षण यंत्रद्वारा परीक्षा करने पर पता लगता है कि वह एक पुरा हुआ निवृत्त

क्षयी विकार होता है और उसके चारोंओर सूत्रनिर्माणयुक्त पिचका हुआ फुप्फुस तंतु होता है। परन्तु क्षतिपूर्ति की मात्रा न्यूनाधिक होती है। किसी किसी में तो यक्ष्मों में किलाटीय पदार्थ होता है जिसमें क्षय-कीटाणु भी होते हैं। औरों में यक्ष्मों के बजाय केवल खटिक और सौत्रिक तंतु के ढेर होते हैं। क्षत-चिह्नों के सिकुड़ने से फेफड़े के उस भाग का प्रकृतिस्थ कोष्ठीय रूप बिगड़ जाता है और पिचके हुए वायुकोष्ठों के चारोंओर प्रतिपूरक वायुध्मान होता है (चित्र नं० ३०)।

शिखर का यह क्षय-रोग फेफड़े के अन्य भागों में बिखरे हुए छोटे छोटे प्राथमिक विकारों से कहीं भिन्न होता है। यह विस्तार में बड़ा होता है और सुसीमित नहीं होता। इसके अवयव विविध रूप के होते हैं और इसके साथ टेटुँआ और श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियों में रोग नहीं होता। इसमें निवृत्त क्षयी प्रदाह के लगभग सब लक्षण होते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में फेफड़े के शिखर का क्षय-रोग प्राथमिक क्षयी विकार नहीं होता, बल्कि पुनर्संक्रमण की एक अभिव्यक्ति होती है। शिखर का यह विकार पूरी तरह से पुरा हुआ नहीं होता है। पशुओं में पिचकारी लगाकर यह सिद्ध किया जा चुका है कि शिखर के विकार में जीवित क्षय-कीटाणु रहते हैं और यहाँ से फेफड़े के अन्य भागों तथा अन्य इन्द्रियों में रोग के फैलने की आशंका रहती है।

प्राथमिक क्षयी विकार और शिखर के क्षय-रोग में सम्बन्ध—प्राथमिक क्षयी विकार फेफड़े भर में बिखरे होते हैं और पार्श्वकला से कुछ नीचे होते हैं। साधारणतः वे फुप्फुस शिखरों में नहीं होते। फिर उनका शिखर-क्षय से क्या सम्बन्ध होता है? यह स्वयं स्पष्ट है कि उनके सीधा फैलने से शिखर में रोग नहीं होता। यह ऊपर बताया जा चुका है कि प्राथमिक यक्ष्मों के साथ रोग सदा लसिकावाहिनी नाड़ियोंद्वारा स्थानान्तरित होकर टेटुँआ और श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियों में पहुँच जाता है।

जब टेटुँआ और श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियों में विस्तृत रोग हो जाता है तो उनमें क्षय-कीटाणुओं को रोकने की पूरी शक्ति नहीं रहती। कुछ कीटाणु उनमें होकर निकल जाते हैं और महा लसिका नाड़ी (Thoracic duct) में होते हुए शिरा-रक्त में जा मिलते हैं। शिरा-

रक्त के द्वारा फुप्फुस धमनी में होकर वे फेफड़े में फिर पहुँच जाते हैं और वहाँ अनेक कीटाणु रक्त-केशिकाओं में रुक जाते हैं। चूँकि इस विधि से क्षय-कीटाणु फेफड़े के सब भागों में पहुँचते हैं, इसलिए अब प्रश्न यह उठता है कि द्वितीयक रूप का क्षय-रोग केवल शिखरों पर ही क्यों होता है? फेफड़े के इस भाग की दशा अनोखी होती है। साधारण श्वास में इस भाग में गति बहुत कम होती है, फलतः रक्त तथा लसिका का प्रवाह बहुत धीमा होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि जब क्षय-कीटाणु किसी रक्त-केशिका में देर तक ठहर जाते हैं तो वे उनसे बाहर निकलकर वायु-कोष्ठों में पहुँच जाते हैं और फिर से लसिकावाहिनियों के प्रभाव में आ जाते हैं। जिस स्थान पर लसिका-प्रवाह मंद होता है उस स्थान पर वे बहुत देर तक बने रह कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। फुप्फुस शिखर में ऐसी दशा के होने का युक्तिपूर्वक अनुमान किया जा सकता है।

इसप्रकार फुप्फुस तन्तु में क्षय-कीटाणु जब दुबारा जमा होते हैं तो पहले से सचेत हुए तन्तुओं में उनका घोर प्रतिरोध होता है जो प्रदाह के रूप में व्यक्त होता है। इस स्रावक फुप्फुस प्रदाह की मात्रा और विस्तार क्षय-कीटाणुओं की संख्या और शरीर की प्रतिरोधशक्ति पर अवलम्बित होता है।

थोड़े कीटाणुओं से केवल हल्की और अल्पकालिक प्रतिक्रिया होती है। परन्तु सम्भवतः कीटाणुओं का बीजारोपण बहुत दिनों तक जारी रहता है। फलतः अन्त में बहुत बड़ा भाग रोगाक्रान्त हो जाता है जिसमें विकास की सभी अवस्थाओं के क्षयी विकार मिल सकते हैं।

फेफड़े के शिखर में क्षय-रोग उत्पन्न होने की जो विधि बताई गई है उसमें केवल भीतरी पुनर्संक्रमण ही अन्तर्भुक्त है। यह मालूम है कि पूर्व संक्रमण की दशा में तन्तुओं में स्थायी विकार उत्पन्न करने के लिये एक बड़ी संख्या में क्षय-कीटाणुओं की आवश्यकता होती है। कुछ लोगों का यह कहना है कि शिखर-क्षय बाहर से श्वास के साथ आये हुये नये कीटाणुओं से पुनर्संक्रमण होने का फल होता है। परन्तु यह कल्पना करना कि श्वास के साथ इतने अधिक कीटाणु अन्दर पहुँच जायेंगे जिससे विस्तृत रोग उत्पन्न हो सके, बहुत कठिन है। यह ठीक है कि प्राथमिक विकार इतने पुर सकते हैं कि जिससे अतिचैतन्यता कम हो जाय और फलस्वरूप थोड़े से कीटाणु भी रोग उत्पन्न करने में सफल हो सकते हैं। परन्तु ऐसी हालत में

शरीर की दशा लगभग प्राथमिक संक्रमण की सी हो जायगी। ऐसी दशा में श्वास-मार्गद्वारा नये संक्रमण से ऐसी विस्तृत प्रदाही प्रतिक्रिया, जिसके बाद पुरातन क्षय-रोग हो जाय, नहीं होनी चाहिये, बल्कि केवल स्थानाबद्ध उत्पादक विकार होना चाहिये जो खटिक परिवर्तन होकर अच्छा हो जाय।

बाह्य पुनर्संक्रमण के सिद्धान्त के प्रतिपादक इस तर्क को इस बात के उदाहरण देकर काटेंगे कि फेफड़े के शिखर का द्वितीयक क्षय-रोग अठारह वर्ष की आयु के पहले विरल होता है और यह कहेंगे कि यदि प्राथमिक विकार ५ या ६ वर्ष को आयु में हो जाते हैं तो यह मानना युक्तिसंगत है कि शिखर में रोग अठारह वर्ष से बहुत पहले ही स्थानान्तरित हो जाना चाहिये। परन्तु शवच्छेदानुभव से विदित होता है कि शिशुओं में भी फेफड़े के शिखर में रंध्रों का पाया जाना कोई असाधारण बात नहीं होती। स्कूल के बच्चों में रेथविन की जाँच से स्पष्ट विदित होता है कि उनमें शिखर का पुरातन रोग, उससे कहीं अधिक होता है, जितना लोग पहले समझते थे। दूसरी ओर ऐसी अनेक अन्य बातें भी होती हैं जिनके कारण फुप्फुस शिखर में प्राथमिक संक्रमण के बाद तुरन्त क्षय-रोग नहीं होता। प्रयोग की दशाओं में हाल के प्राथमिक संक्रमण से शरीर में इतनी अतिचैतन्यता आ जाती है कि श्वासद्वारा अपेक्षाकृत बड़ी मात्रा में पुनर्संक्रमण होने से भी फेफड़ों में केवल बहुत थोड़ा स्थायी विकार होता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि एक बार थोड़ी मात्रा में पुनर्संक्रमण होने से कोई विशेष प्रभाव नहीं होता, परन्तु दीर्घकाल तक लगातार थोड़ा थोड़ा पुनर्संक्रमण होने से उनके संचित प्रभाव से अन्त में पुरातन रोग हो जाता है। अन्तिम बात यह भी स्मरण रखनी चाहिये कि कुकरखाँसी, खसरा इत्यादि अन्तर्वर्ती रोगों का फुप्फुस क्षय के सुषुप्त विकारों पर निश्चित और सुव्यक्त प्रभाव पड़ता है। ऐसे रोगों के प्रकोप से फेफड़े या टेटुँआ अथवा श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियों में प्रदाह होने से उनमें कीटाणुओं को रोकने की शक्ति नहीं रहती, इसलिये उनमें से क्षय-कीटाणु बाहर निकल जाते हैं।

एक या दोनों फेफड़ों के शिखरों में जो निवृत्त क्षयी विकार साधारणतः पाया जाता है, उसमें पुनर्संक्रमण के लक्षण होते हैं। यह मानना सबसे अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है कि यह विकार प्राथमिक विकारों से, जिनमें टेटुँआ तथा श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियाँ भी अभिभूत होती हैं,

क्षय-कीटाणुओं के रक्त-मार्गद्वारा लगातार शिखर में पहुँचने से होता है। अधिकांश लोगों में शिखर का विकार बिलकुल अच्छा हो जाता है, परन्तु कुछ लोगों में यह फैलकर धीरे-धीरे फेफड़े के नये क्षेत्रों को आक्रान्त करता जाता है जिससे अधिक गंभीर रोग हो जाता है।

फुफ्फुस शिखर से क्षय-रोग का फैलना—यदि रोग की प्रक्रिया यहीं पर न रुक जाय तो रोग बढ़कर फेफड़े के अन्य भागों में और प्रायः दूसरे फेफड़े में भी फैल जाता है। सामान्यतः रोग ऊपर से नीचे को फैलता है। सबसे पुराने विकार फेफड़े के ऊपरी भाग में होते हैं और निचले भाग में नवीन विकार होते हैं। साधारणतः रोग शिखर में वर्षों तक शान्त रहकर नीचे को बढ़ता है। फेफड़े के शिखर के सुषुप्त रोग को जाग्रत करनेवाले कारणों की विवेचना पूर्व परिच्छेदों में की जा चुकी है।

शिखर से रोग के फैलने को चार विधियाँ होती हैं

(१) लगातार वृद्धि— शिखर से रोग लगातार बढ़ता हुआ क्रमशः नीचे को फैलता जाता है।

(२) रक्तद्वारा रोग का फैलना—उग्रसर्वांगिक बजरीला क्षय तो रक्तद्वारा रोग के प्रसारण से ही होता है, परन्तु वयस्कों के पुरातन राजयक्ष्मा के फैलने में इस मार्ग का बहुत कम हाथ होता है। राजयक्ष्मा-रोगियों में रक्त-मार्ग का रोग के फैलाने में कम महत्व होना इस बात से भी विदित होता है कि अधिकांश रोगियों में फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों में रोग कम होता है।

(३) लसिकाद्वारा रोग का फैलना—लसिकाद्वारा रोग एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित हो सकता है। परन्तु फेफड़े में क्षय-रोग के फैलने में इस मार्ग का बहुत कम महत्व होता है, क्योंकि राजयक्ष्मा पुनर्संक्रमण का फल होता है और पुनर्संक्रमण में लसिका-ग्रन्थियाँ बहुत कम अभिभूत होती हैं।

(४) श्वास-नलोंद्वारा रोग का फैलना—शिखर के प्रारम्भिक विकार से फेफड़े में विस्तृत क्षयी विकारों के होने का सबसे बड़ा साधन श्वास-नलोंद्वारा रोग का फैलना होता है। वस्तुतः इसमें कोई सन्देह

नहीं कि उग्र बजरीले क्षय के अतिरिक्त फेफड़े में क्षय-रोग की प्रगति बहुत कुछ श्वास-नलोंद्वारा रोग के फैलने पर ही निर्भर होती है।

जब रोग बढ़ता है तो छोटे श्वास-नलों की दीवारें भी आक्रान्त हो जाती हैं। फलतः क्षय-कीटाणु और नष्टभ्रष्ट तन्तु श्वास-नलों में पहुँच जाते हैं और उनके द्वारा रोग अन्य भागों में फैल जाता है। (चित्र नं० ३१)

उत्पादक प्रतिक्रियायें—जब केवल थोड़ा-सा नष्टभ्रष्ट तन्तु किसी श्वास-नल में स्खलित होता है तो वह नीचे की शाखा और प्रशाखाओं में होता हुआ वायु-कोष्ठों की नलियों तक पहुँच जाता है। इस भाग की विचित्र बनावट और विशिष्ट कार्य के कारण बाह्य पदार्थ वहाँ रुक जाते हैं। यदि क्षय-कीटाणुओं की संख्या कम होती है तो उनसे अल्पकालिक प्रदाही प्रतिक्रिया हो जाती है, जिसमें बहुत-से कीटाणु मारे जाते हैं। शेष कीटाणु स्थानिक लसिका तन्तु में ले जाये जाते हैं और वहाँ पर यक्ष्म बन जाते हैं।

प्रत्येक सूक्ष्म श्वासप्रणालिका से ३ से ५ तक वायु-कोष्ठीय नलियाँ निकलती हैं। इसलिए कई एक यक्ष्म गुच्छे के रूप में दिखाई देते हैं। इस गुच्छे का विन्यास एक विशिष्ट ढंग का होता है, जो श्वास-नलोंद्वारा रोग फैलने का लाक्षणिक होता है। यक्ष्मों का गुच्छा अंगूरों के गुच्छे से मिलता-जुलता होता है। फेफड़े के क्षय-रोग के इस रूप-भेद को एश्कोफ़ और उसके शिष्यों ने गुच्छ ग्रंथिल (Acinous nodose) क्षय का नाम दिया है। काटकर देखने पर ऐसे विकार भूरे रंग के गोल गोल गिल्टियों के गुच्छों के ढेर से लगते हैं। बाद को जब किलाटीय परिवर्तन हो जाता है तो वे पीले हो जाते हैं। अगल-बगल के यक्ष्म जब फैलते हैं तो एक दूसरे से सट जाते हैं और उनके बीच का फुप्फुस तंतु, जिसमें कोई विशिष्ट विकार नहीं होता, पिचककर ठोस हो जाता है। इसप्रकार पिचककर ठोस होने को संपीडन सघनता (Collapse induration) कहते हैं। वायु-कोष्ठों की दीवारें इतनी पिचक जाती हैं कि उनमें कार्य-शक्ति नहीं रहती और उनमें सौत्रिक क्षत-चिह्न बनकर काले दाने जमा हो जाते हैं। जब ऐसे संपीडित सघन क्षेत्र के चारोंओर कई एक छोटे छोटे यक्ष्म होते हैं तो वे एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके मिलने से एक गाँठ-सी बन जाती है जिसके बीच में काले दाने होते हैं। यह रूप उत्पादक गुच्छग्रंथिल (Proliferative acinous-

चित्र नं० ३१—श्वास-नलों द्वारा क्षय-रोग का फैलना; बाँयें फुफ्फुस शिखर पर स्थित रंध्र से रोग श्वास-नलद्वारा फैलकर बायें निचले फुफ्फुसखंड में पहुँच गया है। ए (A) अक्षर टेंटुआ में व्रण सूचित करता है।
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)
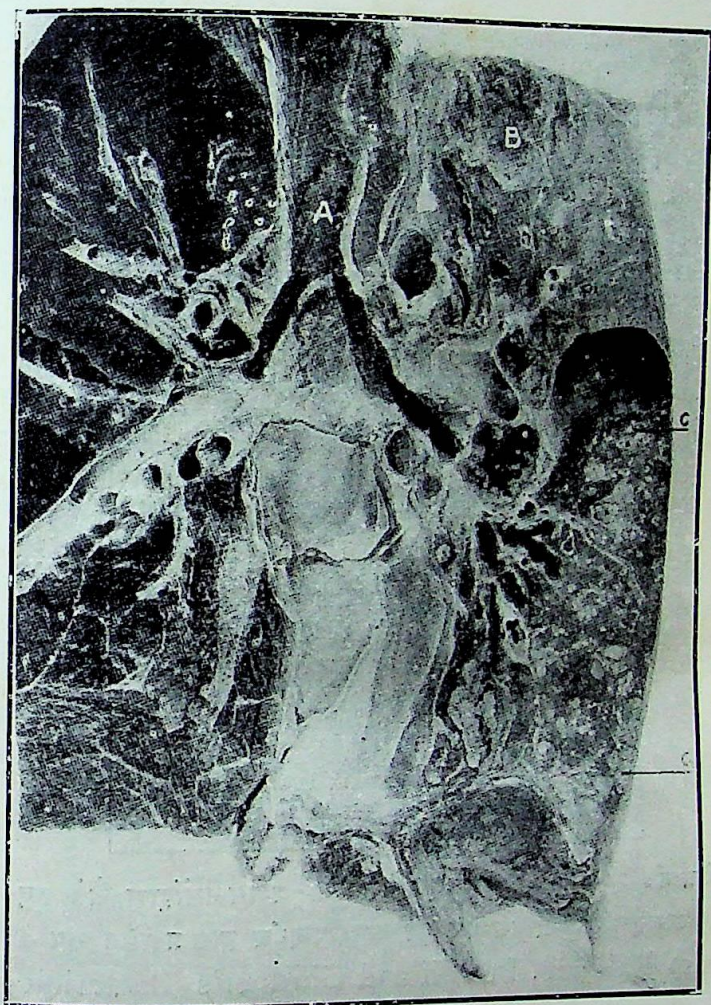
(पृष्ठ १६२)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

चित्र नं० ३२—उत्पादक गुच्छ-ग्रंथिल क्षय ; श्वास-नलोंद्वारा फैले हुए उत्पादक गुच्छ-ग्रंथिल क्षय का अनुवीक्षणयंत्र द्वारा प्रदर्शित रूप

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)

(पृष्ठ १६२)

The Hindi Mandir Press, Allahabad.
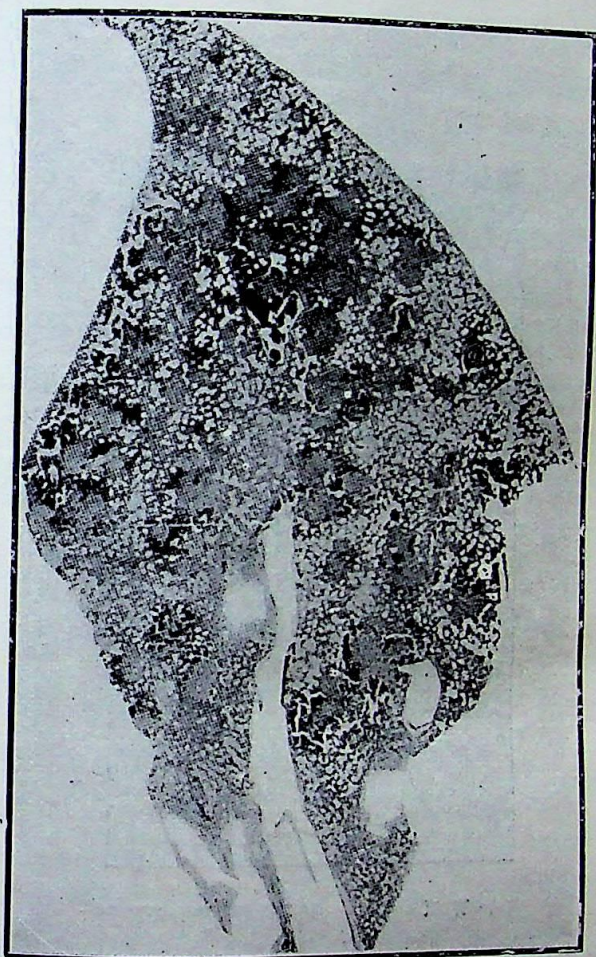
चित्र नं० २३—स्रावक गुच्छ-ग्रन्थिल क्षय; श्वास-नलोंद्वारा फैले हुए स्रावक गुच्छ-ग्रन्थिल क्षय का अणुवीक्षणयंत्र द्वारा प्रदर्शित रूप

(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)

(पृष्ठ १६३)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.
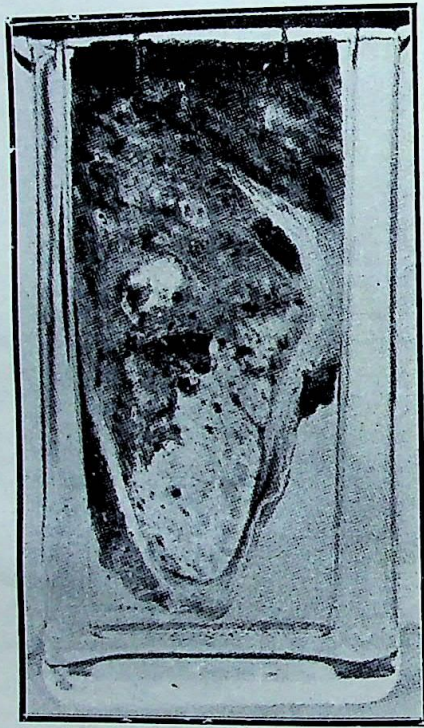
चित्र नं० ३४—काचभ फुप्फुस-प्रदाह
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission)

(पृष्ठ १६२)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

nodose Tuberculosis) नामक क्षय-रोग का लाक्षणिक होता है चित्र नं० ३२)। यह रूप बहुत सामान्य होता है और पुरातन फुप्फुस क्षय के लगभग हरएक रोगी में मिल सकता है। ऐसे रोग का परिणाम विभिन्न होता है। कभी कभी यक्ष्म बनकर पुर जाते हैं और बिखरे हुए सफेद मोतियों की भाँति बने रहते हैं। कभी कभी वे एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनमें किलाटीयपरिवर्तन होकर गलाव हो जाता है। गलित पदार्थ छँट जाने पर एक छोटा-सा रंध्र बन जाता है और रोग के सीधा लगातार बढ़ने से विस्तृत क्षेत्र में पुरातन रोग हो जाता है।

स्रावक प्रतिक्रियायें—यदि शिखर के व्रणकारक विकार से अधिक पदार्थ श्वास-नलों में पहुँच जाता है और उसमें क्षय-कीटाणु अधिक होते हैं तो अतिचैतन्यता के कारण जहाँ कहीं वह पदार्थ रुकता है, बड़ी प्रबल स्रावक और प्रदाही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। कीटाणुओं के टिकने से वायु-कोष्ठों में रक्त तरल, लाल रक्तकण, श्वेत रक्तकण तथा सूत्रिन का स्राव होने लगता है। फलतः अनेक वायुकोष्ठीय नालियों के एक साथ आक्रान्त होने के कारण विभिन्न परिमाणों का श्वास-नल फुप्फुस प्रदाह (Broncho pneumonia) हो जाता है (चित्र नं० ३३)।

नग्न नेत्रों से देखने पर रोग गुच्छ ग्रन्थिल-सा देख पड़ता है, परन्तु इसमें व्यक्तिगत ग्रन्थियों की आकृति उत्पादक रोग की भाँति सुपरिमित नहीं होती। उनकी सीमाएँ अस्पष्ट और धुंधली-सी होती हैं। उनका रंग पहले गहरा लाल होता है। रुग्न भाग को अणुवीक्षणयंत्र द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि वह लाल रक्तकण, बहुमींगीवाले श्वेत रक्तकण और सूत्रिन का बना होता है।

कुछ दिन बाद स्राव का अणुवीक्षणयंत्र द्वारा प्रदर्शित रूप बदल जाता है। लाल रक्तकणों और बहुमीगींवाले श्वेत-रक्तकणों में एक मीगींवाले बहुत से श्वेत-रक्तकण आ मिलते हैं। स्थूलरूप में भी परिवर्तन हो जाता है और वह विचित्र नीबू का-सा पीला अपारदर्शक होता है। इसलिए इसको काचभ फुप्फुस-प्रदाह (Vitreous or gelatinous pneumonia) कहते हैं (चित्र नं० ३४)।

ऐसे प्रदाहरूपी रोग का अन्तिम परिणाम भिन्न भिन्न होता है। कुछ रोगियों में यह अच्छा हो जाता है, केवल थोड़े-से यक्ष्म शेष रह जाते हैं

जिनके साथ साथ कुछ सूत्रनिर्माण भी होता है। जब प्रदाही स्राव में सूत्रिन अधिक होती है तो कभी कभी उसका पाचन नहीं हो पाता और वह सौत्रिक तंतु में परिणत हो जाती है। परिणाम यह होता है कि सघन सौत्रिक क्षत-चिह्न के बनने से वायु-कोष्ठों के छिद्र मिट जाते हैं। ऐसी प्रतिक्रियायें परिमित क्षेत्र में तो हरएक राजयक्ष्मा में पाई जाती हैं, परन्तु कभी कभी ये फेफड़े के पूरे खंड में होती हैं। अन्य दशाओं में सम्पूर्ण स्रावराशि में किलाटीय-परिवर्तन हो जाता है। तब इसको किलाटीय फुप्फुस-प्रदाह (Caseous pneumonia) कहते हैं (चित्र नं० ३५)। यह दशा न्यूनाधिक काल तक रहती है, परन्तु साधारणतः गलाव होकर रंध्र बन जाते हैं। उपरोक्त प्रकार के रोग को स्रावक गुच्छ ग्रन्थिल क्षय-रोग कहते हैं। पुरातन राजयक्ष्मा का यह भी एक साधारण अंग होता है जो कभी कम और कभी बहुत विस्तृत होता है।

श्वास-वाहन—अभी तक केवल इसी बात का वर्णन किया गया है कि संक्रामक पदार्थ के श्वास-नल में स्खलित होने पर शिखर के विकार के निकटस्थ भागों में जो रोग होता है वह कैसे होता है। यदि बहुत-सा नष्टभ्रष्ट तन्तु श्वासनल में पहुँच जाय तो वह श्वास क्रिया से पूरा का पूरा ढकिलकर फुप्फुसमूल तक पहुँच सकता है और फिर प्रश्वास से उसी फेफड़े के अथवा दूसरे फेफड़े के दूसरे श्वास-नल की शाखा में पहुँच सकता है। तब एक बिलकुल नया भाग रोगाक्रान्त हो सकता है। किलाटीय तन्तु और बहुत-से क्षय-कीटाणुओं को नाशकारक क्रिया से उस श्वास-नल की दीवारें नष्ट हो जाती हैं। उस श्वास-नल से सम्बन्ध रखनेवाले फुप्फुस तन्तु में नई उत्पादक तथा स्रावक प्रतिक्रियायें हो जाती हैं और फेफड़े का नया भाग रोगाक्रान्त हो जाता है।

श्वासनालिक वितरण का फेफड़े में क्षय-रोग के गम्भीर और घातक प्रसारों में बड़ा महत्व होता है। एक तो इससे सक्रिय रोग के आसपास रोग फैलता है और दूर पर नये भागों में रोग होता है। प्रतिक्रिया चैतन्यता के नियमों पर निर्भर होती है। थोड़े-से कीटाणुओं से केवल अल्पकालिक प्रदाह होता है। अधिक कीटाणुओं से स्रावक प्रदाह अधिक होता है। इतना अधिक, कि उससे विशिष्ट यक्ष्मनिर्माण छिप जाता है। अस्तु, कीटाणुओं की मात्रा के अनुसार गुच्छ ग्रंथिल रोग प्रधानतः उत्पादक अथवा स्रावक होता है। विस्तार में रोग अणुवीक्ष्य क्षेत्रों से लेकर पूरे फुप्फुसखंड तक होता है।
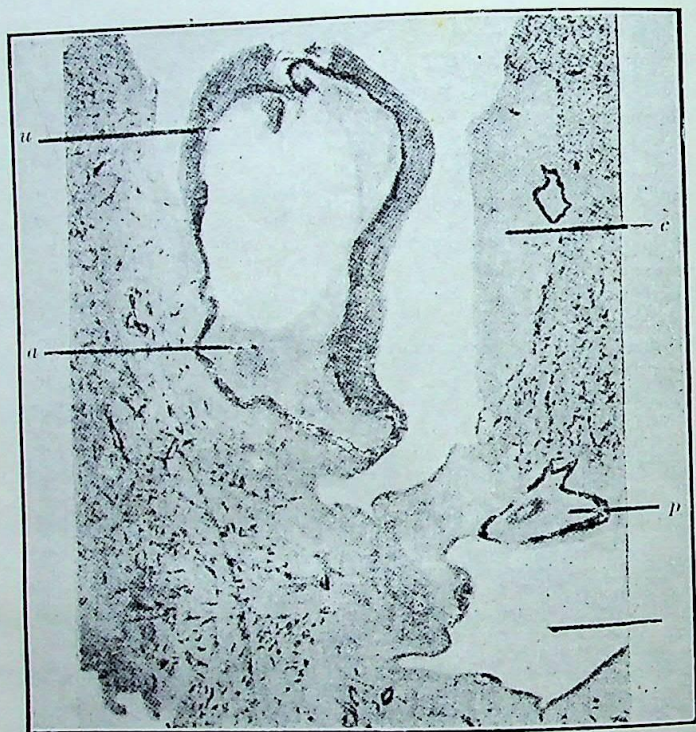
चित्र नं० ३६—फुप्फुस रंध्र का रक्तनाड़ी कोष ; अक्षर 'ए' (a) रक्तनाड़ी-कोष सूचित करता है; इसका ऊपरी भाग रक्त-वेग से फट गया है
(Letulle and Nattan Larrier)
(पृष्ठ १६७)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

मुट्ठी के बराबर हो जाता है। उस ओर को वक्षोऽदर, मध्यस्थ पेशी ऊपरको खिंच जाती हैं और मध्य वक्ष में स्थित अवयव भी उस ओर को खिँच जाते हैं। इसप्रकार दाहिने फेफड़े के रोग में हृदय बाईं ओर से खिंचकर दाहिनी ओर को चला जाता है और बाईं ओर के रोग में हृदय बाईं ओर तथा ऊपर को खिँच जाता है।

रंध्र का परिफुप्फुसियाकला में फूटना—जब रंध्रनिर्माण की प्रक्रिया वेगयुक्त और प्रगतिशील होती है और फेफड़े के बाहरी पृष्ठ के निकट होती है तो कभी कभी रंध्र पृष्ठ पर पहुँचकर परिफुप्फुसियाकला में फूट जाता है और उसके अन्दर की वायु और स्राव इत्यादि निकलकर परिफुप्फुसियाकला की थैली में पहुँच जाते हैं। इसका परिणाम वायुवक्ष (Pneumothorx) होता है। कुछ दिनों के पश्चात् कुछ पानी और पीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस दशा को बारिवायुवक्ष या पूयवायुवक्ष कहते हैं।

रक्तस्राव—अनेक क्षय रोगियों में कभी कभी कफ के साथ रक्त गिरने लगता है। यह रक्त फेफड़ों से आता है। फेफड़ों में रक्तपात निम्न-प्रकारों से हो सकता है।

(१) किसी रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण होकर उसके फट जाने से—रंध्रों की दीवारों में प्रायः रक्तनाड़ी होती है। जब रंध्र की दीवार में गलाव होता है तो उसके अन्तर्गत रक्तनाड़ी भी अभिभूत हो जाती है। फलतः रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण हो जाता है। जब दीवार गलगलकर पतली हो जाती है और फुप्फुस तंतु के नष्ट होने से रक्तनाड़ी निराधार हो जाती है तो रक्त के वेग से नाड़ी की दीवार उस निर्बल स्थान पर फट जाती है और उससे रक्तपात होने लगता है।

इससे भी अधिक साधारण बात यह होती है कि रक्तस्राव होने से पूर्व रंध्र के दीवार की रक्तनाड़ी निर्बल स्थान पर फूल जाती है और उसके फूलने से रक्त-कोष (Aneurism) बन जाता है (चित्र नं० ३९)। फेफड़े में रक्तनाड़ी फुप्फुस तन्तु से चारोंओर घिरी होती है। जब फुप्फुस तन्तु गलकर छँट जाता है तो रक्तनाड़ी निराश्रय हो जाती है। दूसरे जब रक्तनाड़ी की दीवार में रोग होता है तो वह निर्बल हो जाती है और अन्दर के रक्त के वेग से निर्बल स्थान पर फूल जाती है। अन्त में फूले हुए भाग के फटने से रक्तपात होने लगता है। डॉगलस पॉविल का कहना है कि पुराने सूत्रमय

रंध्रों में रक्त-कोष अधिक बनते हैं और वे विशेषकर रक्तनाड़ी की खुली दिशा की ओर होते हैं। शवच्छेद करने पर इनका पता लगाना बड़ा कठिन होता है, क्योंकि जिन रंध्रों में वे होते हैं, वे रक्त से भरे होते हैं। रंध्र को भलीप्रकार धोकर साफ़ करने पर वे रंध्र की किलाटीय दीवार पर उभरे हुए सफ़ेद गोले-से दिखाई देते हैं। परिमाण में वे बाजरे से लेकर मटर के बराबर होते हैं और कभी कभी बेर के बराबर भी होते हैं। साधारणतः वे अकेले होते हैं, परन्तु कभी कभी एक से अधिक भी मिलते हैं।

जब तक रक्त-कोष नहीं बनते, तब तक रक्तस्राव अपेक्षाकृत बहुत कम होता है, क्योंकि जमे हुए रक्त की फुटकियों से रक्तनाड़ी बन्द हो जाती है। छोटे रंध्रों में निकले हुए रक्त से अधिक रक्तपात स्वयं बन्द हो जाता है, परन्तु जब बड़े रंध्र में रक्तनाड़ी फटती है तो रक्तपात बहुत होता है। कभी कभी इतना रक्तपात होता है कि रोगी की मृत्यु हो जाती है (चित्र नं० ४०)।

क्षतिपूरक प्रक्रियायें—जब से वैज्ञानिक आधार पर क्षय-रोग का अध्ययन आरम्भ हुआ है, निरीक्षक चिकित्सकों और निदानवेत्ताओं को पूर्ण विश्वास होगया है कि क्षय-कीटाणुओं से उत्पन्न विकार अच्छे हो सकते हैं। लेनेक, वाल्श तथा अन्य लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि फेफड़े के रंध्र तक सूत्रनिर्माणद्वारा पुर सकते हैं। ईबार्ट ने विस्तृत क्षयी रंध्रों के सूत्रनिर्माणद्वारा पुरने की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कार्नेट का कहना है कि काचभ फुप्फुस-प्रदाह में किलाटीयपरिवर्तन होना आवश्यक नहीं होता, प्रदाह शान्त होकर फेफड़ा पूर्वावस्था को प्राप्त हो सकता है। हाल में टेंडलू, गार्डनर इत्यादि निदानवेत्ताओं ने फेफड़े के क्षय-रोग में क्षतिपूरक प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया है।

यह तो स्पष्ट है कि रोगियों की जाँच से और निदान की परीक्षा-विधियों से इस बात का पूरा पता नहीं चल सकता कि क्षयी विकार अच्छा होकर फेफड़ा फिर ज्यों का त्यों हो सकता है या नहीं। क्योंकि रोगी की परीक्षा अनिश्चित होती है और जिन रोगियों का रोग अच्छा होकर फेफड़ा पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है उनमें उसका पता निदानवेत्ताओं को शवच्छेद करने पर कुछ भी नहीं लगता। फिर भी हाल में क्षय-रोग की परीक्षा में रोञ्जन किरणों के प्रयोग से यह पता लगा है कि लोग जितना समझते हैं,

उससे कहीं अधिक संख्या में क्षय-रोग होकर अच्छा हो जाता है। क्षय रोगियों के क्रम से समय समय पर एक्सरे चित्र लेने पर सावधान अन्वेषकों को इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा है कि क्षय-रोग प्रायः अच्छा हो जाता है।

अस्तु, क्षतिपूर्ति की प्रक्रिया का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) निदान-परीक्षाद्वारा, (२) एक्सरे-परीक्षाद्वारा।

क्षयी-विकारों का सूत्रनिर्माणद्वारा पुरना—यह पहले ही बताया जा चुका है कि फेफड़े के क्षय-रोग में नाशकारक प्रक्रिया के साथ साथ क्षतिपूर्ति भी होती जाती है और यह अत्यन्त उग्र और दुष्ट रोग के अतिरिक्त थोड़ी बहुत सब रोगियों में पाई जाती है। साधारण अनुमान से कहीं अधिक संख्या में संक्रामित मनुष्यों में क्षयी-विकार सूत्रनिर्माणद्वारा पुर जाते हैं। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि जिन लोगों के जीवनकाल में क्षय-रोग कभी नहीं हुआ हो अथवा जिनमें हल्का क्षय-रोग होकर अच्छा होगया हो, उनके फेफड़ों में शवच्छेद करने पर निवृत्त क्षय-रोग के सौत्रिक क्षत-चिह्न मिलते हैं। सौत्रिकनिर्माण की प्रक्रिया सबसे अच्छी आँतों में देखने में आती है, जहाँ पुरे हुए व्रणों के अनेक क्षत-चिह्न मिलते हैं और उनके साथ साथ सक्रिय जाग्रत क्षयी व्रण भी होते हैं।

कुछ क्षयी व्रण खटिक जमा होने से कंकड़ीले हो जाते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्राथमिक क्षयी-विकार बहुधा इसीभाँति पुरते हैं। अधिकांश लोगों में ये कंकड़ीले स्थल फुप्फुस तंतु में पड़े हुए हानिरहित खड़िया के टुकड़े होते हैं। परन्तु कुछ कंकड़ियों में जीवित और विषैले क्षय-कीटाणु होते हैं। जिनसे भविष्य में आभ्यन्तरिक पुनर्संक्रमण का भय रहता है।

अनेक निदानवेत्ताओं ने देखा है कि किलाटीय भाग के चारोंओर प्रायः जो सौत्रिक-कोष बन जाता है, वह रोगस्थल को फुप्फुस तन्तु से बिलकुल अलग कर देता है और प्रक्रिया बहुत दिनों तक,—कभी कभी अनिश्चितकाल तक—हानिरहित बनी रहती है; परन्तु जब तक सौत्रिक-कोष में किलाटीय पदार्थ रहता है तब तक सदैव यह भय बना रहता है कि कहीं क्षयी पदार्थ कोष से फूटकर तथा स्थानान्तरित होकर अन्य भागों में न पहुँच जाय अथवा रक्त या लसिकाप्रवाह में न मिल जाय। अनेक रोगियों में

अच्छा होकर रोग का लौटना इन्हीं कारणों से होता है। ईवार्ट का कहना है कि अन्य इन्द्रियों में रंध्र के तले से अंकुर तन्तु बनकर विकार बिलकुल मिट जाता है, परन्तु क्षयी रंध्रों में इन पृष्ठस्थ अंकुरों का करीब करीब अभाव-सा होता है। फिर भी यदि रंध्र से स्राव भलीप्रकार निकलता रहे तो अंकुर तन्तु के बनने तथा दीवारों के परस्पर मिलने से रंध्र अच्छा हो सकता है। अन्य लोग भी इस मत से सहमत हैं।

सूत्रनिर्माणद्वारा क्षतिपूर्ति के परिणामों का इस पुस्तक में अन्यत्र विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब फुप्फुस तन्तु का एक बड़ा भाग नष्ट हो जाता है तो सूत्रनिर्माण के कारण फेफड़े के सिकुड़ने से मध्य वक्ष खाली जगह को भरने के लिए उस ओर को खिंच जाता है और वक्ष की दीवार पिचक जाती है। दूसरे फेफड़े के प्रतिपूरक वायुध्मान से भी इस बात में सहायता मिलती है। अनेक क्षय रोगियों के निरीक्षकों को ये बातें नित्य देखने में आती हैं।

रोग का उपशमन और पुनर्शोषण— क्षयी द्रव्य का शोषण किस प्रकार होता है, इस बात का पता शवच्छेद करने पर नहीं लग सकता। कुछ लोगों ने प्रयोगद्वारा पशुओं के फेफड़ों में रोग उत्पन्न करके शमनक्रिया का अध्ययन किया है। गार्डनर ने प्रयोगद्वारा पशुओं के फेफड़ों में रोग उत्पन्न करके देखा है कि क्षयी विकार किलाटीय अवस्था तक पहुँचने पर भी शान्त हो जाते हैं, क्षयी पदार्थों का पूर्णतः शोषण हो जाता है और उनका कोई लवलेश शेष नहीं रहता। आधुनिक रोञ्जनकिरण-परीक्षा के प्रयोग से फेफड़े में क्षयी विकारों का पूर्णतया शमन होना निस्सन्देह सिद्ध होगया है। अधिकांश रोगियों में क्षयी पदार्थों का शोषण हो जाता है और उनका कोई चिह्न शेष नहीं रहता। उग्र बजरीले क्षय तक का शोषण या सूत्रनिर्माणद्वारा क्षतिपूर्ति हो सकती है और रंध्र भी विलीन हो सकते हैं। थोड़े थोड़े समय बाद रोगियों के फेफड़ों के एक्सरे चित्र लेकर देखने से क्षयी अभिव्यापनों वा शोषण होते देखा गया है। 'उपक्रान्त क्षय' शीर्षक परिच्छेद में इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा। यदि यह भी मान लिया जाय कि विस्तीर्ण विकारों में क्षयी प्रकिया केवल केन्द्र में होती हैं और एक्सरे चित्र में जो विस्तीर्ण छाया होती है वह अतिचैतन्यता के प्रदाह अथवा अन्य रोग-जनक कीटाणुओं के संक्रमण की द्योतक होती है, तो भी इस बात से, कि

उनका कुछ भी प्रकट चिह्न शेष नहीं रहता, यह सिद्ध होता है कि क्षयी विकार भी अच्छे हो जाते हैं। इसप्रकार पूरे फुप्फुसखण्ड के श्वासनालिक फुप्फुस-प्रदाह और उसके चकत्तों का शोषण हो सकता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि एक्सरे चित्र लेकर रन्ध्रों के विकास का अध्ययन करते समय अनेक रन्ध्र बिलीन होते देखे गये हैं। स्वस्थ फुप्फुस तन्तु के बीच में जो गोल प्रारम्भिक रन्ध्र होते हैं, उनके सम्बन्ध में यह बात विशेषतः सत्य होती है।

वायुध्मान (Emphysema)—पुरातन राजयक्ष्मा में फेफड़े के अनाक्रान्त भाग प्रायः वायुध्मात होते हैं। वस्तुतः मृत्यु के बाद वक्ष से फेफड़ों को निकालने पर वे कभी कभी इतने फूले होते हैं कि बिना तलाश के क्षयी विकार नहीं मिलता। फेफड़े के वायुध्मात भागों का पृष्ठ साधारणतः भीतरी सौत्रिक बन्धनों और रन्ध्रों के खिंचाव के कारण ऊँचा-नीचा होता है। स्थानाबद्ध वायुध्मान में फेफड़े के पृष्ठ पर फफोले होते हैं।

यह वायुध्मान परिपूरक होता है। जब एक फेफड़े में विस्तृत क्षय होता है तो इसकी कमी को पूरा करने के लिए दूसरा फेफड़ा फूल जाता है। जब दोनों फेफड़े रोगाक्रान्त होते हैं तो अनाक्रान्त भाग फूल जाते हैं। ऐसा केवल श्वास-स्थान की कमी को पूरा करने के लिए होता है; क्योंकि फेफड़े के वायुध्मातभाग की अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा परीक्षा करने पर वायु-कोष्ठों की दीवारों और रक्तनाड़ियों में सच्चे वायुध्मान रोग के सदृश किसी अपचय या अपकर्ष के कोई चिह्न नहीं मिलते। वायु-कोष्ठ केवल फूल जाते हैं।

फेफड़े के क्षय-रोग के रूप-भेद— क्षय-रोग के फैलने की विभिन्न रीति और उससे विकसित होनेवाले विभिन्न प्रकारों के विकारों के अनुसार फेफड़े के क्षय-रोग के रूपों के वर्गीकरण की अनेक चेष्टाएँ की गई हैं। यह एक बड़ा कठिन काम है। क्योंकि विभिन्न प्रकार के विकार शुद्ध रूप में बहुत विरल होते हैं और साथ ही यह बात भी है कि क्षयी-विकार का हरएक रूप विकास की किसी भी अवस्था में रुक सकता है। लगभग हरएक फेफड़े में जिसमें रोग होता है, प्राथमिक और बाद के संक्रमणों के चिह्न मिलते हैं। प्राथमिक विकार जैसा कि पहले बताया जा चुका है, फुप्फुस तंतु के बीच में एक या अनेक छोटे छोटे अलग अलग पड़े हुए कंकड़ीले क्षत-चिह्न होते हैं और उनके साथ साथ टेंटुआ और श्वास-नलों की लसिका-ग्रन्थियाँ रोगाक्रान्त

होती हैं। द्वितीयक संक्रमण विस्तार और रूप में विविध प्रकार का होता है। कभी कभी यह केवल शिखरबद्ध होता है और विस्तार में लगभग १ इंच के व्यास से लेकर फेफड़े के ऊर्ध्वखंड के तिहाई भाग तक होता है जिसमें कभी रंध्र-निर्माण होता है और कभी नहीं। शिखर पर रोग स्थापित होने के बाद तुरन्त अथवा कुछ वर्षों तक शान्त रहकर वहाँ से वह नीचे को फैलता है और धीरे धीरे उस फेफड़े भर में और दूसरे फेफड़े में भी हो जाता है। फेफड़े के ऊपरी खंड में क्षत-चिह्न के काले सौत्रिक तंतु के बीच में रंध्र होता है। फेफड़े के निचले भाग में श्वास-नलोंद्वारा फैलने के परिणामस्वरूप उत्पादक या स्रावक रूप के विकार और उनके विभिन्न परिणाम होते हैं। ये विकीर्ण यक्ष्मों के गुच्छे और उनके साथ कहीं सूत्रनिर्माण तथा कहीं फुप्फुस-प्रदाह के क्षेत्र होते हैं।

कभी कभी, परन्तु बहुत विरल बजरीले रूप का क्षय होता है और वह केवल एक फेफड़े में होता है। इस रोग में फुप्फुस-धमनी की किसी शाखा में व्रण के स्थान के अनुसार फेफड़े के न्यूनाधिक भाग में गोल छोटे छोटे भूरे पीले रंग के यक्ष्म हो जाते हैं और उनके मध्यवर्ती तन्तुओं में कभी प्रदाह होता है और कभी नहीं होता। यदि संक्रमण नवीन और अतिचैतन्यता अधिक होती है तो फुप्फुस-तन्तु में फुप्फुस-प्रदाह की-सी विस्तृत सघनता मिलती है।

बाल्यावस्था का फुप्फुस-क्षय—बच्चों में फेफड़ों का पुरातन क्षय-रोग उतना कम नहीं होता जितना पहले समझा जाता था। अधिकांश रोगियों में विकार वैसे ही होते हैं, जैसे वयस्कों में होते हैं। परन्तु जैसा कि बताया जा चुका है, शिखर-विकार उतना नहीं मिलता जितना तरुणावस्था के बाद पाया जाता है। बच्चों में नाभिक फुप्फुस क्षय-रोग के उत्पन्न होने में घटनाक्रम इसप्रकार होता है—तीव्र प्राथमिक संक्रमण से टेंटुआ और श्वास-नल की ग्रन्थियों में किलाटीय-विकार हो जाते हैं जो श्वास-नलों की दीवारों को गलाकर उनमें फूट जाते हैं। फल यह होता है कि क्षय-कीटाणुओं से लदा हुआ नष्टभ्रष्ट तन्तु श्वास से ढकिलकर बड़े बड़े श्वास-नलों में पहुँच जाता है। श्वास-नलों में किलाटीय-प्रदाह हो जाता है और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले फुप्फुस-तन्तु में प्रदाही प्रतिक्रिया हो जाती है जो संक्रमण की तीव्रता और अतिचैतन्यता की अधिकता के कारण प्रायः घातक होती है।

कुछ रोगी रंध्रनिर्माण होने तक जीवित बने रहते हैं। अन्य रोगियों में जिनमें संक्रमण इतना तीव्र नहीं होता, अधिक पुरातनरूप का रोग हो सकता है जो कभी कभी अच्छा भी हो जाता है।

नवाँ परिच्छेद

निदान और शरीर-विकृति

फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों में विकार

पार्श्वकला— राजयक्ष्मा के लगभग हरएक रोगी में पार्श्वकला रोगाक्रान्त हो जाती है। बहुत से क्षय-रोगियों में फेफड़े में रोग व्यक्त होने से पहले पार्श्वकला का प्रदाह होता है। परन्तु इनमें भी लगभग सदैव पार्श्व-कला का रोग फेफड़े के किसी छोटे विकार से फैलकर ही होता है। लगभग सब क्षय-रोगियो में मृत्यु के बाद शवच्छेद करने पर पार्श्वकला में बंधन मिलते हैं। कुछ रोगियों में पार्श्वकला के दोनों परत एक दूसरे से चिपक जाते हैं और बंधन इतने सघन तथा दृढ़ होते हैं (चित्र नं० ४१) कि पार्श्वकला के बिना फटे हुये वक्ष से फेफड़े का निकालना अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव होता है। कभी सब की सब पार्श्वकला मोटी हो जाती है और कभी किसी किसी स्थान पर विशेषकर, फेफड़े के रुग्न भाग के ऊपर। कभी कभी पाददेश में वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी की आच्छादक कला मोटी होजाती है और उससे मांसपेशी ऊपर को उठ जाती है। कभी कभी पार्श्वकला से फुप्फुस तन्तु में भीतर की ओर जाते हुये सौत्रिकबंधन दिखाई देते हैं। पार्श्वकला के बंधन कभी ढीले होते हैं और आसानी से अलग किये जा सकते हैं और कभी वे बड़े दृढ़ होते हैं और जब विस्तृत होते हैं तो फेफडे के चारों ओर एक बीज-कोष-सा बन जाता है। फुप्फुसखंडों के बीच की पार्श्वकला बहुधा मोटी पाई जाती है। फेफडे को पिचकाने के लिये पार्श्वकला की थैली में हवा भरने में इन बंधनों से बड़ी बाधा पड़ती है। दूसरी ओर बंधनों से एक लाभ यह होता है कि इनके बनने से स्वाभाविक वायु वक्ष के होने में
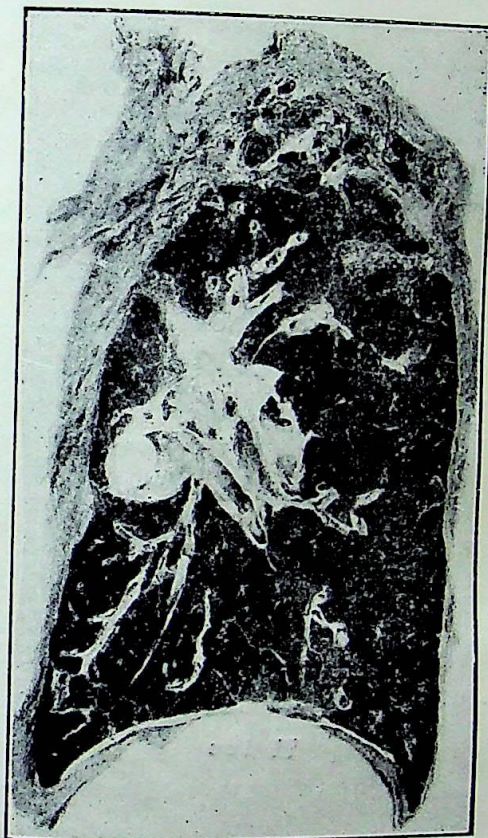
चित्र नं० ४१—पार्श्वकला का पुरातन प्रदाह ; पार्श्वकला के दोनों परत चिपके हुए हैं, शिखर में निवृत्त रोग है।
(From Baldwin, Petroff and Gardner's Bacteriology, Pathology and Laboratory diagnosis of Tuberculosis; by permission.)

(पृष्ठ १७४)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

चित्र नं० ४२—आंतों के क्षयी कटिबंध व्रण (Tendeloo)

(पृष्ठ १७७)

The Hindi-Mandir Press, Allahabad.

रुकावट होती है। कभी कभी पार्श्वकला का प्रदाह स्रावक होता है जिससे वक्ष में स्राव भर जाता है।

टेंटुआ—कभी कभी फेफड़े के पुरातन क्षय-रोग में, विशेषकर जब फेफड़े में रंध्र होजाते हैं, तो टेंटुआ की श्लेष्मकला में अनेक छोटे छोटे पृष्ठस्थ व्रण होजाते हैं (देखो चित्र नं० ३१)।

कंठ—स्वरयन्त्र का प्राथमिक क्षय बहुत विरल होता है। परन्तु स्वरयन्त्र की श्लेष्मकला पर से संक्रामित कफ के लगातार आने-जाने से वह प्रायः रोगक्रान्त होजाती है। पुरातन राजयक्ष्मा के लगभग एक चौथाई रोगियों में स्वरयन्त्र रोगाक्रान्त होजाता है। फेफड़ों से लसिकाबाहिनियोंद्वारा रोग का स्वरयन्त्र तक पहुँच जाना भी सम्भव है। यह इस बात से विदित होता है कि क्षय-रोग सबसे पहले और सबसे अधिक स्वरयंत्र में उस ओर होता है जिस ओर के फेफड़े में रोग होता है अथवा अधिक तीव्र और सक्रिय होता है।

स्वरयंत्र में क्षय-रोग सबसे पहले अनेक छोटे छोटे पृष्ठस्थ व्रणों के रूप में व्यक्त होता है, जो स्वररज्जुओं के पिछले भाग में और स्वरयन्त्र की पिछली दीवार में होते हैं। अणुवीक्षणयन्त्र से परीक्षा करने से पता लगता है कि व्रण बनने से पहले श्लेष्मकला के नीचे के तन्तुओं में छोटे छोटे यक्ष्म बन जाते हैं। जब यक्ष्म बढ़कर श्लेष्मकला के पृष्ठ तक पहुँच जाते हैं तो व्रण बन जाते हैं। श्लेष्मकला के नीचे नीचे फैलता रहता है और जहाँ कहीं पृष्ठ तक पहुँच जाता है वहाँ व्रण उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार अनेक व्रण बन जाते हैं जो कभी कभी अलग अलग बने रहते हैं, परन्तु जब वे एक दूसरे से मिल जाते हैं तो उनके मिलने से एक बड़ा व्रण बन जाता है। बाद को अधिक गलाव होकर सब का सब स्वररज्जु नष्ट होजाता है। एक पृष्ठ से सामनेवाले पृष्ठ पर लग जाने के कारण रोग दूसरी ओर भी हो जाता है।

स्वरयन्त्र में एक दूसरे प्रकार का क्षय-रोग और होता है जिसको अभिव्यापक रूप (Infiltrating form) का क्षय कहते हैं। इस रोग में स्वरयन्त्र में तीव्र प्रदाही प्रतिक्रिया होती है। तन्तु सूजकर बहुत मोटे होजाते हैं, परन्तु श्लेष्मकलामें कोई व्रण नहीं होता और वह प्रायः रक्तहीन पांडुवर्ण की-सी देख पड़ती है। अणुवीक्षणयन्त्र से जाँच करने पर शोथयुक्त अंकुर तन्तु

दिखाई देता है। श्लेष्मकला के नीचे गलाव हो जाने पर आक्रान्त भाग नष्ट होकर एक विस्तृत व्रण बन जाता है। रोग के बढ़ने पर स्वरयन्त्र के कारटिलेज भी अभिभूत होजाते हैं। यदि रोग की प्रगति मन्द होती है और व्रण के पुरने का अवसर मिल जाता है तो सूत्रनिर्माण होने से स्वरयन्त्र विकृत होजाता है।

आँतों में क्षय-रोग—आँतों प्राथमिक क्षय-रोग बहुत विरल होता है। परन्तु उपद्रवरूप से राजयक्ष्मा के अधिकांश रोगियों की आँतों में क्षय-रोग होजाता है। मौटंफीयरी अस्पताल में ५०० लाशों का शवच्छेद करने पर ३२४ अर्थात् ६५ प्रतिशत की आँतों में स्थूल क्षयी व्रण मिले थे। आँतों के विभिन्न भागों में व्रणों का वितरण इसप्रकार था—द्वादशांगुल (Duo Denum) में १.६ प्रतिशत में, छोटी आँतों के ऊपरी भाग (Jejunum) में २८ प्रतिशत में, छोटी आँतों के निचले भाग (Ileum) में ७५ प्रतिशत में, उपाँत्र (Appendix) में २२ प्रतिशत में, अंत्रपुट (Caecum) में ६० प्रतिशत में, बड़ी आँत में ४२ प्रतिशत में और गुदा में ११ प्रतिशत में।

आँतों में क्षय-रोग साधारणतः क्षयी कफ के निगलने से होता है। जिन क्षय रोगियों के फेफड़ों में व्रण होजाते हैं उनमें से हरएक जाने या अनजाने पर्याप्त मात्रा में कफ को निगलता रहता है। फेफड़ों में रंध्र बन जाने पर ऐसा विशेषतया होता है। रक्त-मार्ग या लसिका-मार्ग से भी आँतों में क्षय-रोग का होना सम्भव है, परन्तु इस बात की साक्षी बहुत कम मिलती है।

आँतों में क्षय-रोग सबसे पहले और सबसे अधिक साधारणतः छोटी और बड़ी आँतों के संधि-प्रदेश में संधिद्वार के कपाट (Ileocæcalvalve) में अथवा छोटी आँत के अन्तिम भाग में होता है। इसका कारण यह है कि एक तो इस स्थान पर लसिका-तन्तु बहुत होता है और दूसरे आँतों के अन्तर्स्थित द्रव्य को यहाँ पर बहुत देर तक ठहरना पड़ता है। इसप्रकार क्षय-कीटाणुओं के स्थापित होने के लिए आदर्श दशा मिल जाती है। बाद को आँतों के अन्य भागों में रोग होजाता है। आमाशय में क्षय-रोग बहुत विरल होता है।

आँतों के क्षय-रोग का सबसे अधिक लाक्षणिक रूप लसिका-तन्तु के स्थानों में व्रण होते हैं। क्षय-रोग सबसे पहले आँतों की लसिका-तन्तु की अकेली चित्तियों (Solitary lymph follicles) में होता है। उनमें बहुत छोटे

छोटे व्रण होजाते हैं। छोटे छोटे व्रणों के फैलने और एक दूसरे से मिल जाने से बड़े बड़े व्रण बन जाते हैं। मोतीभरा के व्रणों से भिन्न क्षयी व्रण आँतों की चौड़ाई की दिशा में फैलते हैं और कभी कभी आँत की चौड़ाई भर में कमरबंध की भाँति फैल जाते हैं। इसलिए इनको कटिबन्ध व्रण (Girdle ulcers) कहते हैं (चित्र नं० ४२)। आँतों के लसिका तन्तु के चकत्ते (Peyer's patches) भी प्राय: रोगाक्रान्त होजाते हैं। उनके आक्रान्त होने से जो व्रण बनते हैं वे आँतों की लम्बाई के रुख होते हैं। व्रणों की सीमा अनियमित फटी हुई और चूहों की कुतरी-सी लगती है, उनके किनारे उभरे हुए और भीतर भीतर कटे हुए होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में किनारे लाल होते हैं, पर बाद को कुछ पीले हो जाते हैं। व्रणों का तला मैला, हरा-सा और दानेदार होता है। तले में साधारणत: कुछ किलाटीय पदार्थ होता है और कुछ यक्ष्म भी दिखाई देते हैं। व्रण के बाहरी पृष्ठ की आच्छादक कला में भी प्राय: छोटे छोटे भूरे रंग के कुछ यक्ष्म होते हैं। कभी कभी रोगस्थल से सम्बन्ध रखनेवालीलसिका-ग्रन्थियाँ भी फूल जाती हैं।

आँतों के क्षय-रोग का अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा प्रदर्शित रूप—अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा अनुशीलन करने पर पता लगता है कि यक्ष्म सबसे पहले आँतों की दीवार में श्लेष्मकला से नीचे के परत में स्थित लसिका-तन्तु में बनते हैं (चित्र नं० ४३)। जब यक्ष्म बड़े होते हैं तो उनके ऊपर की श्लेष्मकला ऊपर को उठ जाती है। यक्ष्मों में किलाटीयपरिवर्तन और गलाव होने से व्रण बन जाते हैं (चित्र नं० ४४)।

गलाव होकर बीच का नष्टभ्रष्ट क्षयी तन्तु तो छँटकर निकल जाता है, परन्तु व्रण किनारों पर बढ़ते और फैलते रहते हैं। इसप्रकार फैलने से अथवा छोटे व्रणों के मिल जाने से बड़े बड़े व्रण बन जाते हैं (चित्र नं० ४५)।

लसिकावाहिनी नाड़ियोंद्वारा रोग श्लेष्मकला के नीचे कुछ दूर तक फैल जाता है और उसमें गलाव होने से श्लेष्मकला के नीचे नासूर बन जाते हैं। जब ये नासूर कुछ दूर पर श्लेष्मकला में फूटते हैं तो असली व्रण के आसपास माध्यमिक व्रण (Secondary ulcers) बन जाते हैं।

बाहर की ओर को भी व्रणों के फैलने में कोई रुकावट नहीं होती। आँतों की मांसपेशियों का परत भी प्रायः रोगाक्रान्त होकर नष्ट होजाता है। परन्तु क्षयी व्रण आँतों की आच्छादक कला को गलाकर उदरकला में बहुत कम फूटते हैं, क्योंकि व्रणों के ऊपर की कला में प्रदाह होकर सूत्रनिर्माण होने से वह मोटी हो जाती है। सौत्रिक तन्तु के बनने से रोग की प्रगति रुक जाती है। कभी कभी क्षयीप्रक्रिया इतनी तीव्र होती है कि सूत्रनिर्माण के लिये यथेष्ट समय नहीं मिलता, तब व्रण उदरकला में फूट जाता है। आँतों के क्षयी व्रणों में क्षतिपूरक प्रतिक्रियायें भी प्रायः देखने में आती हैं। जब रोग बहुत तीव्र नहीं होता तो व्रण के किनारों से उपस्तरण बढ़ने लगती है। किनारों की नोरोग उपस्तरण से सेलों की उत्पत्ति होकर पहले व्रण के किनारे ढक जाते हैं। अधिकांश रोगियों में क्षतिपूरक प्रक्रिया इतने ही पर समाप्त होजाती है, परन्तु कभी कभी व्रण का तला भी नई उपस्तरणीय सेलों से ढक जाता है और यक्ष्म विलीन होकर व्रण बिलकुल पुर जाता है (चित्र नं० ४६)।

आँत के जिस भाग में क्षयी व्रण पुर जाते हैं, वह प्रायः मांसपेशियों के नष्ट हो जाने से पतला हो जाता है और फूल जाता है; क्योंकि मांसपेशियाँ नष्ट होकर फिर नहीं उत्पन्न होतीं और उनके स्थान में लचकहीन क्षत-चिह्न बन जाते हैं। सूत्रनिर्माणद्वारा व्रणों की पूर्ति कम होती है। परन्तु कभी कभी बड़ी आँतों का छिद्र सूत्रनिर्माण से संकीर्ण होजाता है और उसके ऊपर का भाग फूल जाता है।

अंत्र-क्षय का एक सृजनात्मक परन्तु विरल रूप और होता है। छोटी और बड़ी आँतों के संधिप्रदेश में सघन सौत्रिक तन्तु के बनने से एक बतौड़ी-सी बन जाती है जिससे साधारणतः अँतड़ियों का छिद्र संकीर्ण होजाता है। जब फेफड़े में रोग निष्क्रिय होता है तब यह रोग अधिक होता है।

उदरकला—राजयक्ष्मा में उपद्रवरूप से उदरकला बहुधा रोगाक्रान्त होजाती है। क्षय-कीटाणु उदरकला में रक्त-मार्ग से, आँत के व्रण के फटने से, अंत्रधारक-कला की किलाटीय लसिका-ग्रन्थियों से अथवा डिम्ब-प्रणाली से पहुँच सकते हैं। कीटाणुओं की संख्या तथा प्रवेश-मार्ग और रोगी की प्रतिरोधशक्ति के अनुसार उदरकला का प्रदाह स्थानाबद्ध या व्यापक होता है। कभी प्रदाह प्रधानतः सूत्ररचनात्मक होता है और उससे उदरकला में

सघन बंधन बन जाते हैं और कभी स्रावकरूप का होता है और उससे जलंधर होजाता है। कभी कभी स्राव पीवरूप का होता है और वह सघन बंधनों के बीच में बद्ध रहता है। कभी कभी उदरकला में उग्र बजरीला क्षय होजाता है (चित्र नं० ४७)।

अन्य इन्द्रियों में विकार—जिन रोगियों की क्षय-रोग से मृत्यु होती है, उनमें ऐसा बहुत विरल होता है कि फेफड़ों, पार्श्वकला, आँतों और स्वरयंत्र के अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रिय में अंत तक रोग न होजाय। दीर्घकाल तक शरीर में विष व्याप्त रहने से जो क्षीणता, बसात्मक अपकर्ष इत्यादि अविशिष्ट व्यापक विकार होते हैं वे थोड़े या बहुत शरीर की सभी इन्द्रियों में होजाते हैं। इसके अतिरिक्त सिक्थात्मक परिवर्तन, जो पुरातन पूयोत्पादक रोगों में कुछ इन्द्रियों में होता है, क्षय-रोग में विशेषकर अस्थियों और संधियों के क्षय में भी होता है।

परन्तु उपरोक्त पोषणसम्बन्धी अविशिष्ट व्यापक विकारों की अपेक्षा क्षय-कीटाणुओं के अन्य इन्द्रियों में पहुँचने से जो विशिष्ट विकार होते हैं वे कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। फेफड़ों से क्षय-कीटाणु निम्नलिखित मार्गों द्वारा अन्य इन्द्रियों में पहुँच सकते हैं।

(१) फेफड़ों के रोग के सीधा फैलने से—पार्श्वकला का क्षय-रोग साधारणतः इसीप्रकार होता है।

(२) कफ के साथ क्षय-कीटाणुओं के दूसरे स्थानों में पहुँचने से—स्वरयंत्र और आँतों का क्षय प्रायः इसीप्रकार होता है।

(३) लसिकावाहिनियोंद्वारा क्षय-कीटाणुओं के दूसरे स्थानों में पहुँचने से—लसिकावाहिनियोंद्वारा संक्रमण फेफड़ों से उनकी प्रादेशिक लसिका-ग्रंथियों में होजाता है। फेफड़े और आँतों की प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियों से क्षय-कीटाणु लसिकाप्रवाह के साथ बहुत दूर तक पहुँच सकते हैं।

(४) रक्त के साथ क्षय-कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से—यह सिद्ध किया जा सकता है कि क्षय-रोगियों के रक्त में प्रायः क्षय-कीटाणु होते हैं और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि रक्त के प्रवाह के साथ अन्य इन्द्रियों में पहुँच सकते हैं। रोग की चरमावस्था में ऐसा विशेष करके हो सकता है। जननेन्द्रियों, मस्तिष्कावरण तथा अन्य दूरस्थ इन्द्रियों में क्षय-रोग का होना इसीप्रकार सम्भव है।

फेफड़े के क्षय-रोग में इसप्रकार क्षय-कीटाणुओं के स्थानान्तरित होने से शरीर के किसी भी इन्द्रिय में रोग हो सकता है परन्तु कुछ इन्द्रियों में अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा ऐसा अधिक होता है।

लसिका-ग्रन्थियाँ—इस बात को बहुत कम लोग समझते हैं कि बालक और वयस्क, दोनों प्रकार के क्षय रोगियों में लसिका-ग्रन्थियाँ, विशेषकर वक्ष और अंत्रधारक कला की ग्रन्थियाँ बहुधा रोगाक्रान्त होजाती हैं। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि टेटुँआ और श्वासनलों की ग्रन्थियाँ राजयक्ष्मा के लगभग हरएक रोगी में आक्रान्त होजाती हैं। उन ग्रन्थियों में भी जो देखने में नीरोग प्रतीत होती हैं, अणुवीक्षण यंत्र से सावधानी से जाँच करने पर सूक्ष्म क्षयी विकार प्रायः मिल जाते हैं, परन्तु अधिकांश ग्रन्थियाँ फूलकर बड़ी होजाती हैं। और अनेक पक जाती हैं और कुछ कंकड़ीली हो जाती हैं। बच्चों में इन ग्रन्थियों के रोगाक्रान्त होने के बहुधा कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते। वस्तुतः कभी कभी शवच्छेद करने पर भी श्वासनलों तथा फुप्फुस तन्तु में किसी विकार का पता लगाना बड़ा कठिन होता है। फिर भी ये ग्रन्थियाँ प्रायः कष्ट की जड़ होती हैं, क्योंकि इनसे न केवल टेटुँआ और श्वासनल की ग्रन्थिवृद्धि के ही लक्षण प्रकट होते हैं, बल्कि प्रौढ़ावस्था के फुप्फुस क्षय के ये प्रायः आदिकारण भी होते हैं।

इन बढ़ी हुई ग्रन्थियों के दबाव से बच्चों में श्वासनल संकुचित हो जाते हैं, परन्तु वयस्कों में ऐसा कम होता है; क्योंकि उनमें श्वासनल अधिक कठोर होते हैं। बच्चों में गिल्टियाँ पककर कभी कभी श्वासनल में फूट जाती हैं और उससे अनायास मृत्यु, क्षयी श्वासनल-फुप्फुस-प्रदाह इत्यादि हो जाते हैं।

अंत्रधारककला की लसिका-ग्रन्थियाँ प्रौढ़ रोगियों में बहुत कम रोगाक्रान्त होती हैं—उन रोगियों में भी, जिनकी आँतों में क्षयी व्रण होते हैं। परन्तु बच्चों में वे बहुधा रोगाक्रांत होजाती हैं, विशेषकर पशु क्षय-कीटाणुओं से। प्राथमिक संक्रमणों में प्रादेशिक लसिका-ग्रन्थियाँ अवश्यमेव आक्रांत होजाती हैं। माध्यमिक या स्थानान्तरित संक्रमणों में वे साधारणतः आक्रांत नहीं होतीं।

प्रणालीविहीन ग्रन्थियाँ—उपर्युक्तों के अतिरिक्त अन्य प्रणालीविहीन ग्रन्थियाँ फेफड़े के क्षय-रोग में विरले ही रोगाक्रान्त होती हैं। ६०४ क्षय-

रोगियों के शवों की जाँच करने पर ३९ में उपवृक्कों में क्षयी विकार मिले थे। इनमें से अधिकांश की जननेन्द्रियाँ भी रोगाक्रान्त थीं। सिवाय एक के अन्य किसी रोगी के जीवन-काल में रोगाक्रान्त होने का सन्देह तक नहीं किया गया था, क्योंकि उनके रोगाक्रान्त होने के स्पष्ट लक्षण प्रकट नहीं हुये थे। इस बात को सब जानते हैं कि चुल्लिका-ग्रन्थि में क्षय-रोग बहुत विरल होता है और शवच्छेदों से इस बात का समर्थन भी होता है।

जननेन्द्रियाँ—मूत्रेन्द्रियों और जननेन्द्रियों में बहुधा क्षय-रोग हो जाता है। राजयक्ष्मा में जननेन्द्रियों का क्षय लगभग सदा वृक्क, उपाण्डु अथवा डिम्बनलों में प्रारम्भ होता है और अन्य मूत्रेन्द्रिय तथा जननेन्द्रियों में रोग इन स्थानों से फैलकर हो जाता है। रक्तजनित संक्रमण के लिए ये स्थान सबसे कम प्रतिरोध शक्तिवाले प्रतीत होते हैं।

अस्थियाँ और संधियाँ—राजयक्ष्मा में अस्थियों और संधियों का रोगाक्रांत होना बहुत असाधारण होता है। इसका उलटा भी अंशतः ठीक होता है। अस्थि और संधि क्षयवाले रोगियों में जाग्रत और प्रगतिशील फुफ्फुस-क्षय बहुत विरल होता है।

मांसपेशियाँ—क्षय-रोग से मरे हुए रोगियों के शरीरों की जाँच करने पर मांसपेशियाँ क्षीण और पीली मिलती हैं। अणुवीक्षण यंत्र से परीक्षा करने पर उनमें अपचय और बसात्मक तथा अन्य प्रकार के अपकर्ष पाये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मांसपेशियों के अपचय में प्रत्येक मांसरज्जु क्षीण होता है, परन्तु उनकी संख्या में कमी नहीं होती। ऐच्छिक मांसपेशियों में क्षय-रोग बहुत कम होता है।

वात संस्थान—मस्तिष्क में क्षयी विकार बहुत कम पाये जाते हैं। वात संस्थान में केवल मस्तिष्कावरण ऐसा स्थान है जहाँ क्षय-रोग अधिक होता है। राजयक्ष्मा की अंतिम अवस्था में मस्तिष्कावरण का क्षयी-प्रदाह प्रायः पाया जाता है। ६०४ मृत क्षय रोगियों के शवों की जाँच करने पर ७·२६ प्रतिशत में मस्तिष्कावरण का प्रदाह मिला था।

रक्तसंचालन संस्थान—रक्तसंचालन संस्थान भी राजयक्ष्मा में प्रभावित हुये बिना नहीं रहता। मांसपेशियों के क्षीण होने से और उनमें बसात्मक अपकर्ष होने के कारण हृदय निर्बल, छोटा और क्षीण हो जाता है।

जिन रोगियों में पार्श्वकला और हृदयकला में बंधन होजाते हैं और फेफड़ा सिकुड़ जाता है उनमें हृदय का दाहिना कोष्ठ अति पुष्ट होजाता है। उग्र बजरीले क्षय में हृदय की मांसपेशियों में बजरीले यक्ष्म मिल सकते हैं, परन्तु पुराने राजयक्ष्मा में नहीं मिलते। कभी कभी हृदयकला में स्रावक-प्रदाह होजाता है। रक्तनाड़ियों की दीवारों में कभी कभी यक्ष्म होजाते हैं।

सिक्थात्मक परिवर्तन—दीर्घकाल तक पूयोत्पादक रोगों से पीड़ित रोगियों की विभिन्न इन्द्रियों में साधारणतः एक विचित्र पदार्थ जमा होजाता है जो देखने में श्वेतसार से मिलता-जुलता है। यह विकार वैसे तो किसी भी इन्द्रिय में हो सकता है, परंतु प्लीहा, यकृति, वृक्क और अँतड़ियों में अधिक होता है (चित्र नं० ४८)।

चित्र नं० ४८—यकृति का सिक्थात्मक अपकर्ष

(From Fishburg's Pulmonary Tuberculosis ; by permission.)

दसवाँ परिच्छेद

क्षय-रोग की लक्षणावली

रोगी का हाल

यह बताया जा चुका है कि क्षय-कीटाणुओं से संक्रमण होने पर सदैव क्षय-रोग उत्पन्न नहीं होता। राजयक्ष्मा में पहले संक्रमण का होना अन्तर्भुक्त होता है। परन्तु संक्रमण होने पर रोग के लक्षणों का व्यक्त होना आवश्यक नहीं है। क्षय-संक्रमण की पहचान बहुत सरल है। यक्ष्मिन-परीक्षा के प्रयोग से तुरन्त और निश्चितरूप से इसका पता लग जाता है और भूल की सम्भावना बहुत कम होती है।

परन्तु धनात्मक यक्ष्मिन-प्रतिक्रिया (positive Tuberculin reaction) जो लगभग ९० प्रतिशत जनसंख्या में पाई जाती है, इस बात का प्रमाण नहीं होती कि ऐसी प्रतिक्रियावाले व्यक्ति को कोई रोग है अथवा उसको किसी इलाज की आवश्यकता है। इससे केवल इतना ही विदित होता है कि वह व्यक्ति अपने जीवनकाल में किसी समय क्षय-कीटाणुओं से संक्रामित हो चुका है। सम्भव है इस संक्रमण से उसकी कुछ भी हानि न हुई हो और साधारणत: ऐसा ही होता है। यथार्थ में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस संक्रमण से उसके शरीर में कुछ रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे उस व्यक्ति की पुनर्संक्रमण से, जिससे बचना बड़ा कठिन होता है, रक्षा होती रहती है। इस रोगक्षमता के अभाव में पुनर्संक्रमण से उग्र और प्रगतिशील रोग हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है।

परन्तु व्यवहारिक रूप में हमारा उद्देश्य क्षय-रोग के पता लगाने का होता है, न कि केवल क्षय-संक्रमण का। कम से कम रोगी तो यही जानना चाहता है कि उसको कोई रोग है अथवा नहीं और उसके लिए किसी इलाज

की आवश्यकता है या नहीं। यह सूचना केवल सावधानी से रोगी का हाल पूछने से, विद्यमान लक्षणों की जाँच करने से, रोगी के विद्यमान तथा शरीर की परीक्षा से ज्ञात रोग-चिह्नों से और आधुनिक परीक्षा-विधियों के उचित उपयोग से प्राप्त हो सकती है।

रोगनिरूपण में उतावलेपन से हानि—लोग यह समझते हैं कि प्रारम्भ में जितना शीघ्र रोग का पता लगा लिया जाय, रोगी के अच्छा होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। इस धारणा के कारण कुछ दिनों से यह देखा जाता है कि सन्देहमात्र होने पर चिकित्सक लोग सक्रिय रोग का होना मान लेते हैं और तब तक वैसा ही इलाज करते रहते हैं जबतक उनका यह विचार ग़लत न सिद्ध होजाय। फलतः बिचारे अनेक व्यक्ति स्वास्थ्यशालाओं में अथवा श्रेष्ठ जलवायु के किसी सुदूर स्थान में भेज दिये जाते हैं, अनेक बालकों का पढ़ना लिखना छुड़ा दिया जाता है, अनेक शिल्पकारों की नौकरी तथा अनेक व्यवसायियों का व्यवसाय छुड़ा दिया जाता है। यह अवश्य है कि इन संदिग्ध क्षयरहित व्यक्तियों में से अनेक ऐसे होते हैं जो श्रमार्त और निर्बल होते हैं और उनको आराम की आवश्यकता होती है। इसलिए रोग की जाँच करने में भूल होने से इन लोगों को लाभ भी होजाता है। परन्तु अन्य कितने ही को भारी हानि होती है। इनमें से अनेकों को क्षय-रोग न होने पर भी व्यर्थ का कलंक लग जाता है जिसको मिटाने के लिए वे भरसक परन्तु असफल चेष्टा करते हैं। इस बात की शिक्षा देने पर भी कि एक समझदार क्षय-रोगी से दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, क्षय-रोग को लोग अभीतक बुरी दृष्टि से ही देखते हैं।

कितने ही लोग, जिनको घर रहने पर भी उतना ही लाभ हो सकता है, कुछ दिनों के लिए स्वास्थ्यशालाओं में भेज दिये जाते हैं। जब वे वहाँ से लौटते हैं तो उनको इस बात का बराबर डर बना रहता है कि कहीं लोगों को यह पता न लग जाय कि उनको क्षय-रोग हो चुका है। स्वास्थ्यशाला में ठहरने का कलंक लग जाने से उनको बीमा कराने, विवाह करने तथा नौकरी इत्यादि तलाश करने में बाधा पड़ती है।

निर्धन और साधारण हैसियत के लोगों में (अधिकतर क्षय-रोगी इन्हीं में से होते हैं) रोगनिरूपण में उतावलेपन का और भी अधिक भयङ्कर

परिणाम होता है। इस बात का एक उत्तम और उल्लेखनीय उदाहरण एक अमेरिका की स्त्री का है। यह स्त्री लगातार २३ वर्ष तक क्षय-रोग की विभिन्न संस्थाओं में रही थी। अन्त में जब फुप्फुस प्रदाह से उसकी मृत्यु हुई और उसके शव की परीक्षा की गई तो क्षय-रोग का कोई चिह्न नहीं मिला। यह अनुमान किया जाता है कि अलावा इस बात के कि यह स्त्री इतने दिनों तक बेकार बनी रही, इसके इलाज में जनता का लगभग ३० सहस्र रुपया बिलकुल व्यर्थ व्यय हुआ और उसके कारण लगभग ४० क्षय रोगियों को स्वास्थ्यशालाओं में स्थान नहीं मिल सका जिससे सम्भवतः उनको लाभ हो जाता।

कितने ही रोगी ऐसे होते हैं जिनकी घर ही पर रहकर थोड़े व्यय में भलीप्रकार देखरेख हो सकती है, उनको विशेष संस्थाओं में रखने में समाज का बड़ा व्यय होता है। बहुतेरों को क्षय-रोग का संदेह होने पर व्यवसाय से वंचित कर दिया जाता है। जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड में गत यूरोपीय महाभारत के समय यह देखा गया था कि कितने ही व्यक्ति जो प्रारम्भिक क्षय के कारण स्वास्थ्यशालाओं में रह चुके थे, सावधानी से परीक्षा करने पर सेना के योग्य समझकर भरती कर लिये गये। अमेरिका के संयुक्तराज्य की सेना में स्वास्थ्यशालाओं के निकले हुये अनेक रोगी भरती किये गये थे और वे बहुत अच्छे सैनिक सिद्ध हुये।

स्वास्थ्यशालाओं में भरती रोगियों में से बहुतेरों के कफ में क्षय-कीटाणु नहीं पाये जाते। इससे विदित होता है कि उनमें से बहुतों को यथार्थ में क्षय-रोग नहीं होता। जिनको क्षय-रोग का कुछ भी अनुभव है वे इस बात को स्वीकार करेंगे।

अब कुछ दिनों से उपक्रान्त क्षय रोगियों की उत्कण्ठित तलाश की प्रथा के विरुद्ध एक उल्टी लहर चलती देख पड़ने लगी है। प्रतिष्ठित लेखक अब इस बात पर जोर देने लगे हैं कि अनिश्चित रोग-चिह्नों पर भरोसा नहीं करना चाहिये। उनका कहना है कि केवल विष व्याप्ति के लक्षणों को ही सक्रिय रोग की सच्ची कसौटी समझनी चाहिए। डा० एडवर्ड आर्टिस रोगलक्षणों के अभाव में केवल निश्चित या अनिश्चित रोग-चिह्नों से सक्रिय रोग मान बैठने की और ऐसे चिह्नवाले रोगियों का व्यवसाय छुड़ाकर स्वास्थ्यशाला में भेजने की बुद्धिमता को स्वीकार नहीं करते,

२४

क्योंकि स्वास्थ्यशालाओं में नये और सक्रिय संक्रमण होने का कुछ न कुछ भय रहता ही है।

हर संदिग्ध व्यक्ति को क्षय-रोगी मानकर इलाज करने के सिद्धान्त से समाज को जो हानि पहुँचती है, उसका एक उत्तम उदाहरण गत यूरोपीय महाभारत में देखने में आया था। सैनिकों की परीक्षा करने पर चिकित्सकों को यदि थोड़े से भी रोग-चिह्न मिल जाते थे, तो साधारण नागरिकों की भाँति उनको भी वे तुरन्त क्षय-रोगी कह देते थे। यदि वे साधारण नागरिक होते तो उनको ऐसी दशा में स्वास्थ्यशाला में भरती करा दिया जाता और वहाँ कुछ समय तक रहने के बाद उनको रोगमुक्त कहकर निकाल दिया जाता। परन्तु फ़ौज के इन सिपाहियों को निरीक्षण के लिये अस्पतालों में भेज दिया जाता था। फल यह हुआ कि फ्रांस में एक हज़ार ऐसे व्यक्तियों में केवल १॥ प्रतिशत लोगों में यथार्थ में क्षय-रोग निकला। लगभग ११३ में केवल नाक तथा कंठ के पुरातन विकार थे। मेजर रिस्ट का कथन है कि फ्रांस की सेना में जिन एक सहस्र सैनिकों को क्षय-रोगी समझकर समरक्षेत्र से युद्ध के मूल अस्पताल में वापस भेज दिया गया था उनमें से बाद को ८०७ क्षयरहित सिद्ध हुये। रोगनिरुपण में उतावलेपन से सेना को सैनिकों की और धन की जो भारी हानि पहुँचती है, उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। कर्नल बुशनेल का कहना है कि रोगनिरुपण की इस त्रुटि की बुराई सर्वत्र पाई जाती है। जर्मनी, ग्रेटब्रिटेन और फ्रांस, किसी भी देश की सेना इस बुराई से खाली नहीं है।

क्षय-रोग के निरूपण में उतावलेपन से उतनी ही हानि होती है, जितनी कि सक्रिय और प्रगतिशील रोग की पहचान में भूल करने से। यदि सावधानी से निरीक्षण किया जाय तो कुछ देर हो जाने से रोगी को कोई विशेष हानि नहीं हो सकती, क्योंकि रोग की ठीक ठीक पहचान करने में अधिक देर नहीं लग सकती। सक्रिय और प्रगतिशील रोगियों में रोग बहुत शीघ्र व्यक्त हो जाता है। कुछ देर होने से भी हानि नहीं होती, क्योंकि वैसे भी ऐसे रोगियों में इलाज से अधिक लाभ होने की सम्भावना नहीं होती। पुरातन रोग में कुछ दिनों की देर से रोग की साध्यासाध्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसको यथार्थ में क्षय-रोग नहीं है,

क्षय रोगी कह देने से प्राय: उसकी और उसके परिवार की बरबादी हो जाती है और उसकी समाज को भी बड़ी हानि पहुँचती है। बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि रोगी के उपक्रान्त अवस्था में होने का सदा यह अर्थ नहीं होता कि वह रोगी साध्य है अथवा अच्छा हो सकता है। अनेक प्रारम्भिक रोगियों की दशा तथा भविष्य सम्वृद्ध रोगियों की अपेक्षा बुरे होते हैं।

सक्रिय राजयक्ष्मा की पहचान के मोटे वसूल—सक्रिय राजयक्ष्मा में विष-व्याप्ति के लक्षण अवश्य पाये जाते हैं। यदि विष-व्याप्ति के लक्षण न हों तो रोगी के संक्रामित होते हुये भी,—और संक्रमण किस में नहीं होता;—उसको किसी इलाज की आवश्यकता नहीं है, विशेषकर ऐसे इलाज की जो समाज के लिये व्यय-साध्य और रोगी के परिवार के लिये नाशकारक हो। ऐसे व्यक्ति को न उसके परिवार से पृथक् करने की और न किसी आरोग्यशाला में भेजने की आवश्यकता होती है। रोगी से यह कहते समय कि उसको उपक्रान्त क्षय है, इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिये।

प्रत्येक सावधान चिकित्सक, चाहे वह रोग को स्थानांकित भले ही न कर सके और उसके लिये उसे किसी विशेषज्ञ की सहायता लेनी पड़े, रोग-लक्षणों से प्रारम्भिक राजयक्ष्मा की पहचान कर सकता है। ज्वर, खाँसी, शीघ्रगामी नाड़ी, आलस्य, रात्रिस्वेद, रक्त-निष्ठीवन इत्यादि लक्षणों के बिना सक्रिय क्षय-रोग नहीं होता। सक्रिय-रोग के प्रकट होते ही सभी या कुछ लक्षण अवश्य या तुरन्त प्रकट हो जाते हैं।

यदि चिकित्सक इन मोटी बातों को ध्यान में रक्खे तो भूल होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। यथार्थ में जितने प्रबल आग्रह के साथ इस बात का प्रचार किया जाता है कि रोगनिवारण के लिए क्षय-रोग का उपक्रान्त अवस्था में शीघ्र से शीघ्र पता लगाना चाहिये, यदि उतना ही ज़ोर रोग के लक्षणों पर दिया जाय, जिनका प्रत्येक वैद्य पता लगा सकता है, तो सभी रोगियों के रोग का उचित समय में पता लग सकता है।

रोगनिरूपण की स्वाभाविक रीति—कायचिकित्सा में किसी दुर्बोध रोग पर प्रकाश डालने के लिये प्राय: हमें निगमन तर्कपद्धति का प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु सक्रिय क्षय-रोग के अस्तित्व का पता लगाने के लिये आगमन तर्कपद्धति से काम लेना अधिक निरापद होता है। सबसे पहले व्यक्तिगत लक्षणों का पता लगाना चाहिये और यह देखना चाहिये कि

पृथक् पृथक् रूप से उनका क्या महत्व है। इसके उपरान्त सबसे बड़ी बात यह है कि जो बातें इसप्रकार ज्ञात हों उनपर सामूहिक दृष्टि से विचार करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि उनसे जो तात्पर्य निकलता है वह ठीक है या नहीं और वह विभिन्न बातों के पारस्परिक सम्बन्ध का विरोधी तो नहीं है।

युक्तिपूर्वक इस विधि से काम लेने के लिये रोगी की आकृति का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये और उसके उन लक्षणों की भलीप्रकार पूँछताछ करनी चाहिये जिनके कारण वह इलाज के लिये आया है। इसके अतिरिक्त उन लक्षणों की भी पूँछताछ कर लेनी चाहिये, जिनकी ओर ध्यान दिलाये बिना एक साधारण रोगी उनको बता नहीं सकता। इन बातों का ठीक ठीक पता लगाने के उपरान्त और उनका महत्व निर्धारित करने के बाद शरीर की परीक्षा द्वारा जो कुछ रोग-चिन्ह ज्ञात हों उन पर लक्षणों के साथ साथ विचार करना चाहिये।

रोगी का हाल—सबसे पूर्व रोगी से उसके रोग का हाल विस्तृत रूप से पूछना चाहिये। यदि बता सके, तो उसके माता-पिता और पितामह तथा पितामही के स्वास्थ्य की दशा और यदि उनकी मृत्यु हो चुकी हो तो मृत्यु का कारण पूछना चाहिये। इस प्रसंग में पूछनेयोग्य विशेष महत्व की बात यह होती है कि उसके शिशुकाल में उसके पूर्वजों में से किसीको सक्रिय क्षय-रोग तो नहीं था। यदि बाल्यावस्था पार करने के बाद उसके किसी पूर्वज में क्षय-रोग हुआ तो उसमें उन लोगों की अपेक्षा जो क्षयरहित माता-पिता या पूर्वजों की सन्तान होते हैं, अधिक क्षय-रोग होने की सम्भावना नहीं होती। यथार्थ में प्रचलित धारणा के प्रतिकूल कुछ साक्षी इस बात की मिलती है कि ऐसे व्यक्तियों में क्षय-रोग होने पर उन लोगों की अपेक्षा हल्का होता है जिनके परिवार में क्षय-रोग का होना पाया नहीं जाता।

रोगी की आयु का अधिक विचार नहीं होना चाहिए। ऐसी कोई आयु नहीं है जिसमें क्षय-रोग नहीं होता। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक आयुकाल में रोग का विशेष रूप होता है; शिशुकाल में उग्र व्यापक रोग होता है, बाल्यकाल में लसिका-ग्रन्थियों, अस्थियों और संधियों का क्षय होता है, प्रौढ़ावस्था में फेफड़ों का साधारण पुरातन क्षय (राजयक्ष्मा) तथा ४० वर्ष की आयु के बाद सूत्रोल्वण क्षय होता है और वृद्धावस्था में

वार्द्धक्य-क्षय होता है जो बहुत पुरातन और जीर्णरूप का होता है और जिसके लक्षण और गति विशिष्ट होते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि क्षय-रोग के विकास पर रोगी के व्यवसाय का बड़ा प्रभाव होता है। इसलिये रोग का हाल पूछते समय इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

यह भी पूछ लेना चाहिये कि कभी रोगी के वक्षस्थल में चोट तो नहीं लगी थी और यदि लगी थी तो उसके बाद रक्त-निष्ठीवन तो नहीं हुआ था।

पूर्ववर्ती रोगों का विस्तारपूर्वक हाल पूछना चाहिये। शिशुओं और बच्चों में सक्रिय क्षय-रोग संक्रामक उद्भेदक (Erruptive) रोगों के बाद अधिक होता है। प्रौढ़ावस्था में मोतीझरा, इन्फ्लुएञ्ज़ा, फुप्फुस या फुप्फुसकला का प्रदाह, मधुप्रमेह और उपदंश इत्यादि रोगों का क्षय-रोग के प्रादुर्भाव पर प्रभाव पड़ता है। बाल्यावस्था के कंठमाला रोग का प्रौढ़ावस्था के सक्रिय राजयक्ष्मा के होने में कोई प्रभाव नहीं होता, सिवाय इसके कि राजयक्ष्मा जब कभी होता है तो प्रायः हल्का होता है। अस्थियों और संधियों के पूर्ववर्ती क्षय के सम्बन्ध में भी यह बात अंशतः सत्य होती है।

स्त्रियों से मासिक-धर्म का हाल पूछना चाहिये और इसके अभाव पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह स्मरण रखने योग्य है कि क्षय-रोग का प्रादुर्भाव प्रायः प्रसव के बाद होता है। इस विषय में यह कहना आवश्यक है कि जिन स्त्रियों में प्रसव के बाद क्षय-रोग का प्रादुर्भाव होता है उनमें से अनेक में रोग बहुधा पहले ही से मौजूद रहता है, जिसका प्रसव से केवल पुनरुद्दीपन होजाता है।

रोग-निरूपण में प्रौढ़ व्यक्तियों में संक्रमण के सम्पर्क को विशेष महत्व नहीं देना चाहिये। अधिकांश लेखकों का यही मत है। यह बताया जा चुका है कि डाक्टर, परिचारक इत्यादि क्षय-रोग की संस्थाओं के कर्मचारियों में, जिनका क्षय-कीटाणुओं से सबसे अधिक सम्पर्क होता है, क्षय-रोग अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक नहीं होता और न क्षयी पतियों की पत्नियों में अथवा क्षयी पत्नियों के पतियों में ही अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है। ऐसी दशा में यह समझना कि रोगियों के सम्पर्क से डाक्टरों की अपेक्षा और क्षयी पति या पत्नी के सम्पर्क से स्वस्थ पत्नी या पति की अपेक्षा साथ

काम करनेवाले एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अधिक रोग हो जायगा, विचारशून्यता नहीं तो और क्या है। बच्चों की, विशेषकर शिशुओं की बात दूसरी है। क्षयी माता-पिता के शिशुओं में अथवा जिनमें अन्यथा सम्पर्क हो जाता है, सक्रिय रोग हो जाने की अवश्य अधिक सम्भावना होती है। तीन वर्ष से अधिक आयुवाले बच्चों में इस बात की जाँच करनी चाहिये कि जब बच्चे की आयु सालभर से कम थी उस समय माता-पिता में से किसी को क्षय-रोग था या नहीं; क्योंकि माता-पिता के कफ में कीटाणु निकलने के समय यदि बच्चे की आयु तीन वर्ष से अधिक हो तो भारी प्राथमिक संक्रमण की संभावना कम होती है।

बच्चों में संक्रमण के उद्गम स्थान का पता लगाने में एक आश्चर्यजनक बात प्रायः देखने में आती है। पितामह या पितामही में से किसी को वार्द्धक्य क्षय होता है, जिसका उनको पता नहीं होता और जिसको वे केवल बुढ़ापे की साधारण खाँसी समझे होते हैं और उनसे बच्चों में क्षय-संक्रमण होजाता है।

वर्तमान रोग का हाल—यह जानना बड़ा महत्वपूर्ण होता है कि वर्तमान रोग का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ है और रोग के कौन-कौनसे लक्षण व्यक्त हो चुके हैं। रोगी को ज़ुकाम या खाँसी के दौरे पहले कभी हुये थे या नहीं, इस बात की सावधानी से जाँच करनी चाहिये; क्योंकि सम्भव है कि ये दौरे निष्फल क्षय के रहे हों। दूसरी ओर यदि यह ज्ञात हो कि ये दौरे टॉन्सिल या एडीनाइड के बढ़ जाने से हुये हैं तो फेफड़े के सक्रिय और प्रगतिशील रोग की कम सम्भावना होती है। और यदि फेफड़े में स्पष्ट क्षयी विकार भी हो तो रोगी की भावी दशा अच्छी समझनी चाहिये। यदि यह मालूम हो कि रोगी को पहले मोतीझरा, फुफ्फुस प्रदाह और विशेषकर पार्श्वकला के प्रदाह के दौरे हुये थे तो यह सम्भव है कि ये दौरे क्षय-रोग के दौरे रहे हों जो अब अच्छे हो गये हैं। रोगी के वृत्तान्त में महीनों तक उसके स्नायविक दुर्बलता, मन्दाग्नि, रक्ताभाव अथवा शीतज्वर का इलाज होता रहना पाया जाना कोई असाधारण बात नहीं होती।

इस बात की जाँच करनी चाहिये कि वर्तमान रोग के प्रारम्भ में कौन-कौन-से लक्षण थे। कफ, खाँसी, आलस्य, तन्द्रा, विशेषकर मध्याह्नोपरान्त, वज़न की कमी, रक्त-निष्ठीवन और पार्श्वशूल इत्यादि लक्षणों पर विशेष

ध्यान देना चाहिये। सक्रिय रोग है अथवा नहीं, इस बात का पता लगाने में ज्वर और सर्दी का लगना, कमर में पीड़ा, अरुचि, तीव्रगामी नाड़ी इत्यादि उसके सहगामी लक्षण सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। रात्रि-स्वेद के सम्बन्ध में जाँच करनी चाहिये और यदि रात में पसीना आता हो तो पूछना चाहिये कि पसीना सोते समय होता है या किसी भी समय होता है और उससे निंद्रा भंग तो नहीं हो जाती है। रोगी की क्षुधा के सम्बन्ध में भी जाँच करनी चाहिये। यदि भूख की कमी हुई हो तो पूछना चाहिये कि वह अन्य लक्षणों के प्रादुर्भाव के साथ तो कम नहीं हुई है। यदि रोगी बता सके तो उसके गत कई वर्षों में शरीर के वज़न की कमी या बढ़ती का हाल पूछना चाहिये। रोगी के पाखाने का हाल पूछना चाहिये और विशेषकर यह कि उसको अतिसार तो नहीं हुआ है।

यदि कफ आता हो तो उसमें क्षय-कीटाणुओं और स्थितिस्थापक तन्तु की जाँच अवश्य करनी चाहिये। मूत्र की परीक्षा करके यह देखना चाहिये कि उसमें एल्बुमेन, शक्कर तथा साँचे निकलते हैं या नहीं।

इन सब बातों की जाँच करने के बाद रोगी की शारीरिक परीक्षा करनी चाहिए। इसके अन्तर्गत केवल वक्ष-परीक्षा ही नहीं आती, अपितु शरीर के सब अंगों की चोटी से पैर तक की परीक्षा आती है। इसप्रकार इतने रोग-लक्षण और चिह्न मिल सकते हैं, जिससे क्षय-रोग का निश्चय किया जा सके, अथवा यह सिद्ध हो सके कि रोगी के लक्षणों का कोई और कारण तो नहीं है। क्षय-रोग के चिह्न, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, समस्त शरीर में बिखरे होते हैं।

सबसे बड़ी बात जिसको कभी न भूलना चाहिये, यह है कि बिना रोग-लक्षणों के सक्रिय क्षय-रोग नहीं होता, और कफ में क्षय-कीटाणु मिलने के अतिरिक्त ऐसा कोई रोग-लक्षण या रोग-चिह्न नहीं है जो क्षय-रोग का निश्चय द्योतक हो। केवल विभिन्न लक्षणों और चिह्नों के संयोग तथा परस्पर सम्बन्ध से ही रोग की पहचान हो सकती है, विशेषकर उन दुर्ज्ञेय रोगियों में जिनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। इस बात से सक्रिय राजयक्ष्मा की शीघ्र पहचान में कोई बाधा नहीं पड़ती और भूल जितनी सर्वेक्षण की असावधानी से होती है उतनी अन्य किसी कारण से नहीं होती।

क्षय-रोग की लक्षणावली का महत्व—अगले परिच्छेदों में राजयक्ष्मा की विभिन्न परीक्षा-विधियों का यथास्थान वर्णन किया जायगा, क्योंकि निरीक्षण, स्पर्शन, विघातन और आकर्णन विधियों की सहायता से ही रोग स्थानांकित किया जा सकता है और उसकी साध्यासाध्यता तथा इलाज के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचना मिल सकती है। क्षय-रोग के लक्षणों का जिनको हाल के कुछ ग्रन्थों में गौण स्थान दिया गया है, पहले विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा। इसके कारण स्पष्ट हैं। एक तो सक्रिय क्षय-रोग के सामान्य लक्षणों का पता हरएक चिकित्सक लगा सकता है; और दूसरे, सक्रिय क्षय-रोग के अस्तित्व अथवा अभाव का पता लगाने में अनिश्चित रोग-चिह्नों की अपेक्षा लक्षणों का महत्व कहीं अधिक होता है। एक ओर तो यह सम्भव है कि सक्रिय क्षय-रोग होते हुये भी कुशल विशेषज्ञ तक को कोई रोग-चिह्न न मिले और एक्सरे-परीक्षा से भी विकार के स्थान का पता न लगे और दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि अनेक स्वस्थ लोगों में फुफ्फुस शिखर में विकार के अनेक चिह्न मिलते हैं। परन्तु बिना रोग-लक्षणों के सक्रिय क्षय-रोग नहीं हो सकता। यह एक ऐसा सत्य है जिसका बार-बार दोहराना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। क्षय-रोग के लक्षणों की उचित और सावधानी से जाँच और विवेचन करने पर रोग के प्रारम्भ, उसकी तीव्रता की प्रवृत्ति तथा साध्यासाध्यता के सम्बन्ध में सूचना मिलती है। हरएक चिकित्सक इनका पता लगा सकता है। बहुधा निश्चित रोग-चिह्नों के प्रादुर्भाव से पूर्व लक्षण व्यक्त होते हैं, अतएव पहले लक्षणों की ही पूँछताछ करनी चाहिये।

इसलिये सक्रिय राजयक्ष्मा के खाँसी, कफ, ,ज्वर, रात्रि-स्वेद, रक्त-निष्ठीवन, कृशता, तीव्रगामी नाड़ी इत्यादि प्रमुख लक्षणों की आलोचना पहले की जायगी। इनमें से प्रत्येक लक्षण की रोग की पहचान तथा साध्यासाध्यता की दृष्टि से विवेचना की जायगी। इन लक्षणों के ठीक-ठीक समझने से ही रोग की पहचान की जा सकती है, विशेषकर उपक्रान्त अवस्था में। दूसरी ओर केवल शारीरिक परीक्षा और एक्सरे परीक्षाद्वारा ज्ञात बातों से रोग की साध्यासाध्यता का विचार करने में भयंकर भूल हो सकती है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

खाँसी, कफ और स्वरभंग

नित्यता—खाँसी राजयक्ष्मा का सर्व प्रधान लक्षण होती है। साधारणत: सबसे पहले इसीसे रोगी का ध्यान रोग की ओर आकृष्ट होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या बिना खाँसी के भी राजयक्ष्मा हो सकता है? पीडो का कथन है कि खाँसी राजयक्ष्मा का आद्य और अन्तिम लक्षण होती है। यदि खाँसी न हो तो समझना चाहिये कि राजयक्ष्मा भी नहीं है। इसी भाँति बहुत से अन्य डाक्टरों का भी मत है कि खाँसी के बिना फेफड़ों का क्षय-रोग नहीं होता। इसके विपरीत कुछ डाक्टरों का मत है कि राजयक्ष्मा में खाँसी यद्यपि सभी रोगियों में किसी न किसी अवस्था में अवश्य पाई जाती है, परन्तु इसका होना अनिवार्य नहीं है। बिना खाँसी के भी राजयक्ष्मा हो सकता है।

इस मतभेद के अनेक कारण हैं। यदि रोगी कहे कि उसको खाँसी बिलकुल नहीं आती तो उसके कथन पर निस्संकोच विश्वास नहीं कर लेना चाहिये। प्राय: यह देखा जाता है कि खाँसी के ठसके को अथवा प्रातःकाल कंठ साफ करते समय खँखार निकलने को लोग खाँसी नहीं समझते; क्योंकि उससे उनको कोई कष्ट नहीं होता। पूछने पर वे कह देते हैं कि उनको खाँसी नहीं आती। राजयक्ष्मा के प्रारम्भ में बहुधा इसीप्रकार की खाँसी होती है। रोग की सम्वृद्ध अवस्था में बहुत-सा कफ निकलने पर भी रोगी को यह ख्याल हो सकता है कि उसको खाँसी नहीं आती। श्वासमार्ग की सेलों के लोमों की गति से कफ ऊपर को आजाता है और बिना किसी प्रयास के निकल जाता है अथवा रोगी के निगल जाने पर वह भी नहीं निकलता। यह बात अनेक रोगियों में, विशेषकर स्त्रियों में देखी जाती है। बहुत

सावधानी से पूछताछ करने पर रोगी प्रायः यह कहता है कि जैसी और सबको खाँसी आती है वैसी ही उसको भी आती है।

जो रोगी कफ को निगल जाते हैं, वे साधारण प्रश्न करने पर यही कह देते हैं कि उनको खाँसी नहीं आती। परन्तु जब उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करके सावधानी से प्रश्न किया जाता है तो वे मान लेते हैं कि कुछ खाँसी उनको अवश्य आती है। दूसरे प्रकार के रोगी जिनको सक्रिय रोग होते हुये भी खाँसी नहीं आती, वृद्ध होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन आगे चलकर किया जायगा। बहुत से रोगी ऐसे मिलते हैं जिनके फेफड़ों की परीक्षा करने पर दीर्घकाल तक रोग के कोई चिह्न नहीं मिलते, परन्तु उनमें खाँसी के निरन्तर होने के कारण रोग का निश्चय हो जाता है।

क्षय-रोग में खाँसी के भेद—क्षय-रोग में कई प्रकार की खाँसी पाई जाती है। रोग की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न प्रकार की खाँसी होती है। इन नाना प्रकार की खाँसियों की चिकित्सा में भी कुछ अन्तर होता है। अतएव इनकी ठीक पहचान और उपचार के लिए चिकित्सक को इनके विषय में पूरा ज्ञान होना चाहिये।

प्रारम्भिक क्षय में खाँसी के रूप—राजयक्ष्मा के प्रारम्भ में भी खाँसी कई प्रकार की होती है:—

(१) प्रतिश्याय रूप (ज़ुकाम)—बहुत से क्षय रोगी पूछने पर बतलाते हैं कि रोग होने से कई वर्ष पहले उनको शरद या शीत ऋतु में जुकाम के बार-बार दौरे हो जाया करते थे जो साधारण इलाज से कुछ दिनों में शान्त हो जाते थे, परन्तु पिछली बार दौरा किसी कारणवश अच्छा नहीं हुआ और खाँसी बनी रही तथा बढ़ गई। जिस औषधि से पहले दौरों में लाभ हुआ था, अब की उससे लाभ नहीं हुआ। ऐसे रोगियों में खाँसी बहुत हल्की होती है। कभी कभी सूखी खाँसी का केवल ठसका होता है। कभी कभी प्रातःकाल कंठ साफ़ करते समय कुछ खँखार निकलती है। किसी किसी रोगी के खाँसने पर स्वच्छ कफ की फुटकी-सी निकलती है। इस अवस्था में कफ में प्रायः क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। इन हल्की खाँसी के दौरों को प्रायः लोग साधारण ज़ुकाम के दौरे समझते हैं। जब परीक्षा करने पर कोई चतुर डाक्टर क्षय-रोग का प्रारम्भ बतलाता है तो उसके कथन पर विश्वास नहीं किया जाता। इस

प्रकार रोगी का बड़ा अमूल्य समय नष्ट हो जाता है। साधारण से साधारण खाँसी को भी केवल जुकाम समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

परन्तु हरएक हल्की खाँसी या जुकाम को क्षय-रोग समझना भी बड़ी भूल है। ऐसे रोगियों में क्षय-रोग का निर्णय करते समय कंठ की सावधानी से परीक्षा कर लेनी चाहिये। नाक और कंठ में क्षय बहुत कम होता है। यदि खाँसी का उपयुक्त कारण नाक तथा कंठ में मिल जाय और परीक्षा करने पर फेफड़ों में क्षय-रोग का कोई चिह्न न मिले तो क्षय-रोग की बहुत कम सम्भावना समझनी चाहिये।

आजकल के फैले हुये क्षयातंक के कारण लोगों को प्रायः जो नकली खाँसी आने लगती है उससे प्रारम्भिक क्षय की हल्की खाँसी की पहचान करना अत्यन्त आवश्यक है। क्षय-रोगियों के घरों के अनेक लोग,—विशेषकर जब क्षय रोगी की मृत्यु होजाती है,—यह विश्वास करने लगते हैं कि उनको क्षय-रोग होगया है और उनको खाँसी आने लगती है। इसकी सर्वोत्तम पहचान यह है कि इसप्रकार की नकली खाँसी रात में जब मनुष्य सोता है, अथवा दिन में जब वह अपने काम में लगा रहता है, नहीं आती। ऐसे बहुत-से रोगी देखने में आते हैं जो निरन्तर खाँसते रहते हैं, परन्तु जैसे ही वे बातचीत में लग जाते हैं या किसी काम में उनका ध्यान बँट जाता है उनकी खाँसी बन्द होजाती है। प्रारम्भिक क्षय की खाँसी अनेक रोगियों में सोते समय बहुत आती है। नींद के प्रथम कुछ घंटों में नहीं आती, परन्तु प्रातःकाल फिर उठती है जिससे रोगी की आँख खुल जाती है और जागने के बाद जब तक बक्ष साफ नहीं होजाता, बहुत आती रहती है। दिन में बिलकुल नहीं या बहुत कम उठती है। केवल चित्तोद्वेग, अति परिश्रम, सर्दी लगने अथवा वायुमंडल में धूल या धुएँ से उठती है।

(२) दौरेदार खाँसी (Paroxysmal Cough)—अनेक क्षय रोगियों में रोग के प्रारम्भ में अथवा बाद को खाँसी बड़े वेग से उठती है और उसके दौरे होते हैं। जब सूखी होती है तब यह बड़ी कष्टदायक और असह्य होती है, क्योंकि यह प्रायः सांयकाल अधिक तीव्र होती है और उससे रोगी सो नहीं सकता। इससे छाती में पीड़ा, निद्रानाश और बड़ी थकावट होजाती है। अन्य रोगियों में खाँसी काफ़ी देर तक बनी

रहती है और कुछ समय के बाद जब कफ निकल जाता है तो शान्त हो जाती है। रोगी सबसे पहले कफ को ढीला करनेवाली औषधि चाहते हैं। दौरों में कभी कभी वमन होजाता है और इनके कारण कुछ मनुष्यों में आँत उतरने लगती है।

दौरेदार खाँसी का कारण टेंटुआ के श्वासप्रणालियों में विभाग-स्थान पर व्रण कहा जाता है। परन्तु इसप्रकार की खाँसी उन रोगियों में भी पाई जाती है जिनमें टेंटुआ और श्वासप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली लसिका-ग्रंथिया बढ़ जाती हैं तथा जिनमें पार्श्वकला में पुरातन प्रदाह से बंधन बन जाते हैं अथवा पार्श्वकला के परत एक दूसरे से चिपक जाते हैं। सूत्रोल्वण क्षय में अथवा जब वायुध्मात फेफड़ों में क्षय होता है तो कभी कभी खाँसी के दौरे होते हैं। दौरे में ऐसे रोगियों के होंठ और नख नीले पड़ जाते हैं, ग्रीवा की शिरायें फूल जाती हैं और रोगी को बड़ा कष्ट होता है। जितना कफ निकलता है उसकी अपेक्षा खाँसी का वेग कहीं अधिक होता है। स्वच्छ कफ की फुटकी निकलने पर खाँसी शान्त हो जाती है, पर रोगी थक जाता है। कुछ देर बाद फिर खाँसी उठती है। रात में भी दौरे होते हैं।

वेगवान फुप्फुस क्षय के अनेक रोगियों में जिनमें रोग स्थानाङ्कित नहीं किया जा सकता, और बजरीले क्षय में, जिसमें यक्ष्म फेफड़ों भर में बिखरे हुये होते हैं और शारीरिक परीक्षा से वायुध्मान के चिह्न मिलते हैं, कभी कभी तीव्र खाँसी के दौरे देखने में आते हैं। कुछ लेखकों का विश्वास है कि खाँसी के वेग से स्थानान्तरित होकर क्षय-रोग फैल जाता है। परन्तु अनेक रोगियों में यह देखा गया है कि अन्त में रोग स्थानाबद्ध होकर उसकी गति साधारण पुरातन राजयक्ष्मा की-सी होजाती है और खाँसी के दौरे बन्द होकर साधारण क्षय रोगी की-सी सामान्य खाँसी रह जाती है।

(३) वमनकारक खाँसी (Emetic cough)—क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में अनेक रोगियों में ऐसी खाँसी होती है कि खाँसते-खाँसते उलटी होजाती है। इसप्रकार की खाँसी को वमनकारक खाँसी कहते हैं। कुछ फ्रांसीसी लेखकों का कहना है कि राजयक्ष्मा के ५०—६० प्रतिशत रोगियों को ऐसी खाँसी आती है। परन्तु अन्य लेखकों का अनुभव ऐसा नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी न किसी अवस्था में आधे से भी अधिक क्षय-रोगियों में वमन होजाता है। परन्तु सब प्रकार के वमन को

वमनकारी खाँसी नहीं कहा जा सकता, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

यह बताया जा चुका है कि प्रारम्भिक क्षय में प्रायः खाँसी से कफ नहीं निकलता, बल्कि वमन होजाता है। कुछ रोगियों में भोजन करते ही तुरन्त खाँसी आने लगती है, कुछ में भोजन करने के कारण ही खाँसी आती है और अन्य रोगियों में भोजन के बाद खाँसी उठती है और उससे वमन होजाता है।

यह वमनकारी खाँसी इतनी विशिष्ट होती है कि यदि पुराने मदिरा-पान करने वालों में मिलने वाली खाँसी, कुकरखाँसी और नासिका के प्रदाह को निकाल दिया जाय तो संदिग्ध रोगियों में क्षय-रोग का निश्चय करने में यह एक विश्वस्त लक्षण होती है। क्षय-रोग का निर्णय करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु इसके रोग-निरूपकमूल्य को ठीक ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि क्षय-रोग में अन्य कारणों से जो वमन होता है उससे इसकी ठीक ठीक पहचान कर ली जाय। वमनकारक खाँसी साधारणतः इसप्रकार होती है।

रोगी दोपहर को या शाम को जब भोजन करता है तो उससे उसको कोई कष्ट नहीं होता। परन्तु कुछ देर (५ मिनट से १ घंटा और बहुधा १५ या २० मिनट) के बाद उसके गले में सुरसुराहट होकर अथवा एकाएक खाँसी का दौरा उठता है जिससे उसका दम घुटने लगता है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसके गले में कफ चिपका हुआ है जो निकालने में नहीं आता। अन्त में उसको कै हो जाती है और उसमें खाया-पिया सबका सब अथवा कुछ भाग निकल जाता है। दौरे से पहले मतली नहीं होती, बल्कि खाँसने में एकाएक वमन हो जाता है। इस बात से अन्य प्रकार के वमनों से इसकी पहचान की जा सकती है। जब यह पहली बार होती है तो रोगी घबड़ा जाता है या इसका कारण कुपथ्य समझने लगता है, परन्तु जब यह बारबार होने लगती है तब अन्य कारण ढूँढ़ने के लिये उसको विवश होना पड़ता है। वमन के बन्द होते ही रोगी को बड़ा चैन मिलता है और पेट का तनाव तथा श्वास-कष्ट दूर हो जाता है। कभी कभी उसको भोजन की फिर इच्छा होती है और वह जान जाता है कि भर पेट खाने से उसको खाँसी आकर वमन हो सकता है।

राजयक्ष्मा काल में अन्य कारणों से भी वमन होता है। परन्तु उसको वमनकारक खाँसी नहीं कहा जा सकता। जिन रोगियों में आमाशय

का पुरातन प्रदाह होता है या जिनका आमाशय फूला होता है अथवा जिनको पुरातन मद्यपान रोग होता है, उनमें प्रायः वमन होजाता है और कभी कभी वह खाँसी से प्रकुत होजाता है। क्षय-रोग की सम्वृद्ध अवस्था में भी वमन हो सकता है और कभी कभी वह इतना प्रमुख होता है कि रोगी के लिये कुछ भी खाना कठिन होजाता है। परन्तु इसप्रकार के वमनों को वमनकारी खाँसी नहीं कहते। इन रोगियों में साधारणतः मतली, मैली जीभ, श्वास में दुर्गंध, कब्ज, अतिसार, शिर में पीड़ा, इत्यादि मन्दाग्नि के लक्षण होते हैं और परीक्षा करने पर फूला हुआ आमाशय, यकृति का बसात्मक अपकर्ष, अथवा अन्य उदर विकार मिलते हैं। ऐसे रोगियों में खाँसी के बाद वमन हो सकता है, परन्तु वमन से पूर्व सदैव खाँसी का दौरा नहीं होता, न वमन का कोई नियम होता है, न यह भोजन के बाद सदा होता है और न इसके बाद सदा रोगी को तुरन्त चैन मिलता है। शराबियों में वमन प्रातःकाल अधिक होता है। कंठ के पुरातन प्रदाह में भी ऐसा ही होता है। इन दोनों दशाओं में उबकाई और मतली आती है जो वमनकारक खाँसी में नहीं आती। वमनकारक खाँसी क्षय-रोग के प्रारम्भ में बहुधा ऐसे रोगियों में आती है, जिनकी पाचकशक्ति अच्छी होती है। वमन के पूर्व सदैव खाँसी का दौरा होता है। भोजन के उपरान्त यह दौरा सदा निश्चित समय पर होता है और पहले या बाद को किसी प्रकार की मतली, चक्कर, उबकाई या मूर्च्छा नहीं आती। विपरीत क्रम अर्थात् पहले वमन और फिर खाँसी कभी नहीं होती।

इसप्रकार की वमनकारक खाँसी क्षय-रोग के अतिरिक्त केवल कुकर खाँसी और मद्यपायियों में कंठ के पुरातन प्रदाह रोग में पाई जाती है। इसलिए यदि किसी रोगी को वमनकारक खाँसी हो और उसमें कुकर खाँसी या पुरातन कंठ प्रदाह के कोई चिह्न न मिले तो तुरन्त क्षय-रोग का संदेह करना चाहिये और यदि यह कुछ दिनों तक लगातार जारी रहे तो निश्चयात्मक चिह्न न मिलने पर भी क्षय-रोग का होना समझना चाहिये।

क्षय-रोग की सम्वृद्धावस्था में खाँसी—जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है खाँसी उत्तरोत्तर बढ़ती और ढीली होती जाती है और कफ के निकलने में कष्ट कम होता जाता है। फेफड़े में रंध्र बन जाने पर साधारणतः खाँसी में कमी होजाती है। परन्तु रात में निद्रा भंग नहीं होती, क्योंकि कफ रंध्र में जमा होता रहता है। परन्तु प्रातःकाल कफ से भरे हुए रंध्र को

खाली करने के लिये खाँसी उठती है जो कुछ मिनट तक रहती है और उसके बाद रोगी को चैन आ जाता है।

जब रंध्र भर जाते हैं तो उनको खाली करने के लिये रोगियों को समय समय पर खाँसी आती है। करवट बदलने का भी प्रभाव पड़ता है। करवट बदलने से रंध्रों में भरा हुआ कफ बहकर श्वासप्रणालियों में आ जाता है। इसलिए उसको निकालने के लिये खाँसी आने लगती है और जब सब कफ निकल जाता है तो शान्त होजाती है। जब तक रंध्र फिर न भर जाय, चैन रहता है। रोगियों को साधारणतः अनुभव से ज्ञात होजाता है कि किस करवट लेटने से उनको आराम मिलता है और किस करवट से उनको खाँसी आने लगती है। किस करवट से आराम मिलता है, यह बात रंध्र से सम्बन्ध रखनेवाली नली की दिशा पर निर्भर होती है। स्वस्थ पार्श्व की ओर लेटने से सदैव आराम नहीं मिलता। पार्श्वकला में बन्धन बन जानेवाले रोगियों में भी करवट बदलने से खाँसी आती है। परन्तु उनमें खाँसी साधारणतः सूखी होती है और उससे कफ नहीं निकलता। रोगियों को बैठने की अपेक्षा लेटने पर अधिक खाँसी आती है, परन्तु कुछ रोगियों में खड़े होने से खाँसी आने लगती है।

इस अवस्था में कुछ रोगियों को बड़ी कष्टदायक तीव्र खाँसी निरन्तर आती रहती है जिससे उनको बड़ी बेचैनी होती है और दिनरात में तनिक भी शान्ति नहीं मिलती। यह ध्यान देने योग्य है कि खाँसी की तीव्रता न फेफड़े के विकार के विस्तार पर और न रंध्रों की संख्या और परिमाण पर पूर्णतया आश्रित होती है। कुछ रोगियों को रोग के अधिक विस्तृत होने पर भी खाँसी कम आती है और अन्य रोगियों को रोग परिमित होने पर भी खाँसी अधिक आती है।

क्षय रोगियों की खाँसी पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। इनमें रोगी की आयु और चित्तवृत्ति सबसे अधिक प्रधान होती हैं। वृद्ध रोगियों की अपेक्षा तरुण रोगियों को खाँसी साधारणतः अधिक आती है। वस्तुतः अधिकांश वृद्ध क्षय रोगियों को खाँसी मुश्किल से आती है। उनमें बिना चेष्टा के ही बहुत-सा कफ निकल जाता है। जिन रोगियों के सम्बन्ध में कुछ लेखक वर्णन करते हैं कि उनको वर्षों तक क्षय-रोग होने पर भी खाँसी नहीं आती, वे यही वृद्ध रोगी होते हैं। रोगी की मानसिक अवस्था का भी बड़ा

प्रभाव पड़ता है। चिड़चिड़े और तेज़ स्वभाववाले रोगियों को शान्त स्वभाव वालों की अपेक्षा अधिक खाँसी आती है।

रोगनिरूपण और साध्यासाध्य विचार में खाँसी का महत्व— खाँसी से कम से कम इतना लाभ अवश्य होता है कि अनेक रोगियों का ध्यान फेफड़ों की ओर शीघ्र आकर्षित होजाता है।

जिस व्यक्ति को पहले कभी खाँसी न हुई हो, यदि उसको तरुणावस्था या उसके पार करने के बाद प्रथम बार जुकाम हो और फलस्वरूप एक महीने से अधिक खाँसी आती रहे तो उसके फेफड़ों में रोग के निश्चित चिह्न न मिलने पर भी क्षय-रोग का बहुत बड़ा सन्देह करना चाहिये। यदि रोग के प्रथम दिनों में नाक और कंठ में जुकाम के लक्षण न हुए हों तो सन्देह को और भी दृढ़ समझना चाहिए क्योंकि साधारण जुकाम और खाँसी में नाक और कंठ में स्रावक प्रदाह अवश्य होता है।

साध्यासाध्य विचार—रोग के साध्यासाध्य विचार की दृष्टि से भी खाँसी एक महत्वपूर्ण लक्षण होती है। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते है जिनके फेफड़ों में विकार बहुत कम होता है और ज्वर, अरुचि निर्बलता, इत्यादि लक्षण भी कम होते हैं परन्तु खाँसी वश में नहीं आती। अन्यथा इन रोगियों की दशा बड़ी अच्छी होती है। खाँसी के तीव्र होने और दौरे के देर तक ठहरने से रोग के फैलने की सम्भावना रहती है और रोगी निर्बल होजाता है तथा उसकी भावी दशा बिगड़ने लगती है। ऐसी खाँसी से कंठ, टेटुआ, श्वासनल और फुप्फुस तन्तु प्रकुप्त हो जाते हैं और उनमें क्षय फैलने की अधिक सम्भावना रहती है। जिन रोगियों के फेफड़े में रोग पृष्ठस्थ होता है उसमें खाँसी के बेग से वायुवक्ष (Pneumothorax) होने का डर रहता है। कुथी और बुलफीनर का कहना है कि सबसे अधिक असाध्य रोगी वे होते हैं जिनको दिनरात खाँसी आती है। उनसे कम असाध्य वे होते हैं जिनको केवल दिन में खाँसी आती है और सबसे अधिक साध्य वे होते हैं जिनको केवल प्रातःकाल खाँसी आती है।

खाँसी से कुछ अंश तक साध्यासाध्य विचार सम्बन्धी अन्य सूचनाएँ भी मिलती हैं। जब रोगी की व्यापक अथवा स्थानिक दशा में उन्नति होती है तो खाँसी कम हो जाती है या मिट जाती है और खाँसी का फिर से बढ़ना फेफड़े में क्षयी प्रक्रिया का फैलना अथवा श्वासनल, कंठ, नासिका इत्यादि में किसी उपद्रव का होना सूचित करता है।

कभी कभी खाँसी का यकायक बन्द होजाना राजयक्ष्मा के किसी भारी उपद्रव विशेषकर मस्तिष्कावरण या उदरकला के प्रदाह का सूचक होता है। स्वरयंत्र में भारी व्रण होने से भी कभी-कभी ऐसा हो जाता है। इस दशा में खाँसी तो कम हो जाती है, परन्तु फेफड़े में विकार बना रहता है और भोजन के अभाव से शक्ति-नाश होकर रोगी का अन्त निकट होने लगता है।

स्वर-भंग—क्षय-रोग में किसी न किसी अवस्था में अधिकांश रोगियों का गला बैठ जाता है और काँसे के फूटे हुए बर्तन का-सा स्वर होजाता है। इस दशा को स्वर-भेद या स्वर-भंग कहते हैं।

कुछ रोगियों में फेफड़ों की भाँति स्वरयन्त्र में भी क्षय-रोग होजाता है। स्वरयन्त्र का क्षय राजयक्ष्मा का एक प्रधान उपद्रव होता है और बहुधा रोग की सम्वृद्धावस्था में होता है। स्वरयंत्र के क्षय के अतिरिक्त अन्य अनेक कारण भी होते हैं जिनसे क्षय रोगी की आवाज़ बैठ जाती है।

फेफड़ों से जो कफ स्वरयन्त्र में होकर बाहर निकलता है, उसकी उत्तेजना से स्वरयन्त्र की झिल्ली का प्रकोप होकर स्वर-भंग होजाता है स्वरयन्त्र की प्रत्यावर्तक वात नाड़ी (Recurrent laryngeal nerve) पर क्षय से बढ़ी हुई लसिका-ग्रन्थियों का दबाव पड़ने से स्वर-भंग होजाता है। इसके अतिरिक्त तीव्र आवेशों के कारण स्वरयन्त्र में रक्तावष्टम्भ (Congestion) होने से, ऋतु के परिवर्तन से और अधिक बोलने से क्षय रोगी का स्वर-भंग होजाता है।

स्वररज्जुओं पर गाढ़ा कफ चिपक जाने से भी अल्पकालिक स्वर-भंग होजाता है। खाँसने से जब यह कफ स्वररज्जुओं पर से हट जाता है, तो स्वरपुनः ठीक होजाता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि क्षय रोगी में स्वर-भंग का कारण केवल स्वर-भंग का क्षय ही नहीं होता, अपितु अन्य अनेक कारण भी होते हैं।

कफ—कफ क्षय-रोग का एक प्रमुख लक्षण होता है। परन्तु प्रत्येक क्षय रोगी के सदा कफ नहीं निकलता। प्रायः यह देखा गया है कि अधिकांश क्षय रोगियों को प्रारम्भिक अवस्था में केवल सूखी खाँसी आती है। कई सप्ताह या मास के बाद कफ निकलना आरम्भ होता है। बच्चों के भी कफ नहीं निकलता, क्योंकि वे प्रायः कफ को निगल जाते हैं। कितनी ही स्त्रियाँ और कुछ पुरुष भी ऐसा ही करते हैं। रोग की सम्वृद्ध अवस्था में भी जब रोगी अत्यन्त जीर्ण होने के कारण थूकने में असमर्थ होता है, कफ

२६

अधिक होते हुए भी बाहर नहीं निकलता। अतएव यह स्पष्ट है कि कफ के अभाव से क्षय का अभाव नहीं समझा जा सकता। रोग के बढ़ने पर कफ अधिक आने लगता है, परन्तु ऐसे रोगी भी देखने में आते हैं जिनमें रोग व्यापक होने पर भी कफ बहुत कम निकलता है। यह इस बात का द्योतक है कि फेफड़े में यक्ष्म बन गये हैं, परन्तु अभी तक पककर श्वासनलों में फूटे नहीं हैं।

कफ का स्थूलरूप—प्रारम्भिक क्षय के कफ के रूप में कोई विशिष्टता नहीं होती। प्रारम्भ में प्रायः कफ बहुत कम निकलता है। कभी कभी बिलकुल नहीं निकलता। डाक्टर कुथी का कहना है कि उनको क्षय-रोग की प्रथमावस्था में ४९ प्रतिशत, द्वितीय अवस्था में १५·४ प्रतिशत और तृतीय अवस्था में १२ प्रतिशत रोगियों में कफ का अभाव मिला था।

प्रारम्भिक क्षय में साधारणतः जो कफ निकलता है वह स्वच्छ श्लेष्म प्रायः झागयुक्त और इतना हल्का होता है कि पानी में डालने से तैरने लगता है। इस कफ में और साधारण ज़ुकाम और खाँसी के कफ में कोई अन्तर नहीं होता।

जैसे जैसे रोग बढ़ता जाता है, कफ गाढ़ा होता जाता है। कुछ दिनों तक तो कफ स्वच्छ रहता है, परन्तु उसके बाद पीला होने लगता है जिससे विदित होता है कि यह पीवरूप होने लगा। पीलापन क्रमशः बढ़ता जाता है। अन्त में कफ पीव के सदृश बिलकुल पीला होजाता है, जिससे पता चलता है कि फेफड़े में गलाव आरम्भ होगया है और फुप्फुस तन्तु गलगलकर निकल रहा है। कफ का पीवरूप होना उसके पीला या पीलापन लिये हुये हरा होने से सूचित होता है। रोग की अत्यन्त सम्वृद्धावस्था में कफ मलिन या मलिन-हरा होजाता है और उसकी गोलियाँ-सी निकलती हैं जो तरल श्लेष्म या थूक में अलग-अलग तैरती रहती हैं। परन्तु जब कफ भारी होता है तो थूकदान के तले में बैठ जाता है और उसके मुद्राकार पिंड बन जाते हैं जो एक दूसरे से अलग रहते हैं। प्राचीनकाल के वैद्यों ने इसप्रकार के कफ को मुद्राकार कफ का नाम दिया था और इसको वे रंध्रनिर्माण का निश्चयात्मक चिह्न मानते थे। कभी कभी कफ में सफ़ेद किलाटीय पदार्थ आता है जो टूटे हुये यक्ष्मों का अंश होता है और कफ में बिखरा हुआ होता है।

क्षय-रोग में कफ साधारणतः गंधरहित होता है। परन्तु कभी कभी उसमें गंध आने लगती है, विशेषकर उस समय जब कि मादक औषधियों के प्रयोग से अथवा रोगी के निर्बल होने के कारण कफ वक्ष के अन्दर बहुत देर तक रुका रहता है। अति दुर्गंधवाला कफ क्षय-रोग में बहुत विरल होता है। जब क्षय रोगी के कफ में बहुत दुर्गन्धि आने लगे तो फेफड़े में उपद्रव रूप, गलाव, विद्रधि इत्यादि विकार की तलाश करनी चाहिये। प्रारम्भ में क्षय रोगी का कफ कुछ नमकीन होता है, परन्तु बाद को उसमें कुछ जी बिगाड़नेवाला मिठास होजाता है

फेफड़ों के क्षयी रंध्रों से निकला हुआ कफ यदि किसी पात्र में कुछ देर तक रख दिया जाय तो उसके तीन स्तर बन जाते हैं। सबसे ऊपर का स्तर फेनिल होता है, दूसरे अर्थात् मध्य स्तर में श्लेष्म तरल और सबसे नीचे के स्तर में गाढ़ा कफ बैठ जाता है। क्षय-रोग के अतिरिक्त श्वासनलों के अन्य पुरातन रोगों में भी इसप्रकार का कफ मिलता है।

कुछ सम्वृद्ध पुरातन क्षय रोगियों में भी कफ बहुत कम या बिलकुल नहीं निकलता। ऐसा सूत्रोल्वण या वायुध्मानयुक्त क्षय में विशषतः होता है, यद्यपि इनमें भी समय समय पर अधिक कफ निकलता है।

जब क्षयी व्रण पुरने लगते हैं और रंध्र शुष्क होने लगते हैं, तो कफ कम आने लगता है। यदि ज्वर और खाँसी कम हो कफ की कमी एक शुभ लक्षण समझा जाता है। दूसरी ओर कफ की अधिकता स्वयं सदा बुरा लक्षण नहीं होती। इससे केवल फेफड़ों में रंध्र और उपद्रवरूपी कास रोग अथवा श्वासनलों का फूलना सूचित होता है। कुछ दिनों के बाद कफ वक्ष में जमा होने लगता है और समय समय पर अधिक परिमाण में बिना प्रयास निकलने लगता है। इस दशा में करवट बदलने का इस पर प्रभाव पड़ने लगता है। रक्त-निष्ठीवन के समय रक्त-स्राव के अनुसार कफ रक्तवर्ण का होजाता है। रक्त-स्राव के बन्द होने के बाद कुछ दिनों तक रक्त के छिछड़े कफ में निकला करते हैं, क्योंकि कुछ रक्त रंध्रों और श्वासप्रणालियों में जम जाता है और वह धीरे धीरे निकला करता है। कभी कफ केवल कुछ ललाई लिये होता है। अन्तिम अवस्था में प्रायः कफ पानी-सा पतला और कत्थई रंग का होजाता है, जिसमें वायु के अनेक बुलबुले होते हैं। यह आलू बुखारा के रस के सदृश कफ फुफ्फुस-शोथ का द्योतक होता है।

चावल दाने (Rice bodies)—कभी कभी थूकदान के तले में छोटे छोटे ज्वार या चावल के सदृश सफ़ेद दाने पाये जाते हैं। इनको चावल दाने कहते हैं। ये दाने फेफड़ों से गलगलकर निकले हुए किलाटीय पदार्थ के अंश होते हैं। इन दानों में असंख्य क्षय-कीटाणु होते हैं और वे सक्रिय नाशकारक प्रक्रिया के द्योतक होते हैं।

कंकड़ी—कभी कभी कफ में रेत या छोटी छोटी कंकड़ी निकलती हैं। कभी रेत की मात्रा बहुत होती है और थूकदान के तले में भूरे रंग के बालुका-कण बैठ जाते हैं। कभी कभी रोगी स्वयं यह बतलाते हैं कि उनको मुँह में करकराहट प्रतीत होती है। कोई कोई कंकड़ी बहुत बड़ी होती है और उसके निकालने में बड़ी कठिनाई होती है। श्वासनल और टेंटुआ उसकी रगड़ से छिल भी जाते हैं और तब कफ में कुछ रक्त भी आने लगता है। रोग की साध्यासाध्यता के विचार से उनका कोई विशेष महत्व नहीं होता।

कफ की परीक्षा

कफ जमा करने की विधि—जिन रोगियों में क्षय-रोग का संदेह होता है, उनमें जितनी सूचना अन्य सब परीक्षा-विधियों से मिलती है, उससे कहीं अधिक मूल्यवान् सूचना अकेले कफ की परीक्षा से मिलती है। यह बात कफ की अणुवीक्षण-परीक्षा के सम्बन्ध में विशेषतः सत्य होती है।

परीक्षा के लिये कफ का यथोचित रीति से संग्रह करना बड़ा महत्वपूर्ण होता है, विशेषकर उन रोगियों में जिनमें कफ कम निकलता है। रोगी को यह जता देना चाहिये कि परीक्षा के लिये नाक या कंठ की खँखार या थूक की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि कंठ से नीचे के कफ की आवश्यकता होती है। कफ को जमा करने के लिये चौड़े मुँह की स्वच्छ शीशी सर्वोत्कृष्ट होती है। उसकी डाट कड़ी और ठीक लगनी चाहिये। जिन रोगियों में कफ कम निकलता है, उनमें २४ घंटे का कफ जमा करना अच्छा होता है। परन्तु जिनमें कफ अधिक निकलता है उनमें केवल प्रातःकाल का कफ पर्याप्त होता है। ताज़ा कफ परीक्षा के लिये सबसे अच्छा होता है, परन्तु रक्खे रहने से भी क्षय-कीटाणुओं के मिलने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि जिन रोगियों को यथार्थ में क्षय-रोग होता है उनमें कफ की कई बार परीक्षा करने पर भी क्षय-कीटाणुओं का न मिलना बहुत विरल होता है। कई बार जाँच करने से सक्रिय क्षय के अधिकांश रोगियों के कफ में क्षय-कीटाणु मिल जाते हैं। कफ की दो चार बार ही परीक्षा करना पर्य्याप्त नहीं होता। किसी किसी रोगी में कफ की बीस बीस बार परीक्षा करने पर क्षय-कीटाणु मिलते हैं। यदि बारबार जाँच करने पर भी कफ में क्षय-कीटाणु न मिलें तो इस बात में संदेह है कि रोगी को यथार्थ में क्षय-रोग है और उसको किसी इलाज की आवश्यकता है। स्वास्थ्यशालाओं में बहुत से रोगी ऐसे होते हैं जिनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं होते। उनमें से अनेक को यथार्थ में क्षय-रोग नहीं होता।

दूसरी ओर जिन क्षय-रोगियों के कफ में क्षय-कीटाणु न मिलें उनको संक्रामक न समझना भी, अर्थात् यह समझ लेना कि उनसे दूसरों को रोग नहीं लग सकता, भूल है। हाल में लोग इस बात को भी मानने लगे हैं कि क्षय-कीटाणु रोगी से नीरोग मनुष्य तक अकेले कफ के द्वारा ही नहीं पहुँचते, बल्कि अन्य मार्गों से भी पहुँचते हैं। इस बात की विस्तृत आलोचना इस पुस्तक में अन्यत्र की गई है।

कफ की अणुवीक्षण-परीक्षा—सक्रिय क्षय-रोग के प्रारम्भ में प्रायः कफ में क्षय-कीटाणु नहीं होते। जब यक्ष्म पककर श्वासनलिकाओं में फूट जाते हैं, केवल तभी कफ में क्षय-कीटाणु मिल सकते हैं। सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि तीव्र रोग में कफ में क्षय-कीटाणु अधिक मिलते हैं परन्तु इसमें अनेक अपवाद होते हैं। वस्तुतः उग्र फुप्फुस प्रदाहरूपी क्षय-रोग में साधारणतः कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। कफ में क्षय-कीटाणु के न मिलने से यह नहीं कहा जा सकता कि रोगी को क्षय-रोग नहीं है। क्योंकि ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनको निस्संदेह सक्रिय प्रगतिशील क्षय-रोग होता है और यह उनकी मृत्यु के बाद शवच्छेद परीक्षा से सिद्ध होजाता है, परन्तु जीवनभर उनके कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। जब हम यह देखते हैं कि कफ में कीटाणु होते हैं, फिर भी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं तो इसका कारण स्पष्ट समझ में आ जाता है। जब कफ में क्षय-कीटाणुओं की संख्या बहुत कम होती है तो वे नहीं मिलते। कोपर का अनुमान है कि कफ में क्षय-कीटाणु तभी मिलते हैं, जब वे एक घन शतांश मीटर कफ में कम से कम एक लाख होते हैं।

क्षय-रोग के प्रारम्भ में जब परीक्षा के लिये पर्याप्त कफ न मिल सके तो कफ बढ़ाने के लिये पोटाशियम आयोडाइड दी जा सकती है। ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार दो या तीन दिन तक देना चाहिये और तब कफ जमा करना चाहिये।

परीक्षा-विधियाँ—कफ की परीक्षा की उत्तम और साधारण विधि ज़ील नील्सन की है जिसका वर्णन दूसरे परिच्छेद में किया जा चुका है।

इस विधि से अधिकांश रोगियों के कफ में क्षय-कीटाणुओं का पता लग जाता है। परन्तु कभी कभी जब परीक्षा के लिये उपलब्ध कफ की मात्रा कम होती है या उसमें क्षय-कीटाणुओं की संख्या कम होती है अथवा परीक्षा के लिये कफ का जो अंश लिया जाता है उसमें क्षय-कीटाणु नहीं होते तो इस विधि से उनका पता नहीं लगता। इन कमियों को पूरा करने के लिये कुछ नई परीक्षा-विधियाँ निकाली गई हैं जिनसे कफ पतला होजाता है और क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त कफ के अन्य सब पदार्थ गल जाते हैं। जब तरल कफ को एक यंत्र में डालकर उसको घुमाते हैं तो क्षय-कीटाणु तले में बैठ जाते हैं। फिर तलछट को लेकर उसकी अणुवीक्षण यंत्र से या कृत्रिम माध्यमों में उगाकर अथवा पशुओं में पिचकारी लगाकर परीक्षा की जाती है। इस काम के लिये एन्टीफार्मिन विधि सबसे अधिक सरल और सर्वोत्तम है।

एन्टीफार्मिन विधि—इस विधि में कफ में एन्टीफार्मिन नाम का एक रासायनिक खारा पदार्थ मिलाया जाता है। कफ में इसको मिलाने पर वाष्प निकलने लगता है और बाल, वसा, मोम, काष्ठोज और क्षय-कीटाणुओं को छोड़कर कफ के अन्य सब ऐन्द्रिक पदार्थ और कीटाणु गलकर नष्ट होजाते हैं। इनके गलने पर एक सम भाव का पीला-सा तरल बन जाता है और उसके तले में छिछड़ेदार तलछट बैठ जाती है। इस मौलिक विधि के अनेक संशोधनों में से वोर्डमैन का संशोधन सबसे अच्छा है। यह परीक्षा इसप्रकार की जाती है:—

(१) २४ घंटे के एकत्रित सब कफ को और यदि कफ बहुत हो तो केवल १५ या २० घनशतांश मीटर लेकर एक शंकाकार काँच के पात्र में रखना चाहिये।

(२) यदि कफ गाढ़ा हो तो उसमें उतना ही शुद्ध स्रावित जल मिला देना चाहिये। कम गाढ़े कफ में कम पानी मिलाने की आवश्यकता होती है।

(३) पानी मिले हुए कफ में उसका चौथाई भाग एन्टीफार्मिन मिलाना चाहिये।

(४) फिर उसको शीशे की छड़ी से खूब चलाना चाहिये ताकि श्लेष्म की फुटकें टूटकर शीघ्र हल हो जायँ।

(५) जब तक सब घोल समभाव न हो जाय तब तक रुकना चाहिये। घोल पानी के सदृश पतला और रंग में पीला होना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो अधिक पानी या अधिक एन्टीफार्मिन मिलाकर कुछ देर तक और ठहरना चाहिये। कफ के भली प्रकार घुलने में आध घंटा से एक घंटा तक लगता है, परन्तु अधिक देर तक ठहरने से क्षय-कीटाणुओं को कोई हानि नहीं पहुँचती।

(६) अब उस घोल में उसी के बराबर ९५% मद्यसार मिलाना चाहिये। इससे घोल का गुरुत्व कम होजाता है और तलछट अच्छी और शीघ्र बैठती है।

(७) दोनों को हिलाकर मिला देना चाहिये। जब मिल जायँ तो तरल को ठहर जाने के लिये अलग रख देना चाहिये ताकि तलछट नीचे बैठ जाय। इसमें ३ या ४ घंटे लगते हैं, परन्तु १२ से २४ घंटे तक ठहरना अच्छा होता है।

(८) ऊपर के स्वच्छ तरल को धीरे से उताराकर फेंक देना चाहिये।

(९) तलछट को लेकर और उसको एक काँच की पट्टी (स्लाइड) पर मलकर जाला-सा बनाकर साधारण विधि से रँगना चाहिये।

इस विधि के ऐसे भी अनेक संशोधन होगये हैं जिनमें इतना समय नहीं लगता।

साध्यासाध्य विचार में कफ की अणुवीक्षण-परीक्षा से ज्ञात बातों का मूल्य—अनेक रोगियों और चिकित्सकों में कफ में क्षय-कीटाणुओं की संख्या का पता लगाने का बड़ा चाव होता है, क्योंकि वे समझते हैं कि इससे रोग की साध्यासाध्यता का पता लगता है। परन्तु

यह उनकी भूल है। अनेक रोगी ऐसे होते हैं, जिनके कफ में बहुत कम क्षय-कीटाणु होते हैं, फिर भी रोग बड़ा उग्र और प्रगतिशील होता है। दूसरी ओर ऐसे रोगी भी होते हैं जिनके कफ में क्षय-कीटाणु बहुत होते हैं, परन्तु रोग पुरातन और उसकी गति मंद होती है और अन्त में वे अच्छे होजाते हैं। यह बात विशेष करके वृद्धों के क्षय-रोग में पाई जाती है। उनके कफ में असंख्य क्षय-कीटाणु निकला करते हैं, फिर भी वे वर्षों तक अपेक्षाकृत आराम से जीवित रहते हैं। संभवतः ऐसे रोगियों के फेफड़े में व्रणयुक्त छोटा रंध्र होता है जिसमें कीटाणुओं की वृद्धि होती रहती है, परन्तु उसके चारोंओर सौत्रिक-कोष बन जाने से रोग फैल नहीं सकता।

कफ में क्षय-कीटाणुओं की संख्या लगातार घटती-बढ़ती रहती है और किसी अंश तक यह बात कफ के उस भाग पर भी निर्भर होती है जो परीक्षा के लिये ले लिया जाता है। परन्तु यदि कई सप्ताह तक लगातार कफ में क्षय-कीटाणु न मिलें और साथ ही रोगी की दशा में उन्नति देख पड़े तो इसको शुभ लक्षण समझना चाहिये। परन्तु अनेक पुरातन क्षय रोगियों में, विशेषकर सूत्रोल्वण के रोगियों में, कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते अथवा बहुत कम मिलते हैं। आधुनिक एन्टीफार्मिन परीक्षा-विधियों के प्रयोग से ऐसे रोगियों की संख्या बहुत कम हो गई है जिनमें सक्रिय रोग होता है, पर कफ में क्षय-कीटाणु नहीं मिलते। क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त अन्य जातियों के कीटाणु भी प्रायः क्षय रोगियों के कफ में पाये जाते हैं। साधारणतः रोग की गति और लक्षणों पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु इन निष्क्रिय मिश्रित संक्रमणों के विपरीत कभी कभी सक्रिय मिश्रित संक्रमण भी पाये जाते हैं जिनमें अन्य जातियों के कीटाणु उपद्रवों के कारण होते हैं। इनकी आलोचना अन्यत्र की जायगी।

रोग की जाँच के लिये कफ की वेधन-परीक्षा—जिस रोगी में यह निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक हो कि उसको सक्रिय क्षय-रोग है या नहीं और अणुवीक्षण-परीक्षा से उसके कफ में क्षय-कीटाणु न मिलें तो उसके कफ का एक अंश लेकर और किसी क्षयग्रहणशील पशु में उसकी पिचकारी लगाकर इस बात का निश्चय किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रयोगशाला के विभिन्न पशुओं की रोग

ग्रहणशीलता में बड़ा अन्तर होता है । चूहा अपेक्षाकृत अग्रहणशील होता है। खरगोश मनुष्य क्षय-कीटाणुओं के प्रति अग्रहणशील होता है, परन्तु पशु क्षय-कीटाणुओं से उसमें तुरन्त रोग होजाता है । अतएव खरगोश की त्वचा में पिचकारी लगाने से मनुष्य क्षय और पशु क्षय-कीटाणुओं की परस्पर पहचान की जा सकती है । गिनीपिग पशु पर दोनों प्रकार के कीटाणुओं का असर होता है, और साधारणतः वेधन-परीक्षा के लिये इसी पशु का प्रयोग किया जाता है ।

यदि उस पदार्थ में जिसकी गिनीपिग पशु में पिचकारी लगाना हो, अन्य जातियों के कीटाणु बहुत मिले हों तो उसमें पहले एन्टीफार्मिन मिला देना अच्छा होता है । एन्टीफार्मिन के मिलाने से अन्य जातियों के कीटाणु मर जाते हैं, परन्तु एन्टीफार्मिन का असर बहुत नहीं होना चाहिये, नहीं तो क्षय-कीटाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति मारी जाती है । कफ को शुद्ध कीटाणुमुक्त (Sterlized) नमक के घोल में मिलाकर उसकी जंघा-सा प्रदेश में त्वचा के नीचे पिचकारी लगाई जाती है ।

५ घन शतांश मीटर से कम की पिचकारी लगानी चाहिये । एक साथ दो पशुओं में पिचकारी लगाना अधिक अच्छा होता है। उदर कला में पिचकारी लगाने से सूचना अधिक शीघ्र मिलती है, परन्तु क्षय-रोग के व्यक्त होने से पूर्व ही अन्य जातियों के कीटाणुओं से संक्रमण होकर पशु की मृत्यु हो जाने की संभावना रहती है । यदि कफ में क्षय-कीटाणु होते हैं तो ४ से ६ सप्ताह बाद शवच्छेद करने पर उदर कला में और उदर कला के पृष्ठस्थ लसिका-ग्रंथियों, सीहा तथा यकृति में क्षयी विकार मिलते हैं । त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने के बाद, यदि कफ में क्षय-कीटाणु होते हैं तो पिचकारी के स्थान पर किलाटीय व्रण बन जाता है । प्रादेशिक लसिका-ग्रंथियों, प्लीहा और यकृति में क्षयी विकार होजाते हैं। विकारों की स्थूल आकृति देखकर ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये, बल्कि उनके वर्क़ काटकर और उनको विशेष विधियों से रँगकर अणुवीक्षण यंत्र से देखना चाहिये कि उनमें क्षय-कीटाणु हैं या नहीं । क्षयी विकारों में क्षय-कीटाणु पर्य्याप्त संख्या में होते हैं । पिचकारी के १० से १४ दिन बाद फूली हुई लसिका-ग्रंथियों को निकालकर और उनकी अणुवीक्षण यंत्र से परीक्षा करने से क्षय-कीटाणुओं का पता लग सकता है ।

परन्तु कुछ रोगी ऐसे होते हैं जिनमें डेढ़ या दो माह तक नहीं ठहरा जा सकता और उससे पहले ही कफ में क्षय-कीटाणुओं का पता लगाना बड़ा आवश्यक और महत्वपूर्ण होता है। ऐसी दशा में रोग की पहचान के लिए यक्ष्मिन का उपयोग किया जा सकता है। पिचकारी के दो-तीन सप्ताह बाद पशु के एक पार्श्व के बाल साफ करके वहाँ पर पुरानी यक्ष्मिन के ५ प्रतिशत घोल की ·१ घन शतांश मीटर की मात्रा में पिचकारी इस भाँति लगानी चाहिये कि एक फफोला-सा बन जाय। यदि कफ में क्षय-कीटाणु होते हैं तो उनसे पशु के संक्रामित होजाने के कारण यक्ष्मिन-प्रतिक्रिया धनात्मक मिलती है। यदि पहली यक्ष्मिन-परीक्षा ऋणात्मक हो तो दो सप्ताह के बाद इसको दोहराना चाहिये।

ये परीक्षायें अचूक नहीं होतीं। सेल्टर ने सिद्ध कर दिया है कि वेधित पशु में धनात्मक प्रतिक्रिया तो क्षय-संक्रमण का होना सूचित करती है, परन्तु ऋणात्मक प्रतिक्रिया से यह सिद्ध नहीं होता कि क्षय-संक्रमण नहीं हुआ है, यह केवल शवच्छेद से ही निश्चय किया जा सकता है। सेल्टर ने कई गिनीपिगों में थोड़े से विषैले क्षय-कीटाणुओं की पिचकारी लगाई थी। उनमें से अनेक में यक्ष्मिन प्रतिक्रिया धनात्मक नहीं मिली, परन्तु शवच्छेद करने पर कई इन्द्रियों में सुव्यक्त क्षयी विकार मिले।

इस सम्बन्ध में यह भी बता देना चाहिये कि गिनीपिगों में प्रायः स्वाभाविक क्षय-रोग होता है। इसलिए रोग-निर्णय के हेतु परीक्षा करने में इन पशुओं को काम में लाने में भूल होने की सम्भावना रहती है।

स्थितिस्थापक सूत्र—क्षय-कीटाणुओं के अनुसंधान से पूर्व क्षय-रोग का निर्णय करने में कफ में स्थितिस्थापक सूत्रों के मिलने या न मिलने पर बड़ा जोर दिया जाता था। परन्तु आजकल इनकी तलाश कम की जाती है। कफ में स्थितिस्थापक सूत्रों का पता लगाना बहुत आसान होता है। लगभग ९० प्रतिशत क्षय रोगियों के कफ में स्थितिस्थापक सूत्र मिलते हैं, इसलिए रोग-निर्णय में इनका पर्य्याप्त महत्व होता है।

कफ में स्थितिस्थापक सूत्रों का मिलना फुप्फुस तन्तु के नष्टभ्रष्ट होने का द्योतक होता है। रोग के प्रारम्भ में भी कफ में स्थितिस्थापक सूत्र मिल सकते हैं। किलाटीय गलाव में फुप्फुस तन्तु के अन्य शेष भाग तो गल जाते हैं, परन्तु ये सूत्र नहीं गलते। फेफड़े के गलाव, विद्रधि और उपदंश रोग में

भी कफ में स्थितिस्थापक सूत्र पाये जाते हैं। इसलिये जब रोगी के कफ में ये सूत्र मिलें और उपरोक्त रोगों में से कोई न हो तो क्षय-रोग की सम्भावना अधिक दृढ़ समझनी चाहिये।

रासायनिक परीक्षा—कफ की रासायनिक परीक्षा से क्षय-रोग की पहचान या साध्यासाध्यतासम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण बात ज्ञात नहीं हुई है। केवल एल्बुमिन् परीक्षा से संदिग्ध रोगियों में कुछ सहायता मिलती है। कफ में धनात्मक एल्बुमिन् प्रतिक्रिया क्षय-रोग में भी मिलती है और इसके अतिरिक्त पुरातन वायुध्मान, फुप्फुस प्रदाह तथा पार्श्वकला के स्रावक प्रदाह में भी पाई जाती है, परन्तु साधारण खाँसी में कभी नहीं मिलती।

धनात्मक एल्बुमिन् प्रतिक्रिया सदैव क्षय-रोग की द्योतक नहीं होती, परन्तु ऋणात्मक प्रतिक्रिया, विशेषकर जब यह लगातार कई बार परीक्षा करने पर भी ऋणात्मक ही मिले, तो यह निस्सन्देह क्षय-रोग का अभाव सूचित करती है। कुछ संवृद्ध क्षय रोगियों में, विशेषकर सूत्रोल्वण क्षय के रोगियों में एल्बुमिन् प्रतिक्रिया ऋणात्मक मिलती है, परन्तु ऐसे रोगियों में रोग-निर्णय का प्रश्न बहुत कम उठता है। साधारण रोगी की दशा सुधरने पर कफ में एल्बुमिन् की मात्रा घटने लगती है और अंत में ग़ायब होजाती है। अस्तु, रोग के साध्यासाध्य विचार में इसका महत्व होता है।

विधि—एल्बुमिन् परीक्षा इसप्रकार की जाती है—एसिटिक ऐसिड का तीन प्रतिशत घोल कफ में मिलाकर ख़ूब हिलाना चाहिये। १० या १५ मिनट तक ठहर ठहरकर बार बार हिलाना चाहिये। एसिटिक ऐसिड से श्लेष्म जम जाता है। तब इसको छानने के काग़ज़ से छान लेना चाहिये और छने हुए तरल को काँच की एक परीक्षा-नली में जमा कर लेना चाहिये। छना हुआ तरल स्वच्छ होता है। स्वच्छ तरल को एक स्प्रिटलैम्प पर गर्म करना चाहिये और उबलते समय उसमें कुछ नमक डाल देना चाहिये।

यदि तरल में एल्बुमिन् होती है तो उसमें कुछ गँदलापन या छिछड़े-से होजाते हैं जो परीक्षा-नली को रख देने पर तले में बैठ जाते हैं। तलछट की मात्रा से एल्बुमिन् की मात्रा का अनुमान हो सकता है।

बारहवाँ परिच्छेद

ज्वर और रात्रि-स्वेद

ज्वर सक्रिय क्षय-रोग का प्रथम और प्रमुख लक्षण होता है। मलेरिया (शीत ज्वर), निमोनिया (फुफुस प्रदाह) और मोतीझरा की भाँति क्षय-रोग में ज्वर का कोई विशिष्ट और लाक्षणिक रूप नहीं होता। यथार्थ में इसकी बहुरूपता ही ध्यान देने योग्य होती है। फिर भी रोग-निर्णय और साध्या-साध्य विचार में इसका महत्व बहुत होता है। उपलब्ध साक्षी से विदित होता है कि ज्वर क्षय-कीटाणुओं से उत्पन्न विषों के शरीर में व्याप्त होने से उत्पन्न होता है। मानव शरीर और क्षय-कीटाणुओं के बीच जीवन-संग्राम में जो जटिल जीवो-रासायनिक (Biochemical) प्रक्रियाएँ होती हैं उनसे शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है, जो ज्वर के रूप में प्रकट होती है। क्षय-कीटाणुओं से और नष्टभ्रष्ट तन्तुओं से जो विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनके प्रतिकार के लिये शरीर की रक्षकशक्ति उत्तेजित होजाती है और फलतः ताप नियन्त्रक केन्द्र उत्तेजित होजाता है। अतएव ज्वर कीटाणु और शरीर के संग्राम का सूचक होता है। क्षय-रोग में ज्वर का महत्व ठीक-ठीक समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्वर-रोग का कारण नहीं होता प्रत्युत उसकी सक्रियता का परिणाम होता है।

जिन रोगियों में रोग सक्रिय होता है उन सब में ज्वर होता है; आगे चलकर, विशेषकर सूत्रोत्लवण क्षय में ज्वर प्रायः थोड़े थोड़े समय के लिये शान्त होजाता है। परन्तु जब जब रोग का पुनरुद्दीपन होता है अथवा जब रोग में वृद्धि होती है तो ज्वर होजाता है। रोग की प्रगति को जानने के लिये इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र)—बहुत से क्षय रोगियों के ज्वर-रहित देख पड़ने का कारण ज्वर नापने की विधि में त्रुटि, विशेषकर दोषयुक्त ताप-मापक यंत्र होता है।

उपक्रान्त क्षय में केवल ज्वर की हरारत होती है। इसलिये ज्वर नापने में एक डिगरी (अंश) ताप की भी ऊँच नीच होने से बड़ा अन्तर होजाता है। इससे स्पष्ट है कि ज्वर देखने के लिये विश्वासपूर्ण और बिलकुल ठीक थर्मामीटर होना चाहिये। फिर भी सब लोगों ने देखा होगा कि एक ही रोगी का दो ऐसे थर्मामीटरों से, जिनकी सचाई के प्रमाणपत्र होते हैं, ताप देखने पर बहुधा एक या दो डिगरी तक का अन्तर मिलता है। इस सम्बन्ध में एक प्रयोग उल्लेखनीय है। दो दर्जन थर्मामीटरों को एक साथ गरम पानी में डाल कर उनकी परीक्षा की गई थी। जब उनका ताप देखा गया तो भिन्न भिन्न यन्त्रों में ९८°·२ फ० से लेकर १०१·६° फ० तक का ताप मिला। बहुत से बढ़िया थर्मामीटर भी जिनकी सचाई के प्रमाणपत्र होते हैं, कोई ज़्यादा अच्छे नहीं होते। डा० ब्रे की रिपोर्ट है कि ८३ प्रमाणपत्र वाले थर्मामीटरों की जाँच करने पर उनको १७ में ·३° से ·६° तक का अन्तर मिला। आजकल बाज़ार में बहुत से सस्ते थर्मामीटर बिकते हैं जिनका कोई विश्वास नहीं होता। ऐसे थर्मामीटरों के लगाने पर ज्वर का मिलना या न मिलना थर्मामीटर के ऊपर निर्भर होता है, न कि रोगी की दशा पर। अस्तु, यह स्पष्ट है कि जब हरारत हो या हरारत की शंका हो, तो निर्णय करने के लिये ठीक और विश्वासपूर्ण थर्मामीटर होना चाहिये। अन्यथा रोग की पहचान करने में भारी भूल होने की संभावना होती है।

ज्वर देखने की विधि—अच्छा थर्मामीटर लेकर बड़ी सावधानी से रोगी का ज्वर देखना चाहिये। साधारणतः लोग बगल में थर्मामीटर लगाकर ताप देखते हैं, परन्तु बगल का ताप विश्वासयोग्य नहीं होता; क्योंकि यह मुखताप से एक डिगरी और गुदाताप से दो या तीन डिगरी कम होता है। इसलिये जब रोगी को हरारत का सन्देह हो तो बगल के ताप पर भरोसा नहीं करना चाहिये।

प्रायः लोग मुँह में थर्मामीटर लगाकर ज्वर देखते हैं; परन्तु यह भी बहुत सन्तोषजनक नहीं होता, क्योंकि बाहर की वायु के ताप का इस पर प्रभाव पड़ता है, विशेषकर उन लोगों में जो नाक में रुकावट होने से मुँह से साँस लेते हैं। यन्त्र का वह भाग जो होठों से बाहर रहता है और कभी कभी भीतर का भाग भी, बाहरी हवा से ठंडा होजाता है। थर्मामीटर को कम से कम ७ मिनट तक मुँह में रखना चाहिये। कभी कभी एक मिनट

वाले थर्मामीटरों का पारा भी कम से कम १० मिनट में पूरा चढ़ पाता है। दूसरी ओर जिन लोगों में मुखपाक (मुँहा) होता है, उनका मुखताप रक्त-ताप से अधिक हो सकता है। भोजन के बाद, गरम या ठंडा पानी अथवा दूध पीने के बाद और मुँह धोने के उपरान्त, मुँह का ताप नहीं लेना चाहिये। अनेक रोगी थर्मामीटर को जीभ के नीचे ठीक नहीं रख सकते और न मुँह बन्द करके मुँह से साँस लेना रोक सकते हैं। ऐसे रोगियों के मुँह का ताप लेना सन्तोषजनक नहीं होता।

सबसे अधिक ठीक ताप गुदा का होता है। अब सब लोग मानने लगे कि क्षय की उपक्रान्त अवस्था में अथवा जब क्षय का सन्देह हो तो ज्वर का निश्चय करने के लिये गुदा का ताप देखना चाहिये। गुदा का ताप मुखताप से आधी या एक डिगरी अधिक होता है। गुदा में भी थर्मामीटर को, चाहे वह आधे मिनटवाला हो या एक मिनटवाला, कम से कम पाँच मिनट तक लगाना चाहिये। इस विधि में यदि कोई कमी है तो यही कि बहुत से रोगी गुदा में थर्मामीटर लगाना पसन्द नहीं करते। परन्तु यह उनकी भूल है। हरारत का सन्देह होने पर गुदा का ताप अवश्य देखना चाहिये।

ज्वर दिन में कितनी बार देखना चाहिये—कुछ चिकित्सकों में यह आदत होती है कि जिस समय रोगी उनके पास आता है उसी समय उसका शारीरिक ताप देखते हैं। जो कुछ ताप उस समय उनको मिलता है उसी को वे रोगी के शरीर का ताप मान लेते हैं। परन्तु यह उनकी बड़ी भूल है। क्षय-रोग के प्रारम्भ में अथवा जब रोग का सन्देह हो, तो दिन में केवल तीन बार (सुबह, दोपहर और शाम) ताप देखना पर्याप्त नहीं है और उससे धोखा होने की सम्भावना रहती है; क्योंकि रात को और मध्याह्नोपरान्त जो हरारत होजाती है और जो केवल थोड़ी देर रहती है, उसका पता नहीं चल सकता। इसलिये उपक्रान्त क्षय में हर दूसरे घंटे रोगी का ताप देखना चाहिये।

समझदार रोगी स्वयम् अपना ताप-परिमाण देख सकते हैं। यदि वह ठीक ठीक थर्मामीटर लगाना और देखना न जानते हों तो थोड़ी देर में सीख सकते हैं। समझदार रोगियों को अपना ताप देखने में कोई कठिनाई नहीं होती।

प्रकृतिस्थ (आरोग्य) ताप—बाल्यावस्था में शारीरिक ताप-परिमाण स्थिर नहीं होता। आरोग्य दशा में भी यह इतना चंचल होता है कि बच्चों का कोई औसत तापमान नियत नहीं किया जा सकता। स्वास्थ्य में तनिक भी विकार होने पर बच्चों में वयस्कों की अपेक्षा ताप-परिमाण कहीं अधिक बढ़ जाता है। बहुत-से चिकित्सक बच्चों में १००° फ० के ताप को, यदि उनमें रोग के अन्य लक्षण विद्यमान न हों, अस्वस्थ नहीं समझते। परन्तु जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है, शारीरिक ताप भी स्थिर होता जाता है और प्रौढ़ावस्था पहुँचने पर वह चंचल नहीं रहता, केवल रोग से ही घटता-बढ़ता है। मुँह में ९८·४° फ० और गुदा में इससे आधी डिगरी अधिक ताप-परिमाण प्रकृतिस्थ ताप-परिमाण समझा जाता है। परन्तु इसमें भी स्वस्थ व्यक्तियों में दैनिक परिवर्तन होते रहते हैं। प्रातःकाल चारपाई से उठने से पूर्व ताप-परिमाण लगभग आधी या एक डिगरी कम अर्थात् ९७½° था ९८° फ० होता है। परन्तु उठने के थोड़ी देर बाद ९८° या ९८·५° होजाता है और फिर दिन भर यही बना रहता है।

कुछ लोगों का प्रकृतिस्थ ताप औसत आरोग्य ताप से कम होता है। इन लोगों में औसत आरोग्य ताप को ज्वर की हरारत समझनी चाहिए। ऐसा कभी कभी उन क्षय-रोगियों में पाया जाता है जिनका प्रकृतिस्थ ताप कम होता है। इनमें ९९° फ० का ताप होते ही ज्वर के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं।

स्वस्थ व्यक्तियों के ताप में परिवर्तन—परिश्रम करने से शरीर का ताप कुछ बढ़ जाता है। दूर तक टहलने से या अधिक परिश्रम करने से शरीर का ताप २° फ० तक बढ़ते देखा गया है। गरम चीज़ों के खाने या पीने के बाद लगभग सदैव कई घंटे तक शरीर का ताप बढ़ जाता है। ताप की वृद्धि खाने के १½ घंटे बाद सबसे अधिक होती है, परन्तु १° से अधिक बढ़ती विरल होती है। स्त्रियों में शारीरिक ताप मासिक धर्म के समय या उससे कुछ पूर्व एक या दो डिगरी बढ़ जाता है। परिश्रम से शारीरिक ताप में जो वृद्धि होती है, वह स्वस्थ व्यक्तियों में बहुत थोड़ी देर रहती है। आधे घंटे से एक घंटे के अन्दर वह फिर कम होकर अपनी असली अवस्था को पहुँच जाती है।

मनुष्य की चित्तवृत्ति का भी शारीरिक ताप पर प्रभाव पड़ता है। चित्तोद्वेग से, विशेषकर स्त्रियों में, शारीरिक ताप एक या दो डिगरी बढ़ जाता

है। जब क्षय-रोग की आशंका होती है तो ताप-परिमाण देखते समय घबराहट से ताप कुछ बढ़ जाता है। इसलिए चंचल स्वभाववाली स्त्रियों में केवल ताप-मान से प्रारम्भिक क्षय का निश्चय करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। हाल में इस विषय का अनुशीलन करते समय डा० विन को पता लगा है कि स्वस्थ व्यक्तियों में मानसिक प्रभावों से शरीर का ताप बढ़ जाता है। उन्होंने दो बार बहुत-से लोगों की जाँच करके देखा है कि घबराहट, संशय और चिन्ता की दशाओं में, जैसे विद्यार्थियों में परीक्षा के समय और सेना के लिये निर्वाचित व्यक्तियों में उनके शरीर की परीक्षा के समय, अधिकांश लोगों के शरीर का ताप बढ़ जाता है। चिंता और समस्या जितनी अधिक गम्भीर होती है, ताप उतना ही अधिक बढ़ता है। पशुओं में भी यह देखा गया है कि घबराहट से शारीरिक ताप बढ़ जाता है। डा० मोर ने पता लगाया है कि चीरफाड़ के लिये खरगोश को जब तख्ते से बाँध दिया जाता है तो घबराहट से उसके शरीर का ताप बढ़ जाता है।

कुछ लोगों में, जो रात को काम करते हैं और दिन को सोते हैं, ताप का दैनिक क्रम उल्टा हो जाता है, अर्थात् उनका ताप प्रातःकाल अधिक और सायंकाल कम हो जाता है।

जब उपक्रान्त क्षय-रोग का सन्देह हो तो निर्णय करने के लिए, चलने-फिरनेवाले या काम करनेवाले व्यक्तियों में ९८·४° मुखताप तथा ९९° गुदाताप को आरोग्य ताप मानना निरापद होता है। प्रातःकाल उठने से पूर्व ताप इससे आधी या एक डिगरी कम और शाम को अथवा परिश्रम के बाद आधी डिगरी अधिक हो सकता है। परन्तु यदि इससे अधिक अन्तर मिले तो उसका कारण तलाश करना चाहिये और यदि अन्य कारण न मिले तो क्षय-रोग की सम्भावना समझनी चाहिये।

प्रारम्भिक क्षय में ज्वर— यदि उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर शरीर का ताप देखा जाय तो पता लगेगा कि हरारत या ज्वर सक्रिय क्षय-रोग के विकास का रोग की उपक्रान्त अवस्था में भी विशिष्ट लक्षण होता है और ज्वर का अभाव सक्रिय रोग के न होने का द्योतक होता है। जो क्षय रोगी देखने में ज्वररहित प्रतीत होते हैं उनमें से अनेक में ज्वर न मिलने का कारण प्रायः ज्वर नापने की विधि में त्रुटि होती है। रोगी को दोपहर के बाद घंटे दो घंटे के लिये किसी समय थोड़ी-सी हरारत हो जाती है। यदि उस समय ज्वर न देखा जाय और केवल सुबह शाम देखा जाय

जैसा कि साधारणतः किया जाता है, तो हरारत का पता नहीं चल सकता। क्षय रोगियों का ताप बड़ा चंचल होता है। चित्तोद्वेग अथवा थोड़े से परिश्रम से तत्काल बढ़ जाता है। इसी प्रकार स्वस्थ मनुष्यों का ताप भी चंचल होता है, परन्तु दोनों में अन्तर इतना होता है कि जिस परिश्रम से स्वस्थ मनुष्यों में ताप बढ़ता है, उसको छोड़ने के बाद आध या अधिक से अधिक एक घंटे में ताप कम होजाता है; परन्तु उतने ही परिश्रम से क्षय रोगी में जो ताप बढ़ता है वह इतना शीघ्र कम नहीं होता।

प्रातःकाल स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा क्षय रोगी के ताप में कभी कभी अधिक कमी होजाती है। जहाँ स्वस्थ मनुष्य का प्रातःकाल का ताप ९७° या ९७.४° फ० होता है, वहाँ क्षय रोगी का ताप केवल ९६.६° या ९७° फ० होता है। क्षय-रोग में केवल ताप की अधिकता ही नहीं देखनी चाहिये, परन्तु यह भी देखना चाहिये कि दिन में कम से कम और अधिक से अधिक ताप कितना होता है। स्वस्थ मनुष्यों में इन दोनों तापों में केवल एक डिगरी का अन्तर होता है, परन्तु क्षयी व्यक्तियों में दो या इससे अधिक डिगरी का अंतर होता है।

ज्वर के लक्षण—अन्य प्रकार की हरारतों से क्षय-रोग की हरारत की पहचान सहगामी लक्षणों से भी की जा सकती है और ये लक्षण अधिकांश प्रारम्भिक क्षय-रोगियों में पाये जाते हैं। अन्य सब हरारतों में नाड़ी की गति हरारत के अनुसार तेज़ होती है, परन्तु क्षय-रोग की हरारत में नाड़ी की गति अपेक्षाकृत कहीं अधिक तेज़ होती है। अनेक क्षयरोगियों को हरारत आने से पूर्व कुछ ठंड लगती है, उनका चेहरा पीला होजाता है और हाथ-पैर कुछ ठंडे होजाते हैं। ज्वर आने पर चेहरा तमक उठता है, नेत्रों में एक विशेष चमक आ जाती है, जिसको अनुभवी चिकित्सक पहचान सकते हैं, और रोगी को गरमी प्रतीत होने लगती है। इसके अतिरिक्त हाथ-पैर और नेत्रों में जलन और शिर में कुछ पीड़ा होने लगती है। आलस्य बढ़ जाता है और काम करने को जी नहीं चाहता। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखने योग्य यह है कि इन सब लक्षणों के होते हुए भी शाम को रोगी की भूख कम नहीं होती। भोजन में अरुचि प्रारम्भिक क्षय को छोड़कर अन्य सब रोगों के ज्वर में पाई जाती है। ज्वर के प्रति क्षय रोगी की सहिष्णुता इस बात से प्रकट होती है कि वह स्वस्थ लोगों की भाँति दिनभर काम करता है और रात को भलीप्रकार सोता है, केवल ज्वर के समय उसको कुछ आलस्य होजाता है। कुछ रोगियों को रात में

पसीना आता है जो कभी कभी इतना अधिक होता है कि रोगी बिल्कुल तर होजाता है।

अप्रत्यक्ष ज्वर—उपरोक्त लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में सब क्षय-रोगियों में पाये जाते हैं। प्रारम्भिक क्षय में भी विरले ही उनका अभाव होता है। अन्य कारणों से उत्पन्न हरारतों से क्षय-रोग की हरारत की पहचान करने में ये लक्षण बड़े सहायक और पथ-प्रदर्शक होते हैं। वस्तुतः, तीसरे पहर का आलस्य क्षय रोगियों की विष-व्याप्ति का इतना विशिष्ट लक्षण होता है कि वह प्रायः उन सम्प्राप्त रोगियों में भी मिलता है, जिनमें ज्वर नहीं होता। ऐसे रोगियों के ज्वर को, जिनका ताप-परिमाण नहीं बढ़ता, परन्तु जिनमें हरारत के लक्षण होते हैं, अप्रत्यक्ष ज्वर कहते हैं। अप्रत्यक्ष ज्वर क्षय-रोग के प्रारम्भ में भी कुछ रोगियों में देखने में आता है। यही कारण है कि क्षय-रोगियों के इलाज में अकेले थर्मामीटर पर ही अधिक भरोसा नहीं करना चाहिये। कभी कभी अप्रत्यक्ष ज्वर का उलटा भी देखने में आता है, अर्थात् रोगी का ताप बढ़ जाता है, पर विष-व्याप्ति के अन्य लक्षण नहीं होते। ऐसे रोगियों का भविष्य बहुत अच्छा होता है।

प्रकुपित ज्वर—क्षय-रोग में ताप-केन्द्र बड़ी आसानी से उत्तेजित होजाता है। फलतः क्षय रोगी का ताप चंचल और अस्थिर होता है। जिन बातों का साधारण नीरोग लोगों के ताप पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता, उनसे क्षय रोगी का ताप आसानी से बढ़ जाता है। भोजन, परिश्रम, चिन्ता, क्षोभ, शोक और सन्ताप से क्षय रोगियों का ज्वर दो-तीन डिगरी तक बढ़ जाता है। परीक्षा करते समय बहुत से क्षय रोगियों का ताप बढ़ जाता है। स्थान-परिवर्तन और रेल-यात्रा से भी रोगी का ताप बढ़ जाता है।

जिन रोगियों में क्षय-रोग के प्रारम्भ का सन्देह हो, उनमें रोग का निर्णय करने में इस प्रकुपित ज्वर का उपयोग किया जा सकता है। जब किसी रोगी में क्षय-रोग के अनिश्चित लक्षण और चिह्न मिलें तो परिश्रम करने से पहले और बाद को उसका ताप देखना चाहिये। और यदि परिश्रम से उसका ताप एक डिगरी या अधिक बढ़ जाय तो उपक्रान्त क्षय की बहुत बड़ी सम्भावना समझनी चाहिये। साधारणतः रोगी को दो मील चलाकर

देखते हैं कि क्या प्रभाव होता है। यदि चलने के बाद रोगी का ताप एक डिगरी या इससे अधिक बढ़ जाय तो उससे क्षय-रोग की ओर संकेत होता है। डरेमबर्ग का तो मत है कि यह परीक्षा निश्चयात्मक होती है। यदि साथ अन्य लक्षण भी हों तो यह बड़ी मूल्यवान होती है। नीरोग मनुष्यों में भी परिश्रम से शारीरिक ताप कुछ बढ़ जाता है, परन्तु परिश्रम छोड़ने पर आध घंटे में कम होजाता है। इसके प्रतिकूल क्षय रोगी का बढ़ा हुआ ताप दो घंटे से भी अधिक देर तक बना रहता है।

मासिक ज्वर—क्षयी स्त्रियों में ऋतुकाल में ज्वर अधिक होजाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि कुछ क्षयरहित स्त्रियों में भी ऋतुकाल या उससे पूर्व शारीरिक ताप कुछ बढ़ जाता है। परन्तु क्षय रोगियों में केवल ताप ही नहीं बढ़ता, बल्कि उसके साथ कभी कभी रोग-स्थान पर क्वणों (Rales) की संख्या भी बढ़ जाती है और रक्त-निष्ठीवन तथा पार्श्व-शूल भी होने लगता है। डा० मैश का कहना है कि जिन रोगियों में साधारणतः हरारत नहीं होती, उनमें ऋतुकाल में हरारत उत्पन्न होजाती है और जिनमें पहले से कुछ हरारत होती है, उनमें बढ़ जाती है। हरारत की यह वृद्धि प्रारम्भिक और सम्प्राप्त दोनों प्रकार के रोगियों में होती है। प्रारम्भिक रोग में रोग का निर्णय करने में यह वृद्धि बहुत महत्वपूर्ण होती है। यदि किसी स्त्री में बार-बार ऋतुकाल में हरारत होजाती हो और उसके जननेन्द्रियों में कोई रोग न मिले तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिये।

अधिकांश रोगियों में रजस्राव होने पर ज्वर कम होजाता है। ऋतु-कालिक ज्वर कुछ घंटों से लेकर कई दिनों तक रहता है। सैबोरिन ने पता लगाया है कि कुछ स्त्रियों में मासिक ज्वर तीन सप्ताह तक रहता है और आगामी मासिक धर्म से केवल एक सप्ताह पहले बन्द होता है। यह ज्वर बड़ा भयंकर होता है। सैबोरिन के कथनानुसार अपने मासिक धर्मों से ही रोगी की मृत्यु होजाती है।

बहुत से विशेषज्ञों का मत है कि मासिक धर्म से पूर्व की हरारत गुप्त या सक्रिय क्षय की द्योतक होती है। इसलिये जिन स्त्रियों में क्षय-रोग का संदेह हो उनमें इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह हरारत मासिक धर्म के प्रारम्भ से कुछ दिन पहले से होती है और ऋतुकाल भर रहती है। इस बात पर विचार करते हुये कि क्षयी स्त्रियों में ४०-५० प्रतिशत में

ऋतुकालिक या पूर्व-ऋतुकालिक ज्वर होता है और नीरोग स्त्रियों में बहुत कम होता है, इन लेखकों का मत है कि रोग का निर्णय करने में यह एक बड़ा महत्वपूर्ण लक्षण होता है । यदि ऋतुकालिक ज्वर न हो तो सक्रिय रोग नहीं समझना चाहिये ।

मैश के मतानुसार ऋतुकालिक ज्वर का तेज़ होना बुरा होता है । दूसरी ओर इसका न होना या कम होना रोग की निवृत्ति या शमन का चिह्न होता है ।

क्षय-रोग में ज्वर के मूल्य का निर्धारण—साधारण पुरातन क्षय-रोग की उपक्रान्त अवस्था में केवल थोड़ी सी हरारत होती है। यदि लगातार सप्ताह दो सप्ताह तक हर दो घंटे पर थर्मामीटर लगाकर न देखी जाय तो उसका पता नहीं चलता । तीसरे पहर रोगी को जो सुस्ती मालूम होती है, उसको लोग स्नायविक दुर्बलता और भोजन की अरुचि को मन्दाग्नि समझ लेते हैं । फलतः रोग के वास्तविक कारण की ओर ध्यान न जाने से उसका पता नहीं लगता । चित्र नं० ४९ के देखने से यह विदित होगा कि रोगी का ज्वर यदि केवल सुबह आठ बजे, दोपहर को बारह बजे, और शाम को आठ बजे देखा जाय, जैसा कि साधारणतः किया जाता है, तो तीन बजे से छः बजे तक उसको जो हरारत होती है, उसका पता नहीं चलेगा और फलतः उसको ज्वररहित समझ लिया जायगा । कभी कभी रात को हरारत होती है, इसलिये उसका पता नहीं चलता । कभी कभी ज्वर का क्रम उलटा होता है, अर्थात् ज्वर शाम के बजाय सबेरे होता है । यह अच्छा लक्षण नहीं समझा जाता ।

एक-दो दिन के लिये हरारत का होजाना सक्रिय क्षय-रोग का प्रमाण नहीं होता, क्योंकि अन्य कारणों से भी एक-दो दिन के लिये हरारत हो सकती है । इसके अतिरिक्त उपक्रान्त क्षय-रोग में भी कभी कभी कई दिन तक हरारत नहीं रहती । इसलिये जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो निर्णय करने से पूर्व दो-तीन सप्ताह तक लगातार ताप देखना चाहिये और उसका एक रेखाचित्र बना लेना चाहिये । ऐसा रेखाचित्र क्षय-रोग की पहचान की एक बड़ी अच्छी कसौटी होता है ।

तीसरे पहर की हरारत, जो प्रारम्भिक क्षय का विशिष्ट लक्षण होती है, केवल क्षय-रोग में ही नहीं पाई जाती, अन्य अनेक दशाओं में भी ऐसी ही क्षय-रोग की सी हरारत सप्ताहों तक रहती है । इसलिये जब तक फेफड़े के
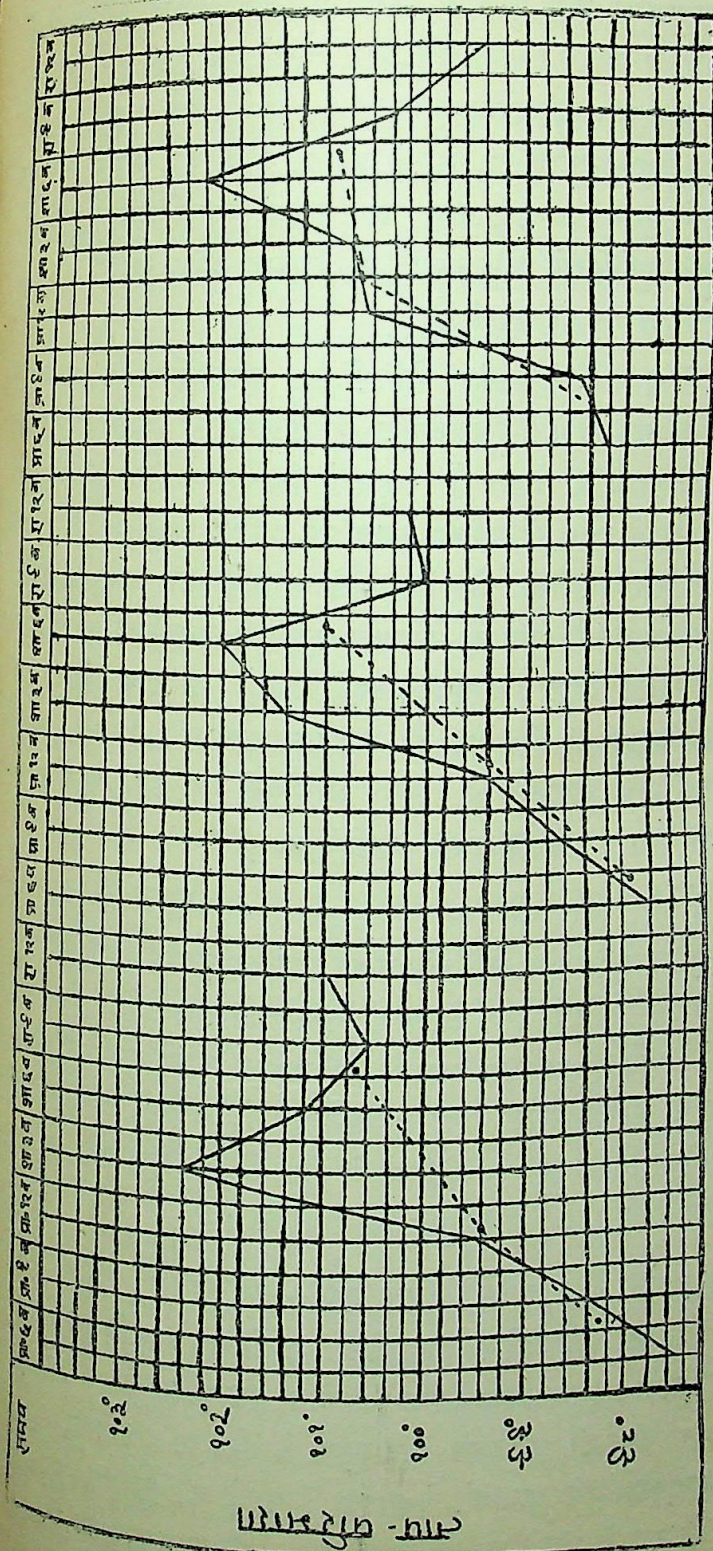
चित्र नं० ४९—उपक्रान्त क्षय-रोग; हर तीसरे घंटे शरीर का ताप (काली रेखा) देखने से विदित होता है कि रोगी को मध्याह्नोपरान्त काल में १०२° फ० से भी अधिक ज्वर होजाता है। यदि रोगी का ताप केवल सुबह, दोपहर और शाम को ही देखा जाता तो इसका पता न लगता, जैसा कि विरत रेखा से सूचित होता है।

विकार के अन्य लक्षण और चिह्न न मिलें तब तक केवल हरारत से ही क्षय-रोग का निश्चय नहीं कर लेना चाहिये। तीसरे पहर की ऐसी हरारतें, जिनका कारण क्षय-रोग नहीं होता, प्रधानतः स्त्रियों में पाई जाती हैं। रक्त की कमी, नाक की श्लेष्मकला का पुरातन प्रदाह, दाँतों की जड़ से पीव का निकलना, कंठ के पुरातन विकार, कान का बहना, श्वास-नलों का फूलना, वृक्क, स्त्रियों की जननेन्द्रियों और यकृति के विकार और उपदंश इत्यादि अनेक कारणों से हरारत हो सकती है।

ज्वर की दशा में अधिकांश रोगियों का वज़न कम होने लगता है, परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनका वज़न ज्वर की दशा में भी बढ़ता है। बहुत से चिकित्सक रोगी की दशा का निर्णय करने में उनके ज्वर की अपेक्षा वज़न पर अधिक ध्यान देते हैं। यह उनकी भूल है। ऐसे क्षय रोगी होते हैं—और वे विशेषकर उनमें से होते हैं जिनमें ज्वर का वेग रात में होता है—जिनका वज़न तो स्थायी या बढ़ता रहता है, पर फेफड़ों में रोग बढ़ता रहता है। दूसरे शब्दों में न अकेले ज्वर को और न अकेले वज़न को ही रोग की साध्यासाध्यता की कसौटी माननी चाहिये, बलिक सब रोग-लक्षणों और रोग-चिह्नों पर एक साथ विचार करके रोगी की दशा का निर्णय करना चाहिये।

दूसरी ओर ज्वर का अभाव अधिकांश रोगियों में अच्छा लक्षण होता है, परन्तु यह सदैव रोग के हलकेपन का निश्चयात्मक प्रमाण नहीं होता, विशेषकर जब कि सक्रिय रोग के अन्य लक्षण विद्यमान हों। ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनका ज्वर १०१° फ० से ऊपर कभी नहीं जाता, फिर भी अरुचि, कृशता, खाँसी, रक्त-निष्ठीवन इत्यादि लक्षणों से उनकी मृत्यु होजाती है। ऐसा विशेषकर उन रोगियों में होता है जो कुछ वर्ष तक चलते हैं। उनमें रोग के प्रति कुछ सहिष्णुता आ जाती है।

क्षय-रोग में ज्वर के विविध रूप—प्रगतिशील और समृद्ध क्षय-रोग में ज्वर का कोई विशेष क्रम, जैसा मलेरिया इत्यादि कई रोगों में होता है, नहीं होता। भिन्न भिन्न रोगियों में और एक ही रोगी में भिन्न भिन्न समयों पर रोग की तेज़ी, पूयजनक कीटाणुओं के मिश्रित संक्रमण, फुप्फुस-तन्तु के गलाव, गले हुये तन्तुओं के बाहर निकलने की सुविधा और क्षय-कीटाणुओं का रक्त में संचार इत्यादि के अनुसार विभिन्न प्रकार का ज्वर होता

है। बहुधा एक ही रोगी में विभिन्न समयों पर ज्वर के विविध रूप देखने में आते हैं, जो एक दूसरे में यकायक या शनैः शनैः परिणत होजाते हैं। अतएव किसी भी ज्वर को क्षय का लाक्षणिक ज्वर नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी कुछ तापक्रम ऐसे मिलते हैं जो रोगी की दशा, उपद्रव और साध्यासाध्यता का पता लगाने में पथ-प्रदर्शक का काम करते हैं।

दोपहर के बाद ज्वर का आना—क्षय-रोग में साधारणतः दोपहर के बाद ज्वर होता है और इसकी न्यूनाधिकता रोग की तेज़ी पर निर्भर होती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रारम्भिक क्षय में केवल थोड़ी सी हरारत होती है, परन्तु जैसे जैसे रोग में वृद्धि होती है, ज्वर भी अधिक होता जाता है।

अविरत ज्वर— अविरत ज्वर विशेष रूप से विस्तृत स्रावक या श्वास-नल-फुप्फुसप्रदाहरूपी रोग में, उग्र फुप्फुसप्रदाहरूपी क्षय-रोग में, बच्चों के श्वास-नल-फुप्फुसप्रदाहरूपी क्षय में और उग्र सर्वाङ्गिक बजरीले क्षय-रोग में होता है। पुरातन क्षय-रोग में, जब रोगी की दशा सुधर रही हो, यदि रक्त-निष्ठीवन के बाद या बिना किसी ज्ञात कारण के ज्वर अविरत हो जाय, तो समझना चाहिये कि फेफड़े में रोग बढ़ गया है और यदि यह अविरत ज्वर तीन या चार सप्ताह से अधिक रहे, तो रोगी का भविष्य शोचनीय और उसकी मृत्यु सन्निकट समझनी चाहिये (चित्र नं० ५०)। सम्भव है कि ऐसे रोगियों में से कुछ की दशा थोड़ी बहुत सुधर जाय, परन्तु वे अच्छे नहीं हो सकते। श्वास-कष्ट, श्यामता और शक्तिपात के साथ अविरत ज्वर बजरीले या उग्र प्रहाररूपी क्षय का, जो कि पुरातन क्षय की बहुधा अन्तिम घटना होती है, द्योतक होता है।

तरंगित ज्वर—पुरातन राजयक्ष्मा के अनेक रोगियों में ज्वर तरंगित होता है। रोगी ज्वर से मुक्त तो कभी नहीं होता, परन्तु सप्ताह में दो या तीन दिन ज्वर १०२.५° या १०३° फ० तक पहुँच जाता है और शेष ४ या ५ दिन १००° या १०१° फ० रहता है। इस प्रकार की ज्वर को तरंगें समय समय पर महीनों तक आती रहती हैं (चित्र नं० ५१)। इसप्रकार का ज्वर उन रोगियों में पाया जाता है जिनमें पुराने रोग-केन्द्रों में गलाव होने लगता है अथवा रोग फैलने लगता है। ज्वर का प्रत्येक चढ़ाव नये भाग का रोगाक्रान्त होना सूचित करता है और अनेक रोगियों में इसका पता वक्ष की परीक्षा से चल सकता है।
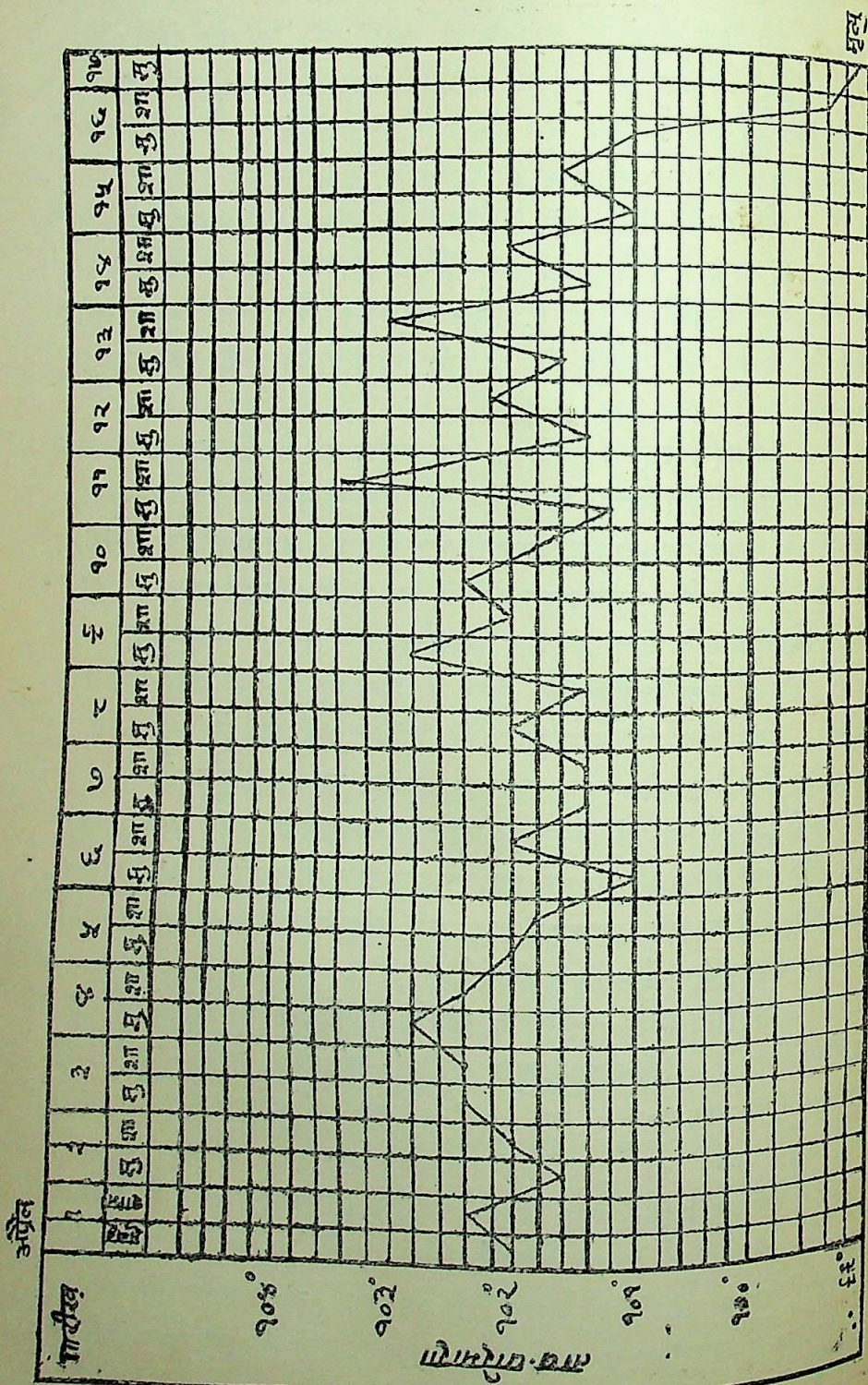
चित्र नं० ४०—क्षय-रोग की अंतिम अवस्था में सविराम ज्वर
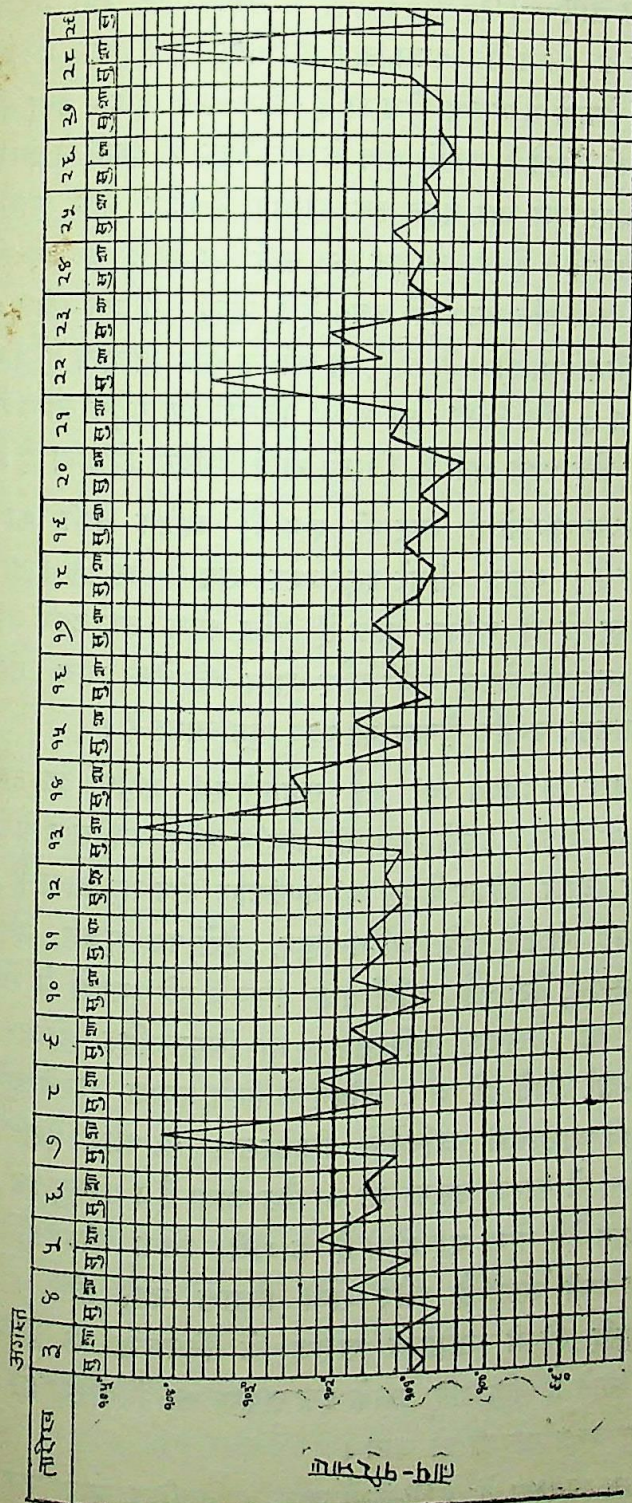
चित्र नं ४१—तरंगित ज्वर

विषम ताप—(Hectic fever) प्रगतिशील रोग में उपरोक्त प्रकार के ज्वरों के अन्त में विषम ताप होजाता है (चित्र नं० ५२)। जिन रोगियों के फेफड़ों में गलाव होजाता है और गला हुआ तन्तु धीरे-धीरे छँटकर रंध्र बनते जाते हैं, उनमें ताप के रेखाचित्र के देखने से इसका पता लग जाता है। प्रातःकाल ज्वर बहुत कम होजाता है और प्रायः आरोग्यताप से भी कम होजाता है। दोपहर के बाद कुछ सर्दी लगती है या बड़े ज़ोर की जूड़ी आती है जिसमें दाँत कटकटाने लगते हैं। नाड़ी, जो ज्वर-रहित काल में कमज़ोर और शीघ्रगामी होती है, और भी अधिक तेज़ होजाती है, शरीर का ताप बढ़ने लगता है और १०३° या १०४° डिगरी तक पहुँच जाता है। ऐसे रोगियों में रात्रि-स्वेद बहुत होता है, जिससे रोगी शिथिल होजाता है।

इन विषम रोगियों में ज्वर की सब से अधिक तेज़ी का समय भिन्न-भिन्न होता है। बहुधा तीसरे पहर ज्वर सब से अधिक होता है, पर कभी-कभी दोपहर को ही अधिक होता है और शाम तक उतर जाता है। ऐसे रोगियों में ज्वर यदि केवल सबेरे और शाम को देखा जाय, तो इसका पता नहीं लग सकता, क्योंकि दोपहर का ज्वर छूट जाता है।

इस प्रकार का विषम ज्वर कई सप्ताहों एवं महीनों तक रहता है। इस काल में ज्वर से और उसके सहगामी अरुचि और अतिसार के कारण, रोगी का शरीर क्षीण होकर केवल अस्थि-कंकाल शेष रह जाता है। गीले और मटीले चमड़े से ढके हुये अस्थि-पञ्जर, पैरों पर सूजन, नख और होठों पर नीलापन, बैठी हुई आँखें तथा पिचके हुये गालों से रोगी की दयनीय दशा को देखकर चिकित्सक भी निरुत्साहित होजाता है। जब ऐसे धीरे-धीरे डूबते हुये और जीवन के लिये प्रयास करते हुये रोगी सहायता के लिये आशाभरी आँखों से चिकित्सक की ओर देखते हैं तो अपनी असमर्थता के कारण उसका भी जी बैठ जाता है। परन्तु इन रोगियों में एक बात ध्यान देने योग्य यह होती है कि शरीर इतना क्षीण होने पर भी मेधा-शक्ति ठीक बनी रहती है और रोगी निराश नहीं होते। खाँसी, अतिसार इत्यादि किसी सामान्य लक्षण के निवारण के लिये प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि यदि उनके इस लक्षण का निवारण हो जाय तो उनकी तबीअत बहुत अच्छी हो जाय।

अन्तिम अवस्था में कभी-कभी ज्वर अनियमित रूप का होजाता

चित्र नं० ५२—सम्वृद्धि क्षय-रोग में विषम ताप।
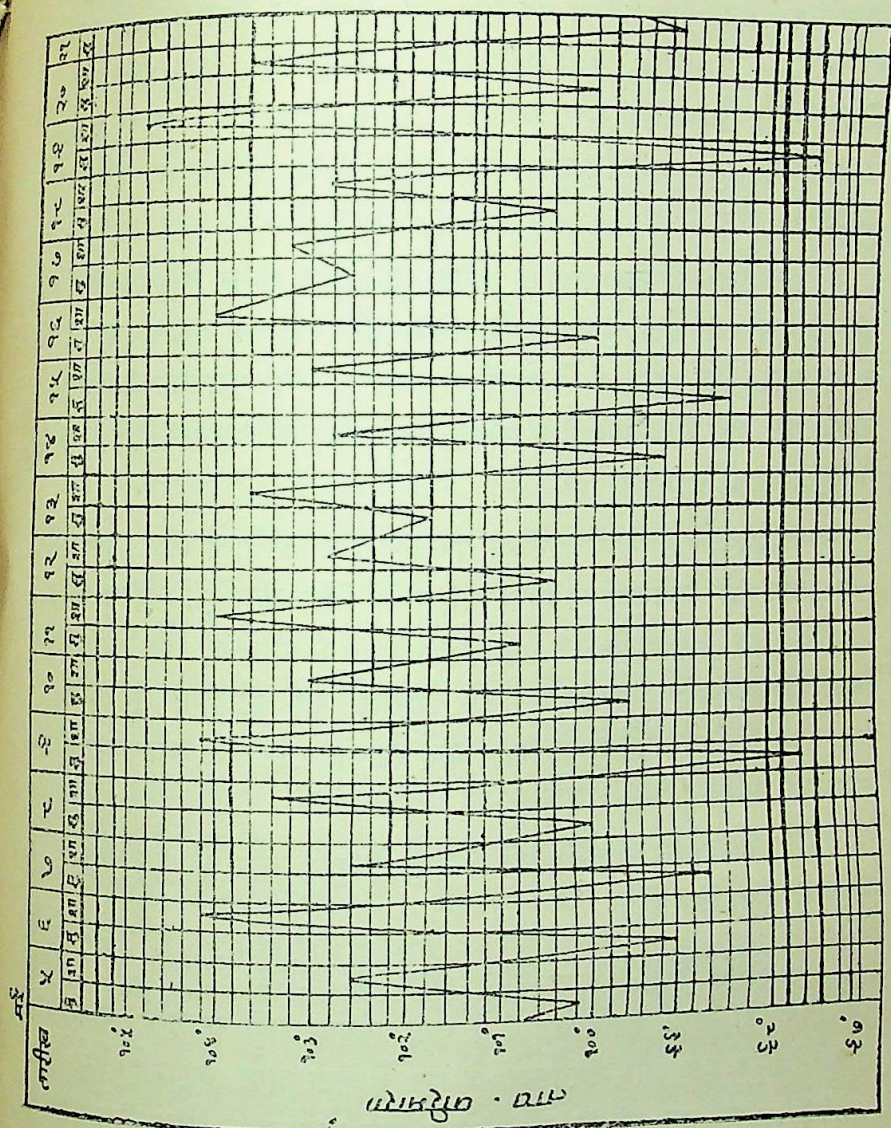
है। एक दिन का ज्वर दूसरे दिन के ज्वर से भिन्न होता है। सौगमैन का कहना है कि अनियमित ज्वर यदि रोग की प्रारम्भिक अवस्था में मिले तो यह आँतों के क्षय का अच्छा चिह्न होता है।

निम्नारोग्य ताप (Subnormal Temperature)—अनेक क्षय-रोगियों में प्रातःकाल जो निम्नारोग्य ताप होता है, उसका वर्णन किया जा चुका है। परन्तु रोग की सम्वृद्ध अवस्था में भी बहुत से रोगी ऐसे मिलते हैं

जिनके शरीर का ताप महीनों तक दिन-रात प्रकृतिस्थ ताप से कम रहता है, ९८·५° फ० से अधिक कभी नहीं होता। प्रातःकाल बहुधा ९६° या ९७° होजाता है। रोग सक्रिय और प्रगतिशील होने पर भी ताप-मापक यन्त्र से उसकी कोई सूचना नहीं मिलती। यह साधारणतः फेफड़ों में रंध्रनिर्माण का द्योतक होता है।

सक्रिय सूत्रोल्वण क्षय के अनेक रोगियों में शरीर का ताप प्रकृतिस्थ ताप से कम रहता है। वायुध्मान के अनेक रोगियों में भी, जब क्षय-रोग होता है तो ज्वर नहीं होता। ये दोनों प्रकार के क्षय पुरातन होते हैं और उनकी गति बड़ी मन्द होती है। रोगी वर्षों तक जीवित रहते हैं, परन्तु बिलकुल अच्छे नहीं होते।

ज्वरवाले रोगी में ज्वर का यकायक कम होजाना और उसके साथ श्वास-कष्ट और श्यामता का होना अरिष्ट का चिह्न होता है। यह स्वाभाविक वायुवक्ष (Spontaneous Pneumothorax) का होना, रोग का एकदम बहुत फैलना, अथवा उपद्रव रूप उग्र बजरीले क्षय का होना सूचित करता है। उपरोक्त तीनों बातों में से चाहे कोई भी हो, रोगी की दशा बड़ी गंभीर समझनी चाहिये।

अनेक दुर्बल क्षय-रोगियों में मृत्यु से कुछ दिन पूर्व शारीरिक ताप निम्नारोग्य होजाता है।

ज्वरविहीन क्षय—पुरातन क्षय के अनेक रोगियों में महीनों तक ज्वर नहीं रहता, यद्यपि फेफड़ों में क्षयी प्रक्रिया जारी रहती है। सूत्रोल्वण क्षय, वार्द्धक्य क्षय और पार्श्वकला के क्षय में ऐसा पाया जाता है। ऐसे रोगी १५ या २० वर्ष तक जीवित बने रहते हैं और थोड़ा बहुत काम भी कर सकते हैं। ये रोगी क्षय-कीटाणुओं के वितरण के बड़े महत्वपूर्ण साधन होते हैं। ऐसे रोगी प्रधानतः या तो अच्छी आर्थिक दशावाले होते हैं जो बेकार बैठे रह सकते हैं अथवा निर्धन होते हैं जो क्षय-रोग के अस्पतालों में वर्षों तक पड़े रहते हैं। मध्य श्रेणी में भी इसप्रकार के रोगी मिलते हैं और वे ऐसे होते हैं जो अपनी देखभाल कर सकते हैं और नियमपूर्वक रहना जानते हैं। कुछ व्यवसायी होते हैं जो ऐसे व्यवसाय करते रहते हैं जिनमें बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से अधिकांश रोगी दुबले-पतले होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे होते हैं जो वस्तुतः मोटे होते हैं। कुछ

को तो स्थूलकाय भी कहा जा सकता है। फेफड़े में सूत्र-निर्माण और हृदय में वसा-वृद्धि होने के कारण उनको साधारणत: श्वास-कष्ट होता रहता है।

भिन्न-भिन्न क्षय रोगियों की प्रतिकार-शक्ति में बड़ा अन्तर होता है। यद्यपि साधारणत: ज्वर रोग की तेज़ी का द्योतक होता है, परन्तु कुछ रोगियों की प्रतिकार-शक्ति इतनी कम होती है कि रोग के तेज़ होने पर भी ज्वर बहुत कम होता है या होता ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि ज्वर का अभाव या कमी हमेशा रोग की कमी की सूचक नहीं होती। इसलिये ज्वर के साथ रोग-प्रगति के अन्य लक्षणों का भी ध्यान रखना चाहिये।

कभी-कभी वृद्ध क्षय रोगियों में ज्वर नहीं होता और चूँकि उनमें खाँसी भी बहुत कम आती है इसलिये रोग का कभी-कभी पता नहीं चलता।

उपद्रवों के कारण ज्वर—क्षय-रोग में ज्वर की गति सदा एक सी नहीं रहती। ज्वर घटता बढ़ता रहता है। जब-जब रोग में वृद्धि होती है, ज्वर बढ़ जाता है और जैसे-जैसे रोग अच्छा होने लगता है, ज्वर भी घटने लगता है। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में उपद्रव उत्पन्न होने से भी ज्वर बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए क्षय-रोगी को शीतज्वर होने पर ज्वर यकायक बढ़ जाता है। कब्ज़ या मन्दाग्नि, कंठ पाक, इन्फ्लुएञ्ज़ा अथवा पार्श्वकला के प्रदाह से ज्वर अधिक होजाता है। सावधानी से परीक्षा करने से ज्वर के बढ़ने के कारण का पता लग जाता है।

कभी-कभी कुछ औषधियों, विशेषकर शमनकारी और निद्रा लानेवाली औषधियों के देने से भी क्षय-रोगी का ज्वर अधिक होजाता है। कितने ही बार देखा गया है कि अफ़ीम या इसका कोई योगिक देने पर अथवा कोई नींद लानेवाली औषधि देने पर दूसरे दिन ज्वर कुछ अधिक होजाता है। परन्तु ऐसा ज्वर बहुधा एक दिन रहता है। औषधियों की पिचकारी लगाने पर प्राय: ज्वर कुछ बढ़ जाता है।

रोग-निर्णय और साध्यासाध्य विचार में ज्वर का मूल्य—इस प्रकरण में जिन बातों की विवेचना की गई है उसके परिणामों के सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि किसी व्यक्ति को तीसरे पहर कई सप्ताह तक ज्वर की हरारत होती रहे और उसका कोई अन्य कारण न मिले, तो क्षय-रोग की सम्भावना समझनी चाहिए। यदि मामूली परिश्रम करने से हरारत उत्पन्न होजाय अथवा बढ़ जाय और आराम करने पर वह एक घंटे के अन्दर

शान्त न हो, तो रोगी को क्षय-रोग हुआ समझना चाहिये। यदि हरारत के साथ रात्रि-स्वेद, आलस्य, वज़न का घटना, खाँसी और कृशता इत्यादि अन्य लक्षण भी हों तो क्षय-रोग का निश्चय समझना चाहिये, चाहे परीक्षा करने पर फेफड़ों में क्षय-रोग का कोई चिह्न भले ही न मिले। यदि प्रातःकाल का ताप-औसत आरोग्यताप से कम हो तो रोग का निश्चय और भी दृढ़ होजाता है।

ताप और नाड़ी की चंचलता हरएक क्षय रोगी में पाई जाती है, परन्तु यह क्षय-रोग का लाक्षणिक चिह्न नहीं होती, क्योंकि परिश्रम से हर व्यक्ति में, जिसमें कहीं भी और किसी भी प्रकार का संक्रमण होता है, शारीरिक ताप बढ़ जाता है। पिंगल नाड़ी-मंडल और प्रणालीविहीन ग्रन्थियों में विकार होने से भी ताप और नाड़ी चञ्चल होजाती है। चुल्लिका ग्रन्थि की तेजी में ऐसा विशेष करके होता है। इस रोग में क्षय-रोग के से तीव्रगामी नाड़ी, कृशता, खाँसी, स्वेद, थकावट इत्यादि लक्षण भी होते हैं। इसलिये इन दोनों रोगों की परस्पर पहचान करना कभी-कभी बड़ा कठिन होता है।

क्षय-रोग में दिन भर तेज़ ज्वर का रहना और कभी न उतरना तथा दोपहर के बाद और भी बढ़ जाना फेफड़े के रोग की बढ़ती हुई तेजी का द्योतक होता है। जब प्रातःकाल ज्वर उतर जाय और दिन में न आवे, केवल शाम को १००° फ० या १०१° फ० तक होजाय तो रोग की प्रगति मन्द या रुकी हुई समझनी चाहिये। तेज़ अविरत ज्वर १०३° फ० या इससे अधिक फेफड़ों में रोग का विस्तीर्ण होना सूचित करता है। यदि इस प्रकार का ज्वर लगातार एक मास से अधिक रहे तो रोगी की दशा बड़ी शोचनीय समझनी चाहिये। इस हालत में रोगी की दशा यदि कुछ सुधरने भी लगे तो, भी वह अच्छा नहीं हो सकता। विषम ताप जो प्रातःकाल बिल्कुल उतर जाता है और आरोग्य ताप से भी कम हो जाता है तथा दोपहर को या दोपहर के बाद बहुत तेज़ अर्थात् १०३° या १०४° तक हो जाता है, बुरा लक्षण होता है। रोगी महीनों तक भले ही जीवित बना रहे, पर अन्त में अच्छा नहीं होता।

अधिकांश रोगियों में ज्वर का अभाव रोगी का अच्छा होना या उसकी दशा का सुधरना सूचित करता है। परन्तु इस बात में अनेक अपवाद भी होते हैं। इसलिये साध्यासाध्य विचार में अन्य लक्षणों का भी विचार करना चाहिये। ज्वर का एक दम कम होजाना बुरा लक्षण होता है।

रात्रि-स्वेद— रात्रि-स्वेद (रात में पसीना आना) हमेशा से क्षय-रोग का एक विशिष्ट लक्षण समझा जाता है और प्रारम्भिक तथा सम्प्राप्त दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। रात्रि-स्वेद प्रायः आधीरात के बाद दो और चार बजे के बीच में होता है। रात में बहुधा इतना पसीना आता है कि उससे भीगने के कारण रोगी की आँख खुल जाती है। जब पसीना कम आता है तो केवल मस्तक, गर्दन और सीने पर होता है और कभी-कभी शरीर की एक ही ओर होता है।

हर रोगी को रात्रि-स्वेद नहीं आता। कुथी को प्रारम्भिक क्षय में ३७ प्रतिशत और सम्प्राप्त क्षय में ६१.५ प्रतिशत रोगियों में रात्रि-स्वेद मिला था।

क्षय-रोग के विकास में ज्वर और रात्रि-स्वेद साथ साथ चलते हैं। जब रोगी का ज्वर छूट जाता है तो रात में पसीना आना भी बन्द हो जाता है। ज्वर के पुनः आरम्भ होने पर रात्रि-स्वेद भी होने लगता है। रात्रि-स्वेद का कम होना रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्तम चिह्न होता है। क्षय-रोगियों में पसीना साधारणतः अधिक आता है और बड़ी आसानी से प्रकट होजाता है। परिश्रम, शोक, चिन्ता और चित्तोद्वेग से क्षय रोगी को तत्काल पसीना आने लगता है। यह देखा गया है कि परीक्षा करते समय बहुत से रोगियों को पसीना आ जाता है।

अधिकांश विशेषज्ञों का कहना है कि क्षय रोगी के पसीने से संक्रमण नहीं होता, परन्तु पियरी ने अपनी खोज से यह सिद्ध किया है कि पसीने में क्षय-कीटाणु होते हैं और उनसे पशुओं में रोग उत्पन्न किया जा सकता है। अन्य अन्वेषकों ने अभी तक इस बात का समर्थन नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पियरी ने जो पसीना जमा किया था उसमें संभवतः बाद को किसी प्रकार क्षय-कीटाणु मिल गये थे।

शरीर की और ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों की सफाई से रात्रि-स्वेद की रोक हो सकती है, जैसा कि अन्यत्र बताया जायगा।

तेरहवाँ परिच्छेद

रक्त-निष्ठीवन

जनसाधारण रक्त-निष्ठीवन (Haemoptysis) अर्थात् कफ के साथ रक्त गिरने को क्षय-रोग का सबसे अधिक विश्वस्त लक्षण समझते हैं। अनेक चिकित्सकों का भी यही मत है। परन्तु अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि अनेक क्षय रोगियों में, रोग के आदि से अन्त तक—चाहे अन्त में वे अच्छे हो जायँ अथवा उनकी मृत्यु हो जाय—रक्त-निष्ठीवन नहीं होता। दूसरी ओर क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी रक्त-निष्ठीवन हो सकता है। रक्त-निष्ठीवन कितने प्रतिशत क्षय रोगियों में होता है, इसके सम्बन्ध में लोगों में कुछ मतभेद है। कुछ लोगों को केवल २५ प्रतिशत और अन्य लोगों को ८० प्रतिशत क्षय रोगियों में रक्त-निष्ठीवन मिला है। सोकोलवस्की का कहना है कि ऐसे सम्वृद्ध क्षय रोगी बहुत कम पाये जाते हैं जिनके कफ में कभी रक्त न आया हो। विलियम्स को ७० प्रतिशत रोगियों में, सोर्गो को ३८ प्रतिशत रोगियों में, काँडी को केवल २४ प्रतिशत में, फंक को ४४ प्रतिशत में और फिलाडेल्फिया नगर के फिप्स आरोग्यशाला में ४४६६ रोगियों में से ४९·९ प्रतिशत में रक्त-निष्ठीवन मिला था।

प्रतिशत संख्याओं के इन अन्तरों का कारण यह है कि उनके सम्पादकों ने एक से रोगियों के आँकड़ों का संकलन नहीं किया है। किसी ने केवल मृत रोगियों के आँकड़े लिए हैं तो किसी ने केवल अपने निजी रोगियों के, और किसी ने अस्पतालों के लेखों से संकलन किया है। अस्पताल के रोगी केवल थोड़े समय के लिये ही निरीक्षण में रहे होंगे इसलिये उनमें बाद को जो रक्त-निष्ठीवन हुआ होगा, वह छूट गया होगा।

ऐण्डर्स को ५३०२ रोगियों की जाँच करने पर ३६·६ प्रतिशत में रक्त-निष्ठीवन मिला था, परन्तु उनका कहना है कि सब रोगी रोग के अन्त

तक निरीक्षण में नहीं रहे थे। साधारणत: यह कहा जा सकता है कि कम से कम आधे क्षय-रोगियों में कभी न कभी रक्त-निष्ठीवन अवश्य होता है।

रक्त-निष्ठीवन का निदान—रक्त-निष्ठीवन का रोग निर्णय और साध्यासाध्य विचार सम्बन्धी मूल्य तभी ठीक ठीक समझ में आ सकता है जब कि इस बात का ज्ञान हो कि फेफड़ों में किन किन विकारों के होजाने से रक्तस्राव होने लगता है। फुप्फुस तन्तु का उग्र प्रदाह, रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण और रक्तनाड़ियों में रक्तकोष का बनना क्षय-रोग में रक्त-निष्ठीवन के प्रधान कारण होते हैं।

रोग के प्रारम्भ में जो रक्त-निष्ठीवन होता है वह प्राय: फेफड़ों में उग्र प्रदाह होने से होता है। साधारणत: उग्र प्रदाह में फुप्फुस-तन्तु में रक्तावष्टम्भ (Congestion) होजाने से जो रक्तस्राव होता है, वह थोड़ा होता है और उसमें केवल रक्त-मिश्रित श्लेष्म निकलता है। परन्तु कभी कभी स्राव अधिक भी होता है। इसके प्रतिकूल रक्त-मिश्रित कफ आने से यह नहीं समझना चाहिये कि इसका कारण केवल रक्तावष्टम्भ है और विकार अधिक गम्भीर नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्ण स्रवित रक्त कफ के साथ बाहर नहीं निकलता है। इसका पर्याप्त भाग फेफड़ों और श्वास-प्रणालियों में रह जाता है और वहाँ उसका शोषण होजाता है। इसलिए रक्त-निष्ठिवन जब अधिक न हो, तो उससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि रोग हल्का या विकार अधिक विस्तीर्ण नहीं है।

जब फेफड़े का विकार पककर उसमें गलाव होने लगता है तो फुप्फुस तन्तु के साथ साथ उस स्थान की रक्तनाड़ियाँ भी रोगाक्रान्त होजाती हैं। फेफड़े की इस नाशकारक और व्रणकारक प्रक्रिया को देखकर पहले तो यह आश्चर्य होता है कि रक्तस्राव अधिक क्यों नहीं होता। परन्तु रक्तनाड़ियों में रक्त जमने की प्रबल चेष्टा को देखकर इसका कारण समझ में आ जाता है। पुरातन क्षय-रोग में साधारणत: यक्ष्मों की रचना से रक्तनाड़ी संकीर्ण होजाती है या बिल्कुल रुक जाती है, परन्तु अन्त में जब यक्ष्म पककर गलने लगते हैं तो रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण होने से वह कट जाती है और उससे रक्तस्राव होने लगता है जो रक्त के जमने से फिर रुक जाता है। इसके अतिरिक्त रक्त-नाड़ी की दीवार भीतर के रक्त के भार से निर्बल स्थान पर फूल जाती है जिससे रक्तनाड़ी की दीवार में (Aneurysm) रक्तकोष बन जाते हैं जिनको अंग्रेजी में Aneurysm of Rasmussen कहते हैं।

इनका विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। इन रक्त-कोषों के फटने से रक्तपात होने लगता है।

अधिकांश रोगियों में रक्त-निष्ठीवन होकर अच्छा होजाता है। इसलिये रक्तस्राव के समय फेफड़े के विकारों का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। परन्तु जब रक्त-निष्ठीवन से मृत्यु होजाती है तो फुप्फुस-विकारों के देखने का अवसर मिल जाता है। साधारणतः यह देखने में आता है कि चारों ओर के फुप्फुस तन्तु के गलकर छट जाने से जो अनाश्रित खुली हुई रक्तनाड़ी रह जाती है उससे रक्त-निष्ठीवन होता है। चारों ओर के फुप्फुस तन्तु का आश्रय छूटने से और दीवार में व्रण होने से नाड़ी की दीवार निर्बल होकर उसमें रक्त-कोष बन जाते हैं और संचरित रक्त के भार से वह फट जाती है।

जो रोगी अच्छे होते जाते हैं उनकी दशा कभी कभी इन रक्त-कोषों के अनायास फटने से एक दम फिर गिर जाती है और सूखी नदी में बाढ़ के समान उनमें रक्तपात होने लगता है। यदि वह रंध्र, जिसमें रक्त-कोष या क्षत रक्तनाड़ी फटती है, छोटा होता है तो निकले हुये रक्त से वह भर जाता है और रक्त के जमने से रक्तनाड़ी का छिद्र रुककर रक्तस्राव बन्द होजाता है। परन्तु जब रंध्र बड़ा होता है या रक्त में जमने की शक्ति कम होती है तो रक्त बहता रहता है और रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु होजाती है। एक क्षय-रोगी की रक्तनाड़ी फट जाने से रात्रि में अकस्मात् उसकी मृत्यु होगई थी। जब उसके शव की परीक्षा की गई तो उसके एक फेफड़े में रक्त से भरा हुआ एक बहुत बड़ा रंध्र मिला। रक्त साफ़ करने पर फटा हुआ रक्त-कोष साफ़ दिखाई देने लगा।

उग्र क्षय में, जिसमें फुप्फुस तन्तु का बड़ी तीव्र गति से नाश होता है, साधारणतः रक्तस्राव रक्तनाड़ी की दीवार में व्रण होकर फट जाने से होता है। इसका कारण यह है कि उग्र रोग में रक्तनाड़ी को संकीर्ण होने के लिये पर्याप्त समय नहीं मिलता जिससे रक्तस्राव होने पर रक्त के जम जाने से शीघ्र उसका मुँह रुक जाय और अधिक रक्तस्राव, जैसा कि पुरातन रोग में होता है, न हो सके।

रक्तस्राव का परिणाम—प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि पशु शरीर के आधे रक्त तक का नाश सह लेते हैं। इससे अधिक नाश होने पर

रक्ताभाव के कारण रक्त-भार कम होने से मृत्यु हो जाती है। जब रक्तस्राव अधिक नहीं होता तो शरीर का रस खिंचकर रक्त-नाड़ियों में पहुँचकर रक्त-भार बढ़ा देता है। रक्तस्राव से नाड़ी निर्बल और शीघ्रगामी हो जाती है और अधिक स्राव से मूर्च्छा हो जाती है।

आद्य रक्त-निष्ठीवन—अनेक क्षय रोगियों में रोग का सब से पहला लक्षण रक्त-निष्ठीवन होता है। क्षय-रोग के आद्य रक्त-निष्ठीवन सम्बन्धी विचित्र आँकड़ों में बड़ा अन्तर मिलता है, क्योंकि अनेक रोगी ऐसे होते हैं जिनमें खाँसी इत्यादि अन्य लक्षण महीनों से होते हैं, परन्तु उनकी ओर रोगियों का ध्यान तभी जाता है जब रक्त-निष्ठीवन से ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। ऐसे रोगियों में रक्त-निष्ठीवन को आद्य लक्षण समझना ठीक नहीं।

१९३२ क्षय रोगियों की जाँच करने पर रीक को ९·२ प्रतिशत क्षय-रोगियों में रक्त-निष्ठीवन आद्य लक्षण मिला था। उनका कहना है कि जिन रोगियों में रोग का प्रारम्भ रक्त-निष्ठीवन से होता है, उनमें आगे चल-कर भी रक्त-निष्ठीवन के दौरे अधिक होते हैं। सौर्गो को दस वर्ष में ५८७२ रोगियों की जाँच करने पर १२·९ प्रतिशत में आद्य रक्त-निष्ठीवन मिला था। कुथी को कुल ५४·३ प्रतिशत रोगियों में रक्त-निष्ठीवन मिला था, जिनमें से २२·३ प्रतिशत में रक्त-निष्ठीवन रोग के प्रारम्भ में था। ऐण्डर्स का अनुमान है कि लगभग १० प्रतिशत रोगियों में क्षय-रोग का आरम्भ रक्त-निष्ठीवन से होता है और लगभग २५ प्रतिशत रोगियों में रोग की प्रारम्भिक अवस्था में यह लक्षण पाया जाता है।

क्षय-रोग के प्रारम्भ में रक्त-निष्ठीवन—क्षय-रोग के प्रारम्भ में रक्त-निष्ठीवन दो प्रकार के रोगियों में होता है। एक उन रोगियों में, जो रक्त-निष्ठीवन के पहले बिल्कुल अच्छे प्रतीत होते हैं और जिनको किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं होती। सावधानी से पूछताछ करने पर भी ऐसे रोगियों में रक्त-निष्ठीवन से पहले किसी लक्षण का होना नहीं पाया जाता। काम करते करते, बातचीत करते हुए अथवा रात में सोकर उठने पर यकायक इनके कण्ठ में कुछ उष्णता प्रतीत होती है और खाँसी आकर मुँह से रक्त की कुल्ली हो जाती है, अथवा खाँसी का दौरा उठकर रक्त मिश्रित कफ निकलने लगता है। वक्षःस्थल की परीक्षा करने पर और एक्सरे द्वारा परीक्षा

करने पर फेफड़ों में रोग के कोई चिह्न नहीं मिलते। शरीर का ताप पहले से प्रकृतिस्थ होता है और बाद को भी वैसा ही रहता है और क्षुधा ठीक बनी रहती है। हाँ, इतना ज़रूर होता है कि कुछ घंटों या दिनों तक रक्त की काली-काली फुटकें कफ में निकलती रहती हैं। परन्तु इनका आना बन्द हो जाने पर फिर रोगी को कोई शिकायत नहीं रहती।

ऐसे रोगियों में से अनेकों को जीवन भर कोई ऐसा कष्ट नहीं होता जिससे क्षय का सन्देह भी हो सके। इस प्रकार का रक्त-निष्ठीवन असफल क्षय में मिलता है जिसका विस्तृत विवरण आगे चलकर दिया जायगा। कुछ रोगी कई वर्ष पहले ऐसा रक्त-निष्ठीवन होने का हाल बताते हैं।

दूसरे प्रकार के रोगियों में भी रक्तस्राव के पहले रोग के कोई लक्षण नहीं मिलते, परन्तु जब रक्त-निष्ठीवन होता है तो कई दिनों तक जारी रहता है और अन्त में उसके बन्द होने पर खाँसी, कफ, शीघ्रगामी नाड़ी, रात्रि-स्वेद इत्यादि क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। वक्षस्थल की परीक्षा करने पर एक या दोनों फेफड़ों के शिखर में क्षयी विकार के चिह्न मिलते हैं। कफ की परीक्षा करने पर कभी कभी क्षय-कीटाणु भी मिलते हैं। अधिकांश रोगियों में कुछ महीनों में सब लक्षण शान्त हो जाते हैं। परन्तु समय समय पर इसी प्रकार के अनेक दौरे होते रहते हैं और कालान्तर में पुरातन क्षय स्थापित हो जाता है। दौरों के बीच बीच में रोगी की दशा काफी अच्छी रहती है और उसको कोई विशेष कष्ट प्रतीत नहीं होता।

कुछ रोगी यह बताते हैं कि रक्त-निष्ठीवन से पूर्व वे बिल्कुल अच्छे थे, परन्तु सावधानी से पूँछताछ करने पर पता चलता है कि महीनों से उनको कुछ न कुछ खाँसी और कफ आता था, उनकी भूख कम होगई थी और शरीर दुर्बल होगया था। स्त्री-रोगियों से पता चलता है कि दो एक महीना पहले से उनमें मासिक-धर्म नहीं होता था। ऐसे रोगी इन लक्षणों को तुच्छ समझते रहते हैं और यदि इनमें से कोई चिकित्सक के पास जाता भी है तो वह उसको मामूली ज़ुकाम बता देता है।

ऐसे लोगों में रक्तस्राव साधारणतः अधिक होता है और कई दिन तक रहता है, क्योंकि यद्यपि क्षयी विकारों का धीरे-धीरे अज्ञात रूप से प्रादुर्भाव होता है फिर भी जब पता चलता है उस समय वे काफी बढ़े होते हैं। अधिकांश रोगियों के वक्षस्थल की परीक्षा करने पर काफी विस्तृत क्षयी-

विकार मिलते हैं, परन्तु कभी कभी निश्चित रोग-चिह्न नहीं मिलते। फिर भी खाँसी, कफ, ज्वर इत्यादि लक्षणों से रोग का निश्चय हो जाता है। असफल क्षय के रक्त-निष्ठीवन के दौरों से यह रक्त-निष्ठीवन इस बात में भिन्न होता है कि इसके बाद रोगी बहुत दिनों में अच्छा होता है।

सम्वृद्ध अवस्था में रक्त-निष्ठीवन—क्षय-रोग में रक्त-निष्ठीवन किसी भी समय हो सकता है किन्तु उपक्रान्त और सम्वृद्ध अवस्था में अधिक होता है। रक्त की मात्रा में बहुत न्यूनाधिकता होती है। कभी केवल रक्त-वर्ण का कफ, कभी शुद्ध रक्त की कुल्ली, कभी सेर आध सेर और कभी कभी दो दो सेर तक रक्त निकलता है।

रक्त लाल वर्ण का झाग-युक्त और साधारणत: श्लेष्म मिश्रित होता है। जब स्राव अधिक होता है तो कभी-कभी रक्त का रंग शिरारक्त के समान काला होता है। अधिकांश रोगियों में यह रक्त शीघ्र नहीं जमता, उसमें कुछ फुटकियाँ भी होती हैं, परन्तु अधिकतर वह द्रव रूप होता है। रक्त को जमानेवाले खटिक, रक्तरस इत्यादि पदार्थ मिलाने पर भी रक्त शीघ्र नहीं जमता। रक्त के देर में जमने का कारण अभी तक ठीक ठीक ज्ञात नहीं हुआ है।

कुछ लोगों को रक्त-निष्ठीवन होने से पूर्व उसका ज्ञान हो जाता है और वे बता सकते हैं कि उनको रक्त-निष्ठीवन होनेवाला है। परन्तु अधिकांश रोगियों में रक्त-निष्ठीवन का दौरा यकायक बिना किसी पूर्वाभास के होता है। रोगी को वक्ष में पहले जकड़न या गड़गड़ाहट प्रतीत होती है और उसके बाद खाँसी उठती है जिससे झागयुक्त रक्त वर्ण नमकीन रुधिर निकलता है। जब रक्तपात अधिक होता है तो मुँह से रक्त की धारा बहने लगती है।

रोगी एकदम घबड़ा उठता है और भयभीत हो जाता है। उसके चेहरे से भय, चिन्ता और घबराहट टपकती है, चेहरा पीला हो जाता है और हाथ पैर ठंडे तथा क्लेद युक्त हो जाते हैं। शरीर का ताप, जो रक्तस्राव से पहले बढ़ा हुआ होता है, रक्तस्राव के बाद एकदम घटकर प्रकृतिस्थ ताप से भी कम हो जाता है। नाड़ी निर्बल और शीघ्रगामी हो जाती है।

शक्तिपात के इन लक्षणों का केवल रक्तस्राव ही कारण नहीं होता, उनमें भय और घबराहट का भी भाग होता है। यह इस बात से स्पष्ट

विदित होता है कि रोगी के अतिरिक्त उसके परिवार के अन्य लोगों की भी घबराहट से वैसी ही दशा हो जाती है।

चिकित्सक के प्रोत्साहित करने और आश्वासन दिलाने पर रोगी में कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त होने लगती है, नाड़ी सुधरने लगती है, चेहरा प्रदीप्त होने लगता है और शरीर का ताप बढ़कर रक्तपात से पहले का सा हो जाता है। अनेक रोगियों में फिर दौरा हो जाता है और कुछ घंटों में या दूसरे दिन रक्तस्राव फिर होने लगता है। इस प्रकार अनियमित रूप से स्राव कई दिन तक जारी रहता है। अन्त में जब रक्तपात बन्द हो जाता है तो उसके बाद भी रोगी के कफ में काले काले रक्त के छिछड़े कुछ दिनों तक निकलते रहते हैं। कुछ रोगियों में रक्तपात बहुत दिनों तक जारी रहता है और अन्त में रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उन रोगियों में, जिनके फेफड़ों में बड़े बड़े रंध्र होते हैं, कभी कभी रक्तपात अधिक होता है। सब का सब स्रवित रक्त बाहर नहीं निकलता। रक्त का एक बड़ा भाग निगल लिया जाता है और कुछ भाग रंध्र और श्वास प्रणालियों में रह जाता है जिसका शोषण हो जाता है। रक्तपात का अन्तिम परिणाम फटी हुई रक्तनाड़ी के आकार और रक्त के जमने की शक्ति पर निर्भर होता है। कभी कभी रोगी निर्बल और क्षीण होने के कारण रक्तपात की विपुलता से दबजाता है और रक्त को बाहर निकालने की शक्ति न होने से अपने ही रक्त में कुछ मिनटों में ही डूब मरता है। कुछ रोगी कुछ घंटों या दिनों तक जीने का निष्फल प्रयास करते हैं और अन्त में रक्त की कमी से उनके प्राण छूट जाते हैं। फेफड़ों में रंध्रवाले रोगियों के लिये साधारणत: रक्तपात से निवृत्त होने की काफ़ी सम्भावना होती है। रक्तपात से तत्काल मृत्यु बहुत कम होती है। रक्तपातवाले रोगियों में से २ प्रतिशत से भी कम की मृत्यु सीधी रक्तपात से होती है। अधिकतर रोगी रक्तपात को सह लेते हैं और यदि उनकी मृत्यु होती है तो अन्य लक्षणों या उपद्रवों के कारण होती है।

दूसरी और ऐसे क्षय रोगी देखने में आते हैं जो धीरे धीरे अच्छे होते जाते हैं, परन्तु सहसा उनको विपुल रक्तपात हो जाता है जिससे उनकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है। ऐसे रक्तपात सौभाग्य से बहुत कम देखने में आते हैं और साधारणत: किसी रंध्र में रक्तकोष के फट जाने से होते हैं। इनका न पहले से पता लग सकता है और न इनकी रोक हो सकती है।

सूत्रोल्वण क्षय में रक्तपात—इस प्रकार के क्षय में रक्त-निष्ठीवन बहुत होता है, परन्तु अधिकांश रोगियों में रक्त की मात्रा बहुत कम होती है, केवल लाली लिए कफ निकलता है। साधारणतः रोगियों को श्वास और खाँसी के अतिरिक्त और कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता। श्वास और खाँसी के प्रति भी कुछ सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु जब कफ में रक्त आने लगता है तो रोगी घबरा जाते हैं। कुछ रोगी इसके भी आदी हो जाते हैं और वे इसकी परवाह नहीं करते क्योंकि वे अनुभव से जान जाते हैं कि यह कोई भयङ्कर बात नहीं है। सूत्रोल्वण-क्षय में भी कभी कभी विपुल रक्तपात होजाता है।

रक्तस्रावक क्षय-रोग—राजयक्ष्मा के उस रूप भेद में, जिसको रक्तस्रावक क्षय कहते हैं, रक्तस्राव का बार बार होना विशिष्ट लक्षण होता है। वर्षों तक अनियमित रूप से समय समय पर रक्त-निष्ठीवन होता रहता है; परन्तु उससे रोगी को कोई विशेष हानि नहीं पहुँचती। इन रोगियों में वक्षस्थल की परीक्षा करने पर साधारणतः न कोई रोग-चिह्न मिलता है, न इनको ज्वर होता है और न इनका वजन घटता है, केवल थोड़ी सी खाँसी होती है। केवल रक्त-निष्ठीवन से और कभी कभी कफ में क्षय-कीटाणुओं के मिलने से इनकी दशा का पता चलता है। फिशबर्ग ने एक स्त्री का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे तथा अन्य कई और चिकित्सक उसके वक्षस्थल की परीक्षा करके आसानी से क्षय-रोग का निश्चय नहीं कर सके। बहुत काल तक वे यह समझते रहे कि रोगी बहाना करता है। रक्तपात के दौरों में, जो अनियमित समय पर बार बार हुआ करते थे, वक्षस्थल की परीक्षा करने पर कोई निश्चयात्मक रोग-चिह्न नहीं मिलते थे। इसी प्रकार के एक और रोगी को पिछले १५ वर्ष से प्रति वर्ष दो बार रक्त-निष्ठीवन हो जाता था परन्तु वह देखने में स्वस्थ प्रतीत होता था। एंड्रल एक रोगी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उसको ६० वर्ष की आयु तक समय समय पर रक्तस्राव होता रहा और अन्त को ८० वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हुआ। ऐसे रोगी असाधारण होते हैं और कभी कभी देखने में आते हैं।

रक्त-निष्ठीवन के उभाड़नेवाले कारण—यह बताया जा चुका है कि रक्त-निष्ठीवन क्षय-रोगियों में सामान्य लक्षण होता है। फिर भी अनेक रोगी ऐसे होते हैं जिनमें आदि से अन्त तक रक्त-निष्ठीवन नहीं होता। कुछ

साक्षी इस बात की मिलती है कि ठिंगने मनुष्यों की अपेक्षा लम्बे मनुष्यों में यह लक्षण अधिक पाया जाता है। वुल्फ का कहना है कि यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में रक्त-निष्ठीवन कम होता है। वैसे तो रक्त-निष्ठीवन हर आयुकाल में होता है, परन्तु अधिकतर १५ से ५० वर्ष तक की आयु में होता है, क्योंकि सम्भवतः इस आयुकाल में रोग सक्रिय अवस्था में होता है।

एंडर्स के आँकड़ों से भी विदित होता है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है। तीस वर्ष की आयु के बाद पुरुषों में कहीं अधिक होता है। स्त्रियों में विपुल और घातक रक्तपात कम होता है। फिशबर्ग का अनुभव है कि तत्काल प्राणघातक, रक्त-निष्ठीवन स्त्रियों में बहुत विरल होता है, आद्य रक्त-निष्ठीवन भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम होता है। रीक के आँकड़ों से विदित होता है कि पुरुषों में ११ प्रतिशत में और स्त्रियों में ५·५ प्रतिशत में आद्य रक्त-निष्ठीवन होता है।

अधीर और तामसी स्वभाववाले रोगियों में शान्त और सतोगुणी रोगियों की अपेक्षा रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है। उत्तेजक वादविवाद, अति परिश्रम, गाने, दौड़ने, पहाड़ पर चढ़ने, पाखाना जाते समय जोर करने तथा चोट लग जाने से रक्तस्राव हो जाता है। परन्तु रक्त-निष्ठीवन के उद्दीपन में अति परिश्रम का महत्व अधिक नहीं समझना चाहिए। अधिक परिश्रम या चित्तोद्वेग से कफ में लाली आ सकती है अथवा हल्का रक्तस्राव हो सकता है, परन्तु अधिक रक्तस्राव तो तभी हो सकता है जब रक्त नाड़ी की दीवार कट जाती है या रक्त कोष फट जाता है। अधिक परिश्रम रक्त-निष्ठीवन का प्रधान कारण नहीं होता है, यह इस बात से भी विदित होता है कि अधिकांश विपुल और घातक रक्तपात रात में होते हैं। अभी तक इस बात पर प्रकाश नहीं पड़ा है कि ऐसे रक्त-निष्ठीवन रात में क्यों अधिक होते हैं। जो रोगी अधिक भोजन से मोटे हो जाते हैं उनमें रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है। ऋतु परिवर्तन से भी रक्त-निष्ठीवन का उद्दीपन होजाता है। स्त्री-प्रसंग से रक्त-निष्ठीवन होकर तुरन्त मृत्यु होते देखी गई हैं।

संखिया, क्रियोज़ोट, और उसके भाईबन्द, आयोडाईड, एस्परीन इत्यादि, कुछ औषधियों से, जिनका क्षयोपचार में विस्तृत प्रयोग होता है, प्रायः रक्त-निष्ठीवन होजाता है। यह कहा जाता है कि पहाड़ों पर रहना रक्त-निष्ठीवन के अनुकूल होता है, परन्तु अभी तक यह बात प्रमाणित नहीं हुई

है। इतना अवश्य है कि रक्त-निष्ठीवन का परिणाम समुद्रतट की अपेक्षा उन्नतांश प्रदेशों में अधिक बुरा होता है।

कुछ लोगों ने पता लगाया है कि रक्त-निष्ठीवन पर ऋतु का भी प्रभाव होता है। उनका कहना है कि बसन्त और ग्रीष्म ऋतु में रक्त-निष्ठोवन सबसे अधिक मिलता है, परन्तु एण्डर्स की जाँच से यह विदित होता है कि सब से अधिक रक्त-निष्ठीवन दिसम्बर, जनवरी और फरवरी में होता है और उसके बाद दूसरा नम्बर क्रमश: अगस्त, सितम्बर, मई और मार्च का आता है। अन्य लोगों का भी ऐसा ही अनुभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लक्षण के आविर्भाव पर वास्तव में ऋतु का प्रभाव बहुत कम होता है। अन्य ऋतुओं की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है।

उपरोक्त बातों में से कोई भी रक्त-निष्ठीवन का प्रकट कारण हो सकती है, परन्तु अधिकांश रोगियों में कोई भी प्रकट कारण नहीं मिलता। अनेक रोगियों में रक्तपात उस समय होता है जब कि उसके होने की आशङ्का बहुत कम होती है। लगभग सभी स्वास्थ्य-शालाओं का यह अनुभव है कि उन रोगियों में भी रक्त-निष्ठीवन हो जाता है जो पूर्ण आरोग्यता की ओर अग्रसर होते रहते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि आधे से अधिक रोगियों में रक्तपात रात में रोगी के सोने की दशा में होता है। रोगी सहसा मुँह में रक्त भर जाने से जाग पड़ता है। जिन रोगियों में रक्त नाड़ी या रक्त-कोष के फट जाने से रक्तपात होता है उनमें बहुधा रक्तपात का कोई कारण नहीं पाया जाता और न किसी ज्ञात उपाय से वह रुक सकता है।

रोग-निरूपण में रक्त-निष्ठीवन का महत्व—यह बार बार कहा जाता है कि रक्त-निष्ठीवन वाले सब रोगियों को क्षय-रोगी समझना चाहिये और जब तक रक्तपात का अन्य कोई कारण ज्ञात न हो, क्षय-रोग का ही इलाज करना चाहिये। इस धारणा से कि लगभग सब रक्त-निष्ठीवन वाले क्षय-रोगी होते हैं, उन रोगियों के पहचानने में कभी कभी बड़ी भूल हो जाती है जिनमें रक्त-निष्ठीवन अन्य कारणों से होता है। प्रत्येक रक्त-निष्ठीवन वाले रोगी को क्षयी मानने के उसूल पर चलने में भूल होने की बड़ी आशङ्का रहती है। क्वेट को ३४४४ रक्त-निष्ठीवन वाले रोगियों में केवल ५० प्रतिशत में, जैक्स ब्लेक को ९०९ रोगियों में से ५४·६ प्रतिशत में और स्ट्राइकर को ९०० में से ७७·६ प्रतिशत में रक्त-निष्ठीवन का कारण क्षय-रोग मिला था।

सब से अधिक विस्मय में डालनेवाले रोगी वे होते हैं जो चिकित्सक के पास जाकर यह कहते हैं कि कुछ दिन पहले उनके कफ में रक्त गिरा था। ऐसे रोगियों में से अनेक में रक्त नाक, कंठ या मसूड़ों से आता है। परन्तु जिस समय वे चिकित्सक के पास पहुँचते हैं उस समय परीक्षा करने पर उनके उपरोक्त स्थानों में कोई विकार नहीं मिलता और वक्षस्थल की परीक्षा करने पर किसी एक फुप्फुस-शिखर पर कुछ अनिश्चित चिह्न, जो क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य रोग के भी हो सकते हैं, मिलते हैं अथवा निवृत्त क्षय के द्योतक चिह्न मिलते हैं। इसलिये इनको भूल से क्षय-रोगी समझ लिया जाता है। ऐसी भूल विशेषकर उन रोगियों में होती है जिनमें नाक से रक्त निकलकर कंठ में पहुँच जाता है और उससे खाँसी पैदा होकर रक्त-रञ्जित कफ निकलता है। कुछ रोगियों को रात में नाक से रक्तस्राव होता है जिससे वे जाग जाते हैं। जागने पर जब खाँसी आती है तो रक्त-मिश्रित थूक निकलता है। दूसरे ही दिन वे चिकित्सक के पास दौड़ते हैं, परन्तु उस समय परीक्षा द्वारा रक्त के उद्गम स्थान का कोई पता नहीं चलता। कफ में केवल रक्त की डोरियाँ आने का हाल सुनकर क्षय-रोग का निर्णय करने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये। यह ठीक है कि कफ में रक्त की डोरियाँ कभी-कभी फेफड़ों से आती हैं और वे होनेवाले विपुल रक्तस्राव की अगुआ होती हैं, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कफ में रक्त की डोरियाँ फेफड़ों से बहुत कम आती हैं। अधिकांश रोगियों में वे नाक, कंठ और विशेषकर श्वास-प्रणालियों से आती हैं। वेस्ट का कथन है कि धारीदार रक्त-निष्ठीवन क्षय-रोग की अपेक्षा कास रोग में अधिक होता है। जब कभी क्षय-रोग में भी ऐसा रक्त-निष्ठीवन होता है, तो वह श्वास-प्रणालियों से ही होता है। ज़ोर से खाँसने में श्वास-प्रणालियों की फूली हुई रक्त केशिकायें फट जाती हैं। कभी कभी श्वास प्रणालियों में क्षयी-व्रण हो जाते हैं जिनसे थोड़ा रक्त निकलने लगता है। कंठ के पुरातन प्रदाह में भी कफ में रक्त की डोरियाँ आती हैं। ऐसा प्रायः प्रातःकाल होता है। जब कंठ को साफ़ करते समय कुछ कफ निकलता है तो उसमें रक्त की डोरियाँ निकलती हैं जिनको देखकर रोगी भयभीत हो जाता है। पूरा निश्चय करने के लिये वह और भी ज़ोर से खाँसता है और इससे जो श्लेष्म निकलता है उसमें भी रक्त की धारियाँ दिखाई देती हैं। चिपके हुये कफ को निकालने के लिये गले में जो

ज़ोर दिया जाता है उससे भी कफ में रक्त की लाली आ जाती है, इसलिये कंठ की परीक्षा करने पर रक्तस्राव का कोई विशेष कारण नहीं मिलता।

अनेक रोगियों में जिनके कफ में रक्त की लाली आती है, रोग का निश्चय केवल रोगी को कई सप्ताह तक लगातार निरीक्षण में रखकर और उसके लक्षणों का सावधानी से अध्ययन करने और वक्ष की परीक्षा करने से ही हो सकता है। टेंटुआ में शिराओं के फूल जाने से रक्त आने लगता है। अन्न-प्रणाली की शिराओं के फूलने से भी रक्तस्राव हो सकता है। अन्न-प्रणाली के इन अर्शों (फूली हुई शिरायें) से कभी कभी काफी रक्तस्राव होता है। कुछ लोगों ने लिखा है कि जीभ के मूल की फूली हुई शिराओं से भी रक्तस्राव होता है।

इस प्रकार के नकली रक्त-निष्ठीवनों का अनेक चिकित्सकों ने उल्लेख किया है।

श्वास-मार्ग के उग्र रोगों में रक्त-निष्ठीवन—ऊपर यह बताया जा चुका है कि नाक, कंठ और टौन्सिल के उग्र प्रदाह में कफ में रक्त आ सकता है। वस्तुतः जब किसी रोगी के कफ में रक्त निकले और श्वास-मार्ग के ऊपरी भाग में उग्र प्रदाह के लक्षण और चिह्न मिलें तो फेफड़ों की अपेक्षा नाक या कंठ से रक्त के निकलने की अधिक सम्भावना समझनी चाहिये। एक बात यह और भी है कि क्षय-रोग कभी उग्र प्रतिश्याय, कंठ प्रदाह और टौंसिल प्रदाह के रूप में आरम्भ नहीं होता।

उग्र फुप्फुस प्रदाह में कुछ लाली लिये हुये कफ विशिष्ट लक्षण होता है; परन्तु कभी कभी शुद्ध रक्त भी देखा जाता है। श्वासनल-फुप्फुसप्रदाह (Broncho Pneumonia) में रक्त-निष्ठीवन और भी अधिकता से मिलता है। इन्फ्लुएञ्ज़ा की विगत महामारी में जिन लोगों में उपद्रव रूप फुप्फुस प्रदाह हुआ था उनमें रक्त-निष्ठीवन बहुत हुआ था। इसकी पहचान रोगी के हाल, रोग का महामारी रूप, तथा इन्फ्लुएञ्ज़ा के अन्य लक्षणों और रोग-चिह्नों से होजाती है।

पार्श्वकला के प्रदाह में रक्त-निष्ठीवन—पार्श्वकला के स्रावक प्रदाह के अनेक रोगियों में प्रारम्भ में रक्त-निष्ठीवन होता है। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें रक्त-निष्ठीवन बन्द होने के बाद वक्ष की परीक्षा करने पर पार्श्वकला में स्राव मिलता है। कुछ रोगियों में बाद को राजयक्ष्मा

हो जाता है और अन्यान्य रोगी स्राव के शोषण के बाद अनिश्चित काल तक अच्छे बने रहते हैं। रक्त-स्राव अंतर्खण्डीय पार्श्वकला प्रदाह में अधिक होता है। अंतर्खण्डीय स्राव के शोषण के बाद भी समय समय पर रक्त-निष्ठीवन हुआ करता है।

हृदय-रोग में रक्त-निष्ठीवन—हृदय के रोगों में भी रक्त-निष्ठीवन होता है। चूँकि अनेक हृदय-रोगी क्षीणकाय होते हैं और उनको खाँसी तथा कभी कभी हरारत भी होती है, इसलिये भूल से इनको क्षय रोगी समझ लिया जाता है। हृदय-रोग के रक्त-निष्ठीवन का कारण क्षय-रोग समझ लेने का बड़ा भयंकर परिणाम प्रायः देखने में आता है।

प्राइस के मतानुसार क्षय-रोग के बाद रक्त-निष्ठीवन का दूसरा सबसे बड़ा कारण हृदय के बायें कोष्ठों के बीच के द्वार की संकीर्णता (Mitral stenosis) होती है और यही बहुधा भूल का कारण होती है। कबेट को रक्त-निष्ठीवन वाले ३४४४ रोगियों में से ३४ प्रतिशत में रक्त-स्राव का कारण हृदय का उपरोक्त रोग मिला था। सब रोगियों के हृदय को परीक्षा नहीं की जाती और कभी कभी परीक्षा करने पर भी विशिष्ट 'मर्मर' शब्द का न मिलना कोई असाधारण बात नहीं होती। इसके अतिरिक्त हृदय-रोग में भी प्रायः फुप्फुस-शिखर में कुछ विकार मिलते हैं, जिनसे क्षय-रोग का भ्रम हो जाता है।

महाधमनी के रक्त-कोष (Aneurysm of aorta) में प्रायः कोष के फटने से घातक रक्तपात होकर मृत्यु होजाती है। किन्तु अनेक रोगियों में घातक रक्तपात से पूर्व कई सप्ताह या मास तक रक्तमिश्रित कफ निकलता रहता है। कुछ रोगियों में रक्तकोष का फेफड़े पर या श्वास-प्रणाली पर दबाव पड़ने से फुप्फुस-शिखर पर ऐसे रोग-चिह्न उत्पन्न हो जाते हैं जो क्षय-रोग के चिह्नों से बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं।

फेफड़ों के कैन्सर, उपदंश और श्वास-नलोत्फुलन रोग में रक्त-निष्ठीवन—श्वास-नलोत्फुलन (Bronchiectasis) रोग में रक्त-निष्ठीवन कोई असाधारण बात नहीं होती। रक्त या तो श्लेष्म-कला की फूली हुई रक्त-नाड़ियों से या श्लेष्म-कला के प्रदाह से अथवा श्वासनलों के फूलने से उत्पन्न रंध्रों (Bronchiectatic cavities) की दीवार में रक्त-कोषों के फटने से आता है। साधारणतः यह रोग वृद्धावस्था या उसके समीप की आयु

में होता है। फेफड़ों के उपदंश रोग में रक्त-निष्ठीवन विभिन्न मात्राओं में पाया जाता है।

फेफड़े के दुष्ट व्रण (Cancer) रोग में भी प्रायः रक्त-निष्ठीवन होता है जिससे कभी कभी रोग-निरूपण में भ्रम हो जाता है। इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था के लक्षण क्षय-रोग के लक्षणों से बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं। जब कभी रक्तस्राव होता है तो बड़ा दुस्साध्य होता है और बहुत दिनों तक कफ में रक्त की काली काली फुटकें निकला करती हैं। लाल वर्ण का शुद्ध रक्त बहुत कम मिलता है।

अन्न-प्रणाली से रक्तस्राव—अन्न-प्रणालियों की फूली हुई रक्त-शिराओं से जो रक्तस्राव होता है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अन्न-प्रणाली में फूली हुई शिरायें प्राय जलोदर रोग में पाई जाती हैं। अन्न-प्रणाली में कोई बतौड़ी (Tumour) बन जाने से भी रक्तपात होता है।

मासिक रक्तस्राव—क्षयी स्त्रियों में जो रक्तपात होता है वह मासिक-धर्म के समय अधिक होता है। यह देखा गया है कि ऋतुकाल में रक्तभार बढ़ जाता है और कंठ की श्लेष्म-कला में रक्तावष्टम्भ होता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस समय फेफड़ों में भी रक्त की अधिकता होती है जो फेफड़े से रक्तस्राव के होने में सहायक होती है। मैश के मतानुसार ऋतुकालिक रक्तपात कम भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता है और रोगी की दशा सुधरने तथा रोग के शान्त होने पर भी जारी रह सकता है। ऋतुकाल में क्षय रोगियों में रक्तपात फेफड़ों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी हो सकता है। विल्सन और यूमैन ने टेंटुआ और ऊर्द्ध श्वासमार्ग से ऐसे रक्तपात के होने का उल्लेख किया है। मैश ने एक स्त्री के सम्बन्ध में, जिसकी आँतों में व्रण हो गये थे, लिखा है कि ऋतुकाल में उसकी आँतों से नियमित रूप से रक्तस्राव होता था।

प्रतिनिधिरूप रक्तस्राव—(Vicarious menstruation) प्रतिनिधिरूप रक्तस्राव उसे कहते हैं जिसमें ऋतुकाल में रक्तस्राव गर्भाशय के बजाय फुफ्फुस इत्यादि अन्य इन्द्रियों से होता है। इस प्रकार का ऋतुस्राव बहुत विरल होता है और अधिकतर क्षय-रोग के कारण होता है। प्रतिनिधिरूप रक्तस्राव का मूल्य निर्द्धारित करते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि क्षय-रोग में मासिक-धर्म प्रायः बन्द हो जाता है और इस रोग में रक्त-निष्ठीवन

बहुधा होता है। इसलिये कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जब मासिक-धर्म रुका हुआ हो तो कभी कभी रक्त-निष्ठीवन होजाय।

गर्भवती क्षयी स्त्रियों में, जब मासिक धर्म बन्द होजाता है तो कभी कभी रक्त-निष्ठीवन इतना होने लगता है कि लोग उसको प्रतिनिधिरूप रक्त-स्राव समझने लगते हैं। कुछ लोग स्तन्यपान-काल में स्त्रियों में रक्त-निष्ठीवन होने का उल्लेख करते हैं। बच्चों का दूध छुड़ाने के बाद रक्त-निष्ठीवन बन्द होजाता है। ऐसे रक्त-निष्ठीवनों के कारण का अभी तक पता नहीं चला है।

स्नायु-विकारों से उत्पन्न रक्त-निष्ठीवन—हिस्टीरिया के रोगियों में, विशेषकर औरतों में कभी कभी उपक्रान्त क्षय-रोग के लक्षण मिलते हैं, जिनमें रक्त-निष्ठीवन भी एक है, परन्तु वक्षस्थल की बार बार परीक्षा करने पर भी कोई विकार नहीं मिलता। प्राचीन चिकित्सकों ने इसको हिस्टीरिया-रक्त-निष्ठीवन कहा है। ऐसे अधिकांश रोगियों में खाँसी के तीव्र वेग के कारण मसूड़ों या कंठ से रक्त आता है। जब रक्त-निष्ठीवन के साथ खाँसी, श्वास फूलना, वक्षस्थल में पीड़ा और हरारत इत्यादि लक्षण भी होते हैं, तो रोग का निश्चय करना बहुत कठिन होजाता है, परन्तु ऐसे रोगियों में फेफड़ों के किसी विकार के अभाव के साथ साथ हिस्टीरिया रोग के अन्य लक्षण भी होते हैं। दूसरी ओर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि क्षय-रोग हिस्टीरिया के रोगियों को भी हो सकता है और क्षय रोगियों में भी हिस्टीरिया के लक्षण हो सकते हैं। वास्तव में कुछ रोगी, जिनको रक्त-निष्ठीवन के दो-एक दौरे होजाते हैं, इतने डर जाते हैं, कि अपने को अभागा समझकर वहमी होजाते हैं। ये लोग अपने कफ को बराबर देखा करते हैं, कहीं उसमें रक्त तो नहीं आया है। ऐसे रोगियों का सुधार बड़ा कठिन होता है।

वातसंस्थान के कुछ रोगियों में भी रक्त-निष्ठीवन होता है।

अज्ञात रक्त-निष्ठीवन—रक्त-निष्ठीवन के कुछ ऐसे रोगी देखने में आते हैं जिनमें रोग के कोई लक्षण या चिह्न नहीं मिलते जिससे रक्तस्राव के कारण का पता चल सके। बहुधा ऐसे रोगी मिलते हैं जिनकी बड़ी सावधानी से परीक्षा करने पर और बहुत समय तक निरीक्षण में रखने पर भी रक्त-निष्ठीवन के कारण का पता नहीं चलता। उनका स्वास्थ्य भी ठीक बना रहता है।

लिबमैन और आस्टिनबर्ग का कथन है कि कुछ रक्त-निष्ठीवन पैतृक होते हैं। उन्होंने एक ऐसा रोगी देखा था जिसकी चार पीढ़ियों में समय-समय पर रक्त-निष्ठीवन होता रहा और किसी को भी क्षय-रोग नहीं हुआ।

सम्भव है कि ऐसे अज्ञात रक्त-निष्ठीवनों में से कुछ निष्फल क्षय के कारण होते हों।

रक्तस्राव के उद्गमस्थान का पता लगाना—अभी तक रक्त-स्राव के स्थान का ठीक ठीक पता लगाने का कोई विशेष महत्व नहीं समझा जाता था, क्योंकि इस ज्ञान का, कि रक्तस्राव किस फेफड़े से हुआ है, इलाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु कुछ दिनों से, जब से पता लगा है कि वक्ष में वायु भरने से विपुल रक्तपात बन्द होजाता है जो अन्य साधनों से नहीं होता, रक्तस्राव को स्थानांकित करना बड़े महत्व का प्रश्न होगया है।

उन रोगियों में जो बहुत दिनों से निरीक्षण में होते हैं, और जिनके बारे में यह ज्ञात होता है कि रोग केवल एक ही ओर है, यह प्रश्न सरल होता है; क्योंकि विपुल रक्तपात से साधारणतः फेफड़ों में रंध्र का होना विवक्षित होता है। परन्तु जब क्षय-रोग दोनों ओर होता है, तो यह बताना बड़ा कठिन होजाता है कि रक्त किस फेफड़े से आ रहा है। रक्तस्राव के बढ़ने के भय से वक्ष टकोरा नहीं जा सकता। श्रवण-परीक्षा से सम्भव है कि किसी स्थान पर कुछ कण (Rales) सुनाई दे जायँ, परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि रक्तस्राव के अधिक होने पर रक्त दूसरे फेफड़े में चला जाता है और उसके कारण वहाँ पर कण सुनाई देने लगते हैं। इसलिये कभी कभी यह निश्चय करना असम्भव होजाता है कि रक्त किस फेफड़े से आ रहा है।

स्ट्राइकर का मत है कि जब उग्र और वर्द्धमान रोग में अनायास रक्तस्राव होता है तो वह रक्तनाड़ी की दीवार के फटने से होता है और जब पुरातन रंध्रयुक्त रोग में होता है तो साधारणतः रक्त-कोष के फटने से होता है। ज्वर के साथ बार बार रक्तस्राव के होने से फुप्फुस तन्तु का प्रगतिशील विनाश सूचित होता है।

रक्त-निष्ठीवन की पहचान—आद्य रक्त-निष्ठीवन के विषय में यह पता लगाना बड़ा आवश्यक होता है कि रक्तस्राव किसी क्षयी विकार से

हुआ है अथवा उसका कोई अन्य कारण है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि रक्त-निष्ठीवन ऊर्द्ध और निम्न श्वास-मार्गों के प्रत्येक रोग (क्षय-रोग तथा अन्य रोग) में हो सकता है। कफ और कंठ की सावधानी से परीक्षा करने पर पता चल सकता है कि यह श्वास-मार्ग को ऊपरी भाग की श्लेष्मकला में रक्तावष्टम्भ या शिराओं के फूलने से हुआ है या नहीं। यदि थूका हुआ रक्तवर्ण का द्रव पदार्थ सब का सब समान रूप से लाल और जलवत् हो तो उसके मुँह से आने की अधिक सम्भावना समझनी चाहिए। यदि परीक्षा करने पर क्षय-रोग का कोई लक्षण और चिह्न न मिले और क्षय के अतिरिक्त रक्तस्राव का अन्य कोई कारण न मिले, हृदय ठीक हो और रोगी को कोई चोट न लगी हो, तो उसको क्षयरहित मानने से पूर्व निरीक्षण में रखना चाहिए। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि कफ में रक्त की डोरियाँ क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों से भी आ सकती हैं, इसलिए केवल उन्हीं से क्षय-रोग का होना नहीं समझना चाहिए।

जब रक्तस्राव अधिक होने के कारण रोगी के वक्षःस्थल की ठीक-ठीक परीक्षा नहीं हो पाती तब यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि रक्तस्राव किसी क्षयो-विकार से हुआ है या श्वास-नल के फूलने से उत्पन्न रंध्र से या फेफड़े के उपदंश से। कभी कभी यह भी निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि रक्त कफ के साथ गिरा है या रक्तवमन (Haematemesis) हुआ है अर्थात् रक्त आमाशय से आया है। रक्तवमन रक्त-निष्ठीवन के सदृश प्रतीत हो सकता है; क्योंकि श्वास के साथ वमन किया हुआ रक्त श्वास-मार्ग में पहुँच सकता है और फिर खाँसने पर कफ के साथ निकल सकता है। दूसरी ओर रक्त-निष्ठीवन में रोगी रक्त को निगल सकता है और फिर उसका वमन हो सकता है। इस वमन में निकला हुआ रक्त बहुत कुछ आमाशय के रक्त के सदृश होजाता है। कभी कभी रक्त-निष्ठीवन और रक्तवमन में पहचान करना बड़ा कठिन होता है, परन्तु दोनों रक्तपातों में साधारणतः ये भेद होते हैं। रक्त-निष्ठीवन में रक्त खाँसने पर निकलता है और यह बिलकुल लाल झागयुक्त तथा कफमिश्रित होता है। यह प्रतिक्रिया में खारा होता है और शीघ्र जमता नहीं, परन्तु अनेक रोगी रक्त को निगल जाते हैं और बाद को कै कर देते हैं, तब उसकी प्रतिक्रिया अम्ल होजाती है। श्रवण करने पर वक्ष में कुछ कण सुनाई दे सकते हैं। रोगी के हाल की सावधानी

से पूछताछ करने पर ज्ञात होता है कि उसको बहुत दिनों से खाँसी और कुछ कफ आता था। इसके विपरीत रक्त-वमन में रोगी जो हाल बताता है वह आमाशय के विकार का सूचक होता है और परीक्षा करने पर उदर में रोग-चिह्न भी मिल सकते हैं। रक्त-निष्ठीवन में रक्तस्राव के वेग के रुकने के पश्चात् कुछ दिनों तक रोगी को खाँसी आती रहती है और कफ में जमा हुआ रक्त निकला करता है। रक्तवमन में ऐसा कभी नहीं होता। चाहे कहीं से हो, जब रक्तपात अधिक होता है और पहले से कोई रोग-लक्षण नहीं होते तो उपरोक्त बातों से बहुत कम सहायता मिलती है, क्योंकि रक्त बिलकुल लाल, खारा होता है और उसमें न कफ होता है और न आमाशय के रस इत्यादि पदार्थ। परन्तु ऐसे विपुल रक्तपात साधारणतः सम्वृद्ध क्षय रोगियोंमें ही मिलते हैं जिनमें क्षय-रोग के चिह्न सदा मिलते हैं।

रक्त-निष्ठीवन का निश्चय होने के बाद यदि पहले से रोग का निर्णय न हो चुका हो, तो यह पता लगाना कभी कभी बहुत कठिन होजाता है कि रक्त फेफड़ों के क्षयी-विकारों से आया है या किसी श्वासप्रणाली के फूलने से उत्पन्न रंध्र (Bronchiectatic Cavity) से। इसमें रोगी के ताप और नाड़ी से सहायता मिलती है। जब यह दोनों प्रकृतिस्थ दशा में होती हैं और रोगी की व्यापक दशा अच्छी होती है तो रक्त का कारण फूले श्वासनल के रंध्र के होने की अधिक सम्भावना होती है, विशेषकर ४५ वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों में। जब वक्षःस्थल की परीक्षा से यह ज्ञात हो कि फेफड़ों के निम्न खंड में रोग है और उनके शिखर विकार-शून्य हैं, तो समझना चाहिए कि क्षय के अतिरिक्त कोई अन्य रोग है। साधारणतः सावधानी से पूछताछ करने पर रोगी के पहले के हाल से रोग का ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। परन्तु जिनमें इसप्रकार निर्णय न होसके, उनके सम्बन्ध में तब तक कोई राय नहीं देनी चाहिए जब तक रक्त-स्राव बन्द न होजाय और रोगी की ठीक ठीक परीक्षा न की जा सके।

क्षय-रोग के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य दशाओं में फेफड़ों से रक्त-स्राव हो सकता है:—(१) हृदय-रोग, (२) महाधमनी के रक्त-कोष, (३) रक्त में जमने की शक्ति का ह्रास (Haemophilia), (४) श्वासनल का फूलना, (५) फेफड़े में उपदंश, विद्रधि और गलाव का होना, (६) कुछ उग्र विशिष्ट ज्वर, (७) फुप्फुस प्रदाह, (८) इन्फ्लुएञ्ज़ा, (९) मध्य वक्ष में व्रण, (१०) श्वास-प्रणा-

लियों में किसी बाहरी पदार्थ का अटक जाना, (११) वक्षस्थल में चोट लगना, (१२) कुकरखाँसी के दौरे और (१३) फेफड़ों में दुष्ट व्रण का होना इत्यादि।

साध्यासाध्य विचार में रक्त-निष्ठीवन का महत्व—लगभग सब रोगी रक्त-निष्ठीवन को अत्यधिक महत्व देते हैं और जितना कफ में रक्त देखकर घबराते हैं, उतना क्षय रोग के अन्य किसी लक्षण से नहीं घबराते। यही कारण है कि कुछ विशेषज्ञों ने आद्य रक्त-निष्ठीवन को शुभ लक्षण बतलाया है, क्योंकि इससे रोगी का ध्यान अपने रोग की ओर आकृष्ट होजाता है; अन्यथा सम्भवतः वह उसकी उपेक्षा करता रहे। अनेक रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें रक्त-निष्ठीवन वस्तुतः जीवनदान का काम करता है। इन रोगियों में महीनों से कफ, खाँसी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु तुच्छ समझकर वे उनकी परवाह नहीं करते। अन्त में जब रक्त-निष्ठीवन का दौरा होता है तो उनकी आँखें खुलती हैं और ठीक ठीक इलाज शुरू करने से उनकी जान बच जाती है।

रक्तपात अधिक होने से तुरन्त या कुछ दिन में रोगी की मृत्यु हो सकती है और यदि रोगी बच जाय तो उसके रोग की गति पर प्रभाव पड़ सकता है।

आद्य रक्त-निष्ठीवन की साध्यासाध्यता—यह पहले ही बताया जा चुका है कि बहुत से रोगियों में रक्त-निष्ठीवन क्षयी-विकारों से होने पर भी बाद को क्षय-रोग के लक्षण व्यक्त नहीं होते। हरएक चिकित्सक ने ऐसे रोगी देखे होंगे जिनमें कई वर्ष पूर्व रक्त-निष्ठीवन हुआ था, परन्तु उसके बाद फिर कभी फेफड़ों का रोग नहीं हुआ। डा० एफ० टी० लार्ड का कथन है कि रक्त-निष्ठीवन के बाद प्रकट क्षय-रोग का होना आवश्यक नहीं है। सन १७६८ ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् गेटे को अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु में रक्त-निष्ठीवन का बहुत बड़ा दौरा हुआ था। कुछ दिनों तक उनकी दशा डामाडोल रही और महीनों तक यह वहम रहा कि उनको क्षय-रोग हो गया है, इसलिये उनकी आयु कम होगी। ८२ वर्ष की आयु तक कुछ भी न हुआ परन्तु इसके बाद फिर रक्त-निष्ठीवन का दौरा होकर ८३ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ। उनकी दीर्घ आयु और उद्योगी जीवन से व्याकुल और घबराये हुये रोगियों को प्रोत्साहित होना चाहिये। आद्य रक्त-निष्ठीवन बहुत कम घातक होता है।

रक्त-निष्ठीवन से कितनी मृत्यु होती हैं—अत्यधिक रक्त-निष्ठीवन होने पर रक्त की कमी से रोगी की मृत्यु हो सकती है और श्वास-नलिकाओं में रक्त भर जाने से रोगी का श्वासावरोध होने से भी मृत्यु हो सकती है। रक्त-निष्ठीवन से मृत्यु जरूर होती है, परन्तु बहुत विरल होती है। लुई को ३०० क्षयरोगियों में केवल ३ में, विलियम्स को १९८ में से ४ में, विल्सन कोक्स को १०१ में से ४ में रक्त-निष्ठीवन के कारण मृत्यु मिली थीं। वुल्फ को १२०० रोगियों में से तीन की मृत्यु रक्त-निष्ठीवन से मिली थी। क्षय-रोग से जितनी मृत्यु होती हैं, उनमें लगभग सहस्र पीछे एक सीधी रक्तपात से होती है। जिन रोगियों में रक्त-निष्ठीवन होता है, उनमें कठिनता से दो प्रतिशत रक्तपात से मरते होंगे।

क्षय-रोग की गति पर रक्तपात का प्रभाव—क्षय-रोग की गति पर रक्त-निष्ठीवन के प्रभाव को समझने में साधारण रोगी तो ग़लती करते ही हैं, प्रायः चिकित्सक भी इसको उचित से अधिक महत्व देते हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि रक्तपात से तुरन्त रोगी की मृत्यु न हो—और ऐसा होता भी बहुत कम है,—तो रोगी और रोग की गति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। कुछ लोगों का कथन है कि कभी कभी इसका लाभदायक प्रभाव पड़ता है। लिबर्ट, फ़्लिट और फोक्स तथा अन्य लोगों का कहना है कि रक्तस्राव से रोगी को आराम मिलता है और खाँसी तथा कफ, जो पहले आते थे, कम होजाते हैं। ऐसे अनेक रोगी देखने में आते हैं जिनमें रक्त-निष्ठीवन के बाद रोग की दशा सुधरने लगती है और खाँसी, अरुचि तथा वक्षस्थल में शूल इत्यादि लक्षणों में कमी हो जाती है। यह सर्वजन विदित हैकि थोड़े से रक्त के निकलने से प्रायः लाभ होता है, क्योंकि इससे रक्तोत्पादक इन्द्रियाँ उत्तेजित होकर अधिक रक्तकण बनाने लगती हैं।

लोगों की यह आशङ्का, कि रक्त के सब श्वास-प्रणालियों में फैल जाने से फेफड़ों में नये-नये स्थानों में रोग फैलने की सम्भावना होती है, निर्मूल है। यह निश्चय है कि श्वास-प्रणालियों में रक्तपात के बाद रक्त भर जाता है, परन्तु यह साधारणतः क्षणिक होता है, क्योंकि कुछ रक्त कफ में बाहर निकल जाता है और कुछ का शोषण होजाता है। फेफड़ों में विकार यदि पहले से ही प्रगतिशील न हों तो वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं, उनमें कोई वृद्धि नहीं होती। कुछ रोगियों में रक्तस्राव के

बाद निश्चेष्ट क्षयी-विकार प्रगतिशील होजाता है। इसका कारण प्रतिरोध-शक्ति की कमी होती है। ऐसे रोगी जब तब देखने में आते हैं, परन्तु इनकी संख्या उन रोगियों की अपेक्षा कहीं कम होती है, जिनमें रक्तस्राव के बाद ऐसा नहीं होता।

रक्त-निष्ठीवन के बाद फलस्वरूप फुप्फुस प्रदाह होने का भय भी निर्मूल होता है। ज्वररहित रोगियों में रक्तस्राव के बाद कुछ दिनों तक ज्वर होजाता है जो आठ दस दिन में फिर अच्छा होजाता है। ज्वरवाले रोगियों में कभी कभी रक्तपात के बाद ज्वर छूट जाता है। दूसरी ओर अनेक ज्वरवाले रोगियों में रक्तस्राव के बाद ज्वर जारी रहता है और अन्त में व्यापक क्षय से उनकी मृत्यु होजाती है।

१६०० वर्ष से भी अधिक हुए जब गैलिन ने कहा था कि क्षयी रक्त-निष्ठीवन की साध्यासाध्यता ज्वर की मात्रा के ऊपर निर्भर होती है। ज्वर-रहित रोगी साध्य होते हैं और ज्वरवाले असाध्य। आजकल के अनुसंधान से भी इस प्राचीन चिकित्सक के मत का समर्थन होता है।

रक्त-निष्ठीवन में रोगी की तात्कालिक और विशेषकर अंतिम दशा रक्तस्राव की मात्रा और उसके बार बार होने पर उतनी निर्भर नहीं होती जितनी कि क्षयी-विकारों के विस्तार और विद्यमान रोग-लक्षणों पर। बाद को यह रोग की गति औरउपद्रवों के होने या न होने पर निर्भर होती है। रक्त-निष्ठीवन के समय यदि रोगी की नाड़ी अच्छी हो और उसकी गति प्रति मिनट एक सौ से कम हो और श्वासावरोध न हो, तो रोगी की तात्कालिक दशा अच्छी समझनी चाहिये। यदि बाद को रक्तस्राव बार बार होता रहे, तो भी रोगी की दशा जब तक नाड़ी ठीक हो और ज्वर न हो, अच्छी होती है। यदि केवल थोड़े दिन ही रहे तो ज्वर कोई विशेष बुरा लक्षण नहीं होता, क्योंकि यह श्वास-प्रणालियों में रक्त के शोषण के कारण होता है। परन्तु जब ज्वर अधिक होता है और कई दिनों तक लगातार चढ़ा रहता है तो यह अशुभ लक्षण होता है।

यदि नाड़ी निर्बल और शीघ्रगामी होती जाय तो यह निश्चय समझना चाहिये कि स्राव जारी है, चाहे मुँह से रक्त बाहर भले ही न निकले, क्योंकि क्षय-रोग में कभी-कभी भीतरी रक्तपात होता है। और रक्त बड़े रंध्र में रुका रहता है जिसको निर्बल रोगी बाहर नहीं निकाल सकते।

जिन रोगियों में रक्तपात से पूर्व ज्वर, शीघ्रगामीनाड़ी, जीर्णता इत्यादि प्रबल रोग के लक्षण होते हैं, उनकी साध्यासाध्यता में रक्तपात से

कोई अन्तर नहीं पड़ता। अधिक रक्तपात से शरीर का ताप साधारणतः कम होजाता है, परन्तु थोड़ी देर में फिर बढ़कर रोग की गति जारी रहती है। परन्तु यदि शारीरिक ताप प्रकृतिस्थ हो अथवा थोड़ा सा बढ़ा हुआ हो, नाड़ी अच्छी हो और उसकी गति १०० से कम हो, रोगी की भूख ठीक हो तो तात्कालिक तथा अन्तिम परिणाम अच्छा समझना चाहिये।

अधिकांश रोगियों में साधारण रक्त-निष्ठीवन के बाद वक्षःस्थल की परीक्षा करने पर वही रोग-चिह्न मिलते हैं, जो पहले होते हैं। वक्षःस्थल का श्रवण करने पर साधारणतः कुछ सिक्त कण सुनाई देते हैं, जो पहले सुनने में नहीं आते। ये कण कुछ सप्ताह तक रहते हैं। कुछ रोगियों में फेफड़ों के ऊर्द्ध खंड में मंदता का क्षेत्र कुछ बढ़ जाता है। रक्त के शोषित होने पर यह मंदता विलीन होजाती है।

चौदहवाँ परिच्छेद

पाचक संस्थान, त्वचा तथा संधियों सम्बन्धी लक्षण
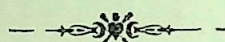
पाचन संस्थान के लक्षण

किस संख्या में पाये जाते हैं—कुछ लेखकों का कहना है कि क्षय-रोग अधिकतर उन लोगों में होता है जो स्वभाव से अल्पभोजी होते हैं। अन्यान्य लेखकों का मत है कि जिन लोगों में पाचन-विकार होते हैं उनमें क्षय-रोग अधिक होता है। ग्रोचर का कहना है कि सब क्षय रोगियों को रोग से पहले रोग होने के समय या आगे चलकर कभी न कभी मन्दाग्नि अवश्य होजाती है। प्रत्यक्ष व्यवहार में ऐसे बहुत से रोगी देखने में आते हैं, जिनके वास्तविक रोग का पता लगने से पूर्व दीर्घकाल तक मन्दाग्नि का इलाज होता रहता है। जिस रोग की उत्पत्ति, प्रगति और परिणाम पौष्टिक भोजन पर ही अवलम्बित हों उसकी पहचान और साध्यासाध्यविचार में मन्दाग्नि का कितना महत्व है, यह स्वयं स्पष्ट है।

लगभग सौ वर्ष हुये जब डा० विल्सन फिलिप ने इस बात की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था कि बहुत से क्षय रोगियों में रोग होने से कुछ समय पूर्व से मन्दाग्नि होती है। अन्य लोगों का भी मत है कि क्षय-रोग के व्यक्त होने से पूर्व प्रायः मन्दाग्नि होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विल्सन के जमाने में आजकल की भाँति उपक्रान्त क्षय का ज्ञान नहीं था और यही कारण है कि उस समय यह विचार फैला हुआ था कि क्षय-रोग होने के पहले बहुधा मन्दाग्नि होती है।

आधुनिक खोज से इस बात का समर्थन नहीं होता कि पाचन-विकार स्वयं क्षय-रोग के विकास में प्रवणशील कारण होते हैं, यद्यपि

फैन्विक का यह दृढ़ विश्वास है कि एक विशेष प्रकार की मन्दाग्नि के बाद क्षय-रोग बहुत होता है।

मन्दाग्नि क्षय-रोग का प्रायः एक प्रारम्भिक लक्षण होती है। हचिंसन को अपने रोगियों में से ९२ प्रतिशत में मन्दाग्नि मिली थी, जिनमें से ५५ प्रतिशत में यह ख़ूब बढ़ी हुई थी। लैविसन को ७४·६ प्रतिशत में और मोलर तथा फंक को १००० रोगियों में से ६४·६ प्रतिशत में मन्दाग्नि मिली थी। अन्य लोगों को भी लगभग इसी अनुपात में मिली है। फैन्विक का कथन है कि पाचन-विकार लगभग ७० प्रतिशत रोगियों में रोग के प्रारम्भ में पाये जाते हैं। किसी रोगी में मन्दाग्नि का रोग के प्रारम्भ में होना बहुत कुछ रोगी के लिंग-भेद, रोग के रूप-भेद तथा पाचक इन्द्रियों की पूर्व दशा पर निर्भर होता है। मन्दाग्नि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक मिलती है और साधारणतः क्षय-रोग के उस रूप-भेद में अधिक मिलती है, जिसका प्रारम्भ अज्ञातरूप से होता है और प्रगति बड़ी मन्द होती है।

आधुनिक जाँच से उपरोक्त चिकित्सकों की बातों का अंशतः समर्थन होता है। कुछ लेखक अरुचि को ज्वर, खाँसी, रात्रि-स्वेद इत्यादि के समान प्रारम्भिक क्षय का स्थायी लक्षण मानते हैं। ३००० रोगियों की जाँच करने पर ५५·३ प्रतिशत में आमाशय सम्बन्धी विकार मिले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पाचन-विकारों का कारण क्षय-रोग में आमाशय के कोई विशिष्ट विकार नहीं होते। ऐसे विकार किसी भी पुरातन क्षीणताकारक रोग में हो सकते हैं।

लक्षण—क्षय-रोग की अरुचि की एक विशिष्टता यह होती है कि अन्य रोगों की भाँति यह ज्वर पर निर्भर नहीं होती। बहुत से रोगियों में, जिनमें केवल थोड़ी-सी हरारत होती है, भोजन के प्रति लगभग पूर्ण अरुचि होती है। दूसरी ओर अन्य रोगियों में, जिनमें ज्वर होता है, भूख बहुत अच्छी बनी रहती है। एक चिकित्सक का कथन है कि जिन रोगियों में ज्वर होते हुए भी भूख ख़ूब लगे और भोजन भली प्रकार पच जाय, उन सब को क्षय रोगी समझना चाहिये। उग्र फुप्फुस प्रदाहवत् क्षय-रोग में, जिसकी साधारण फुप्फुस प्रदाह से पहचान करना बड़ा कठिन होता है, यह लक्षण बहुत विश्वस्त होता है। फुप्फुस प्रदाह में सदैव पूर्ण अरुचि होती है। उग्र क्षय-रोग में थोड़ी बहुत भूख

बनी रहती है और १०३-१०४ डिगरी ज्वर रहने पर भी रोगी को भोजन की इच्छा बनी रहती है।

प्रारम्भिक क्षय-रोग में भोजनेच्छा प्रायः बहुत चपल होती है, एक दिन एक वस्तु अच्छी लगती है तो वही वस्तु दूसरे दिन बुरी लगने लगती है। कुछ रोगियों में विशेषकर स्त्रियों में ऊटपटाँग चीज़े खाने की इच्छा का मिलना कोई असाधारण बात नहीं होती। बहुत-से रोगियों को कुछ भोजन अच्छे नहीं लगते। किसी को मांस अच्छा नहीं लगता तो किसी को दूध अच्छा नहीं लगता और किसी को कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि दूध और अंडों के प्रति घृणा रोग के कारण नहीं, बल्कि जैसा कि साधारणतः होता है, इन वस्तुओं को भरमार करने से होती है। दूध और अंडो के अत्यधिक सेवन करने की सलाह से और उनकी अति करने से भूख बिलकुल मारी जाती है। प्रति दिन दो या ढाई सेर दूध पीने से और आधे या एक दर्जन अंडे खाने से, जैसा कि क्षय-रोगी बहुधा करते हैं, इन वस्तुओं के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है।

चिकनी चीज़ों के प्रति अरुचि—क्षय रोगियों में चिकनी (वसामय) वस्तुओं के खाने की अरुचि बहुधा देखी जाती है। इस विषय में पता लगाने पर डा० हचिंसन को अपने क्षय रोगियों में से ७१ प्रतिशत में बसामय पदार्थों के प्रति अरुचि मिली थी। ३३ प्रतिशत रोगी थोड़ी मात्रा में इन चीज़ों को खा सकते थे और केवल ५ प्रतिशत रोगी ऐसे थे जिनको बसामय पदार्थ पसन्द थे। डा० फैनविक को ६४ प्रतिशत रोगियों में बसामय पदार्थों के प्रति अरुचि मिली थी, जिनमें बहुत-से रोगियों में क्षय-रोग आरम्भ होने से महीनों पहले से इसप्रकार की अरुचि प्रगट होगई थी। उनको पता लगा कि जिन परिवारों में क्षय-रोग की प्रवणशीलता अधिक होती है उनमें अनेक व्यक्तियों में बसा के प्रति अरुचि पाई जाती है और थोड़ा-सा बसामय पदार्थ के भोजन से भी पाचन-विकार हो जाता है। कुछ रोगी ऐसे भी देखने में आते हैं जिनको कर्बोज (Carbohydrates) विशेषकर मीठे पदार्थ अच्छे नहीं लगते। मिठाई के खाने से उनमें कुपच हो जाता है।

बहुत से रोगियों में फेफड़े की दशा सुधरने पर भूख बढ़ने लगती है, परन्तु कुछ ऐसे भी देखने में आते हैं जिनमें रोग के धीरे-धीरे बढ़ने पर भी

भूख बढ़ने लगती है जिससे यह प्रतीत होता है कि शरीर में क्षयी विषों के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न होजाती है।

क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में अधिकांश रोगियों की पाचनशक्ति अच्छी होती है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय-रोग में पाचन-शक्ति फेफड़ों में रोग होने से पूर्व की पाचन-संस्थान की दशा पर साधारणतः निर्भर होती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दूध और अंडों के अत्यधिक सेवन से अनेक रोगियों में कुपच के लक्षण उत्पन्न होजाते हैं। इस विचार की इस बात से भी पुष्टि होती है कि भोजन में यथोचित संशोधन करने से ये लक्षण मिट जाते हैं। सम्वृद्ध रोगियों और शराबियों को छोड़कर अन्य रोगियों में, यदि इस अवस्था में वमन होता है, तो वह खाँसी के कारण होता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अनेक रोगियों में हृदय में जलन, भोजन के पश्चात् पेट में पीड़ा, उबकाई, डकार, मुँह में पानी भर आना, इत्यादि लक्षण होते हैं, फिर भी आमाशय की जाँच करने पर उसमें कोई विकार नहीं मिलते।

अरुचि के कारण—ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय-रोग में अरुचि विष-व्यापन से उत्पन्न होती है। क्षय-रोग के प्रारम्भ में जाँच करने से आमाशय की रचना तथा कार्य में कोई स्थिर परिवर्तन नहीं मिलते हैं। कुछ रोगियों में उज्जहरिक (Acid hydrochloric) कम और कुछ में अधिक मिलती है और बहुतसों में ठीक मात्रा में मिलती है।

कुछ लोगों का मत है कि प्रारम्भिक क्षय में पाचनसम्बन्धी जो विकार मिलते हैं, उनका कारण व्यापक रक्ताभाव होता है। रक्त की कमी से पाचक रस कम बनता है, अनैच्छिक मांसपेशियाँ दुर्बल होजाती हैं और आमाशय की वात-नाड़ी के सिरे कुपित होजाते हैं।

सम्वृद्ध क्षय में पाचनसम्बन्धी लक्षण—क्षय-रोग के प्रारम्भ के अरुचि इत्यादि पाचन-विकार रोगी की दशा सुधरने और रोग के घटने पर शान्त होजाते हैं और रोगी अच्छा होजाता है; परन्तु उन रोगियों में, जिनमें रोग प्रगतिशील होता है और विशेषकर उनमें, जिनके फेफड़ों में रंध्र बन जाते हैं, मन्दाग्नि के लक्षण बने रहते हैं। जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि लगभग दो तिहाई रोगियों में आमाशय के फूल जाने के चिह्न मिलते हैं। आमाशय के फूलने की मात्रा का फेफड़े के विकार के विस्तार और पुरातनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह ठीक है कि आमाशय का फूलना

क्षय-रोग से पहले का भी हो सकता है और यह पहले बताया भी जा चुका है कि निर्बल शरीर-रचनावाले व्यक्तियों में अन्य लोगों की अपेक्षा क्षय-रोग अधिक होता है। परन्तु क्षयी विषों के व्याप्त होने से भी पेट फूल सकता है; क्योंकि इन विषों से मांसपेशियाँ निर्बल होजाती हैं।

आमाशय का पुरातन प्रदाह प्रायः मिलता है, परन्तु उसमें क्षयी व्रण बहुत कम पाये जाते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि आमाशय में लसिका-तन्तु बहुत कम होता है और उसके पाचकरस क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि के लिए अहितकर होते हैं। ब्रौम्पटन अस्पताल के २००६ रोगियों के मृत-शरीरों की परीक्षा करने पर केवल दो में क्षयी-व्रण मिले थे।

अधिकांश सम्वृद्ध क्षय रोगियों में भूख कम होजाती है और जो रोगी कुछ खाने की चेष्टा करते हैं, उनको कुछ चीजें अच्छी लगती हैं और कुछ बुरी। क्षय रोगियों को खिलाने में कठिनाई का यह भी एक कारण है। कुछ रोगी ऐसे भी देखने में आते हैं जिनकी भूख अन्त तक बहुत अच्छी बनी रहती है। भोजन के बाद उदर में पीड़ा, उबकाई, डकार इत्यादि कष्ट होते हैं और कभी कभी वमन भी होजाता है। सम्वृद्ध रोगियों में कभी कभी वमनकारक खाँसी मिलती है, परन्तु साधारणतः इस अवस्था में वमन खाँसी के कारण नहीं होता, आमाशय में विकार होने से होता है। इसप्रकार के वमन से पूर्व साधारणतः उबकाई आती है और खाँसी नहीं होती, जैसा कि वमनकारक खाँसी में होता है। वमन के बाद उबकाई घंटों तक जारी रहती है। कुछ रोगियों में वमन के कारण भोजन रुकता ही नहीं। ऐसे रोगियों का भविष्य बड़ा बुरा होता है।

विषम तापवाले रोगियों में आमाशय का प्रदाह प्रायः बहुत कष्टप्रद होता है और रात्रि-स्वेद, खाँसी, अतिसार इत्यादि के साथ वमन क्षय-रोग का एक अन्तिम लक्षण होता है। अनेक रोगियों में फेफड़े सम्बन्धी लक्षण इतने प्रधान होते हैं कि उनसे पाचक लक्षण भी छिप जाते हैं, परन्तु प्रायः पाचक लक्षण भी इतने प्रमुख होते हैं कि उनकी देखभाल करना और उन पर ध्यान देना आवश्यक होता है। यकृति के सिक्थात्मक अपकर्ष के कारण पाचन-विकार और भी बढ़ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्वृद्ध क्षय-रोग में साधारणतः बदहज़मी का सम्बन्ध रंध्रनिर्माण से होता है और उसका मुख्य कारण शरीर में विषों का फैलना होता है। कफ के निगलने से भी आमाशय

में विकार होजाता है। कफ से केवल अन्न-प्रणाली की श्लेष्मकला ही प्रकुप्त नहीं होती, बल्कि कफ के शोषण से विष-व्यापन भी होता है।

अँतड़ियों के लक्षण—क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में अधिकांश रोगियों में अँतड़ियों में कोई विकार नहीं होता। कुछ रोगियों में कब्ज़ होता है, परन्तु इसमें सन्देह है कि वह जितना आधुनिक जीवन और भोजन के कारण अन्य लोगों में पाया जाता है, उससे अधिक क्षय रोगियों में पाया जाता है। कुछ रोगियों में खाँसी के लिये जो शमनकारी औषधियाँ दी जाती हैं, उनसे भी कब्ज़ होजाता है।

कभी कभी क्षय-रोग के आरम्भ में अतिसार भी होता है। यह प्रधानतः जीवन की दोनों सीमाओं पर, दस वर्ष से कम आयुवाले बालकों में और वृद्धों में पाया जाता है। बालकों में कभी कभी क्षय-रोग का केवल यही एक लक्षण होता है। उनके वक्षस्थल की परीक्षा करने पर कोई निश्चयात्मक चिह्न नहीं मिलते, न श्वास-प्रणालियों की ग्रन्थिवृद्धि के ही चिह्न मिलते हैं। वृद्ध रोगियों में लगातार पुरातन अतिसार मिलने पर वक्षःस्थल की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिये। जाँच करने पर फेफड़ों में पुराने क्षयो-विकार मिल जाते हैं और कफ की जाँच करने पर उसमें क्षय-कीटाणु भी मिल सकते हैं।

कुछ रोगियों में रोग की अवधिभर आँतों की क्रिया ठीक ठीक बनी रहती है परन्तु ऐसा कम होता है। अधिकांश रोगियों में रोग के बढ़ने पर अतिसार होजाता है। अनेक रोगियों में इसका कारण अँतड़ियों में क्षयी व्रण होते हैं। परन्तु अन्यान्य रोगियों में इसका कारण कुपथ्य से उत्पन्न अँतड़ियों का प्रदाह होता है। अनेक रोगियों में दूध, अंडा तथा वसामय पदार्थों के अत्यधिक सेवन से अतिसार होजाता है जो इन पदार्थों के कम कर देने से अच्छा होजाता है। जिन क्षय रोगियों में अँतड़ियों का विकार पहले से होता है, उनमें अतिसार अधिक होता है। रोग की साध्यासाध्यता अतिसार के कारण पर निर्भर होती है। जब आँतों में सिक्थात्मक अपकर्ष या क्षयी व्रण होने के कारण अतिसार होता है तो वह बड़ा भयंकर होता है।

कृशता—काय-क्षीणता क्षय-रोग का एक प्रधान लक्षण होती है। क्षय-रोग में सब धातु क्षीण होजाती हैं इसीलिये इसका नाम क्षय-रोग पड़ा

है। क्षयी विषों के व्याप्त होने से शरीर का क्षीण होना इस बात से सिद्ध होता है कि पशुओं में भी प्रयोगोत्पन्न रोग में शरीर कृश होजाता है।

उग्र धावमान तथा उग्र व्यापक क्षय-रोग में काय-क्षीणता क्रमशः बढ़ती जाती है और इतनी अधिक होजाती है जितनी फुफ्फुस-प्रदाह, मोतीझरा इत्यादि अन्य किसी रोग में नहीं होती। इन रोगों से उग्र क्षय की पहचान करने में यह एक महत्त्वपूर्ण बात होती है। बच्चों में यदि खसरा या कुकरखाँसी के बाद शरीर क्षीण होता जाय और उसके साथ श्वास-कष्ट, शीघ्रगामी नाड़ी इत्यादि लक्षण व्यक्त हों, तो उग्र क्षय का सन्देह करना चाहिये।

क्षय-रोग में लगभग सब अवस्थाओं में कुछ न कुछ पाचन-विकार होते हैं। इन विकारों से शरीर की क्षीणता उत्पन्न होती है और बढ़ जाती है। परन्तु जिन लोगों में पाचन-शक्ति ठीक बनी रहती है, उनमें भी काय-क्षीणता होती है।

कायक्षीणता की मात्रा—केवल त्वचा के नीचे का बसामय तन्तु ही क्षीण नहीं होता, बल्कि मांसपेशियाँ भी बड़ी शीघ्रता से क्षीण होजाती हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सबसे पहले उरच्छदा, अंसच्छदा अन्तर्पार्श्विक इत्यादि वक्षःस्थल की मांसपेशियाँ क्षीण होती हैं। अनेक रोगियों में वक्ष की क्षीण मांसपेशियों और हाथ पैरों की सुदृढ़ मांसपेशियों का अन्तर स्पष्टरूप से दिखाई पड़ता है। वक्ष की रोग की ओर की मांस-पेशियाँ तथा बसामय तन्तु दूसरी ओर की अपेक्षा शीघ्र और अधिक क्षीण होजाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अक्षकास्थि और अंसप्राचीरक के ऊपर के गड्ढे रोग की ओर अधिक गहरे होजाते हैं। रोग की पहचान में मांसपेशियों की क्षीणता की इस विशिष्टता की उपयोगिता हाल में ही ज्ञात हुई है। रोग के प्रारम्भ में कुछ रोगियों में चेहरा भरा बना रहता है, जिससे धड़ बहुत कुछ क्षीण होने पर भी रोगी की शारीरिक दशा के सम्बन्ध में भ्रम होजाता है।

काय-क्षीणता का परिणाम—रोग के प्रारम्भ में रोगी में निर्बलता, थकावट, शक्ति का ह्रास इत्यादि जो लक्षण होते हैं, उनका कारण मांसपेशियों की क्षीणता होती है। रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्कृष्ट चिह्न मांसपेशियों की शक्ति का लौटना होता है। काय-क्षीणता और रोग की गति में प्रत्यक्ष

सम्बन्ध होता है। फेफड़े में रोग की प्रत्येक वृद्धि और प्रत्येक रक्त-स्राव के साथ रोगी का वज़न कम होजाता है, रोगी की दशा सुधरने पर वज़न बढ़ने लगता है और शान्त रोग में वज़न स्थिर रहता है। यह कहा जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा, रोगी के वज़न का लेखा क्षय-रोग के विकास का अच्छा द्योतक होता है और यदि शारीरिक ताप के साथ साथ उस पर विचार किया जाय तो रोगी की दशा का साध्यासाध्यता की दृष्टि से भली प्रकार पता लगाया जा सकता है।

परन्तु इसमें कुछ अपवाद होते हैं। जिन रोगियों में रोग की प्रगति रुक जाती है अर्थात् जिनमें रोग शान्त होकर सुलगता रहता है, उनका अनिश्चित काल तक वज़न कम रहता है। वे अच्छे बने रहते हैं और काम-काज करने के योग्य बने रहते हैं।

जब रोगियों का वज़न लगातार कम होता जाय तो उनको बतलाना उचित नहीं होता, क्योंकि इससे निरुत्साहित होकर उनकी दशा और भी बिगड़ने लगती है। इसके विपरीत यह प्रायः देखा जाता है कि चिकित्सक या स्वास्थ्यशाला के परिवर्तन से रोगी का वज़न बढ़ने लगता है और उनको यह झूठी धारणा होजाती है कि हम अच्छे हो रहे हैं। परन्तु नये वातावरण की नवीनता का प्रभाव दूर होते ही लाभ होना रुक जाता है और कभी कभी वज़न फिर घटने लगता है; यहाँ तक कि अन्त में भर्ती होने के समय की तोल से भी कम होजाता है। वज़न की वृद्धि शुभ चिह्न तभी समझी जा सकती है जब वह लगातार कई महीनों तक होती रहे।

कुछ क्षय रोगियों में काय-क्षीणता शीघ्र और अत्यधिक होती है। कुछ महीनों में रोगी का शरीर केवल अस्थिपञ्जर शेष रह जाता है। इन रोगियों में रोग उग्र और वर्द्धमान होता है। कभी कभी कुछ रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें रोग पुरातन होता है और वर्षों तक रहता है, फिर भी कृशता बहुत होती है। पसलियाँ चमकने लगती हैं और उरवीक्षक यंत्र ठीक ठीक नहीं लगाया जा सकता। इसप्रकार का क्षीणताकारक रोग बहुधा वृद्धों में पाया जाता है और चूँकि इन लोगों में ज्वर और खाँसी बहुत कम होती है, इसलिए इनको कैन्सर-रोगी समझ लिया जाता है।

काय-क्षीणता का साध्यासाध्य विचार में महत्त्व—स्वास्थ्य-शालाएँ साधारणतः अपनी उपयोगिता का विज्ञापन प्रकाशित करती हैं और

यह दिखलाती हैं कि उनमें इतने दिनों तक रहने पर रोगियों का औसत वज़न इतना पौंड बढ़ा है। रोगी भी साधारणतः अपनी उन्नति का अनुमान तोल ही से करते हैं। अधिकांश रोगियों में यह ठीक होता है। जो रोगी उन्नति करते जाते हैं, उनका वज़न बढ़ता है। वज़न का लगातार घटना अरिष्ट का चिह्न होता है। परन्तु इसमें कुछ अपवाद होते हैं। किसी संस्था में रहकर या घर पर बहुत दिनों तक आराम करने से तथा पौष्टिक भोजन खाने से रोगियों का जो वज़न बढ़ता है वह अच्छा तो अवश्य होता है, परन्तु रोगी को रोग-निवृत्त समझने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ से निकलने पर और पुनः अपना व्यवसाय आरम्भ करने पर वज़न की बढ़ती स्थिर रहे। इस सम्बन्ध में पेटर्सन की क्रमिक श्रम-चिकित्सा की पद्धति संस्थाओं के अन्य इलाजों से अच्छी होती है। क्रमिक श्रम की पद्धति से जो लाभ होता है, वह अन्य संस्थाओं के, जिनमें रोगी सुस्त पड़े रहते हैं, लाभों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इसी प्रकार जो रोगी घर पर रहकर अपना इलाज करते हैं और इलाज के समय कुछ कामकाज भी करते रहते हैं, उनमें जो लाभ होता है वह उन संस्थाओं के लाभ से अधिक स्थायी होता है जिनमें रोगी चारपाई पर पड़े रहते हैं।

वज़न की बढ़ती का मूल्य निर्धारित करने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये। कभी कभी यह देखा जाता है कि रोग बढ़ रहा है परन्तु साथ ही साथ वज़न भी बढ़ रहा है। यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। परन्तु सावधानी से जाँच करने पर विदित होता है कि पैरों पर सूजन आ रही है जो वज़न बढ़ने का कारण है।

कभी-कभी ऐसे रोगी देखने में आते हैं जिनमें रोग फेफड़े में तो अच्छा होता रहता है और भूख भी अच्छी लगती है, फिर भी वज़न घटता जाता है। साधारणतः इसका कारण अँतड़ियों में क्षय-रोग होता है, जिसमें विशिष्ट लक्षण अतिसार नहीं होता। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है, क्योंकि प्रायः यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि अँतड़ियों में रोग हुआ है या नहीं। रोगी का भविष्य अँतड़ियों की दशा पर बहुत कुछ निर्भर होता है।

ऋतु का प्रभाव—क्षय रोगियों के वज़न पर ऋतु के प्रभाव का अध्ययन स्वास्थ्यशालाओं में सब से अच्छा होता है। इस विषय में बड़े

महत्त्वपूर्ण अन्तर मिलते हैं। अमेरिका के संयुक्तराज्य में जाँच करने से पता लगा है कि रोगी का वज़न अगस्त से दिसम्बर तक बढ़ता है और दिसम्बर से मार्च तक लगभग स्थायी रहता है। अप्रैल और अगस्त के बीच में फिर कम होजाता है। जुलाई में सब से अधिक मृत्यु होती है। अमेरिका की अन्य स्वास्थ्यशालाओं में भी जाँच करने से यही विदित होता है कि क्षय रोगियों का वज़न जाड़े में बढ़ता है और गरमियों में कम होता है।

अन्य प्रकार के जलवायु के स्थानों के सम्बन्ध में यह बात ठीक नहीं होती। डेनमार्क देश की आठ स्वास्थ्यशालाओं के क्षय रोगियों के वज़न का सावधानी से अध्ययन करने पर यह पता लगा है कि दिसम्बर से मई तक रोगियों का वज़न कम बढ़ता है। उसके बाद वज़न बराबर बढ़ने लगता है और सब से अधिक बढ़ती सितम्बर में होती है। अक्टूबर से वज़न फिर कम होने लगता है और सब से अधिक कमी दिसम्बर में होती है। यह दशा अमेरिका से बिलकुल विपरीत है।

भारतवर्ष में मैदानों में रोगियों का वज़न जाड़ों में अक्टूबर से बढ़ना प्रारम्भ होता है और गरमियों में अप्रैल से घटने लगता है। इस विषय पर ऋतु सम्बंधी परिवर्तनों का क्या असर होता है, इसकी सावधानी से जाँच करने की आवश्यकता है।

स्थूलकायों में क्षय-रोग—कुछ लोग देखने में हृष्ट-पुष्ट प्रतीत होते हैं, परन्तु उनको खाँसी आती है, कफ निकलता है, जिसमें क्षय-कीटाणु भी होते हैं, कुछ हरारत भी होती है और कभी-कभी रात्रि-स्वेद भी होता है। जब ऐसे रोगी परीक्षा के लिए आते हैं तो वक्षस्थल में एक या दोनों फेफड़ों में क्षय-रोग के चिह्न मिलने पर भी उसको क्षय रोगी बतलाने में चिकित्सक को संकोच होता है। ऐसे रोगियों में रोग की गति धीमी होती है और वे वर्षों तक चलते हैं। कुछ रोगियों एवं चिकित्सकों को केवल कफ में क्षय-कीटाणु मिलने पर ही विश्वास होता है कि क्षय-रोग है।

स्त्री क्षय रोगियों में बसावृद्धि बहुधा रजोनिवृत्ति के समय या उसके पश्चात् मिलती है। कभी कभी यह पुरुषों में भी पाई जाती है, विशेषकर उनमें जो मदिरापान करते हैं और जिनको पहले उपदंश हो चुका है। ऐसे रोगियों को बहुधा बहुत भूख लगती है और जब उनसे ख़ूब खाने के लिए कहा जाता है तो ख़ूब खाने लगते हैं। आराम करने के साथ अधिक भोजन

से जाग्रत रोग के होते हुए भी रोगी मोटा होजाता है। वायुध्मान रोग में क्षय-रोग होने पर और सूत्रोल्वण क्षय में, रोगियों का वज़न प्रायः औसत से अधिक होजाता है।

बसामय क्षय-रोग बच्चों में भी मिलता है, विशेषकर क्षयी माता पिता की सन्तान में। देखने में वे हृष्ट-पुष्ट और मोटे प्रतीत होते हैं; परन्तु जब उनकी मांसपेशियों को जाँच की जाती है, तो वे पिलपिलो और मुलायम मिलती हैं। इन ढीले शरीरवाले मोटे बच्चों में संक्रमण के रोकने की शक्ति नहीं होती। किसी भी उग्र रोग से शान्त क्षय-रोग जाग्रत होकर उनको मृत्यु का कारण बन जाता है।

त्वचा—मांसपेशियों और बसा के क्षीण होने के अतिरिक्त क्षय-रोग में त्वचा भी शीघ्र क्षीण होने लगती है। निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि रोगस्थल के ऊपर की त्वचा पतली होजाती है, और अधोगत तंतु क्षीण होजाते हैं। पोटेङ्गर के मतानुसार यह त्वचा की क्षीणता व्यापक क्षीणता का एक अंश होता है और रोग के कुछ दिनों तक चलने के बाद होता है। यद्यपि यह क्षय-रोग में अपेक्षाकृत जल्दी भी मिलता है तथापि इससे रोग की पुरातनता ही सूचित होती है न कि नूतनता। ऐसे रोगियों में यह माना जा सकता है कि पुराना शान्त रोग फिर से जाग्रत होगया है।

रोगी का वर्ण साधारणतः पीला होता है, यद्यपि कभी कभी ऐसे रोगी भी देखने में आते हैं जिनमें रोग बढ़ने पर भी चेहरे का रङ्ग अच्छा बना रहता है। कुछ रोगियों के चेहरे पर विषम प्रदीप्ति (Hectic flush) दिखाई पड़ती है। यह प्रायः उस समय होती है, जब ज्वर बढ़ता है। यह प्रदीप्ति फेफड़े में रोग की दिशावाले केवल एक कपोल पर होती है। सूत्रोल्वण क्षय तथा वायुध्मानवाले रोगियों में, जिनमें हृदय का दाहिना कोष्ठ फूल जाता है, चेहरे पर श्यामता आ जाती है। श्यामता उग्र व्यापक बजरीले क्षय का एक प्रधान लक्षण होती है। अनेक रोगियों में जिनमें विस्तृत रंध्र होते हैं, श्यामता बहुत कम होती है! जाँच करने पर अधिक से अधिक होठों पर कुछ नीलापन मिलता है। परन्तु सूत्रोल्वण क्षय में श्यामता प्रायः अधिक होती है। मेयर सोलिस कोहिन का मत है कि २५ से ३३ प्रतिशत क्षय-रोगियों में तमक, जलन, स्वेद, पित्ती इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

रंगीन धब्बे—क्षय-रोग में कभी कभी चेहरे के ऊपरी भाग तथा मस्तक पर चिकने और चमकीले धब्बे दिखाई देते हैं। वे बहुधा अलग अलग होते हैं, परन्तु कभी कभी उनके मिलने से बड़े बड़े चकत्ते बन जाते हैं, जिनसे स्त्री रोगियों को बड़ी घबराहट होजाती है। ये चकत्ते बहुधा उन रोगियों में होते हैं जिनकी लसिका-ग्रन्थियां बढ़ी हुई होती हैं और ऐसे रोगियों में रक्त-निष्ठीवन बहुत कम होता है।

जिन रोगियों को पसीना अधिक आता है उनके वक्षःस्थल और उदर पर छोटे-छोटे दाने निकल आते हैं।

सेहुआँ या बनरफ—त्वचा का यह रोग क्षय-रोग में बहुत मिलता है। इसके चकत्ते वक्षःस्थल पर आगे और पीछे बहुत होते हैं और त्वचा से कुछ उभरे हुए होते हैं। आकार में गोल या अंडाकार होते हैं। उनको खुरचने से बहुत छोटी छोटी पपड़ियाँ निकलने लगती हैं। इन चकत्तों का रंग गेहुँआ होता है। जो रोगी अपने शरीर को साफ़ नहीं रखते, उनमें इन दानों के मिलने से बड़े बड़े चकत्ते बन जाते हैं, जिनको खुजलाने पर पपड़ियाँ झड़ने लगती हैं।

यह चर्म-रोग उन क्षय रोगियों में अधिक मिलता है जिनको रात में पसीना अधिक आता है और जिनकी त्वचा में पपड़ी पड़ने की प्रवृत्ति होती है। जब वक्ष पर होता है तो सेहुंआ क्षय-रोग का द्योतक होता है, यद्यपि यह अन्य क्षीणताकारक रोगों में भी होता है।

क्षयी विस्फोटक—क्षय-संक्रमण तथा क्षय-रोग के सम्बन्ध में जो दाने त्वचा पर निकलते हैं उनको क्षयी विस्फोटक (Tuberculides) कहते हैं। उनमें से दो प्रकार के दाने मुख्य होते हैं :—

(१) मुँहासे के सदृश दाने—ये दाने तरुण रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं और प्रधानतः रोगी के चेहरे पर होते हैं। ये छोटी छोटी लाल लाल या काली फुन्सियाँ होती हैं। प्रत्येक फुन्सी लगभग एक महीने रहती है। इसके बाद यह सूख या पक जाती है। पककर फूटने पर एक छोटा सा क्षत-चिह्न शेष रह जाता है। इन फुन्सियों की फ़सल एक के बाद दूसरी निकलती रहती है, इसलिए एक ही रोगी के चेहरे या पीठ पर अथवा पुट्ठों के बीच में बिखरी हुई फुन्सियाँ विभिन्न अवस्थाओं में मिल जाती हैं। मुहाँसां की भाँति इनमें कील और चिकनाहट नहीं होती।

(२) दूसरे प्रकार के दाने भी तरुण रोगियों में पाये जाते हैं। इन दानों की भी एक के बाद दूसरी फ़सल लगातार हाथ, प्रकोष्ठ, उंगली, कोहनी, घुटने, पैर और कानों तथा कभी कभी चेहरे पर निकला करती है। प्रत्येक पिडिका गहरे लाल रंग की होती है, जिसका शिखर एक सप्ताह में पक जाता है। पके हुए दाने सूखकर उन पर पपड़ी पड़ जाती है, जो कई सप्ताह तक निकला करती है। पपड़ियों के छूटने पर कुछ दबे हुए क्षत-चिह्न शेष रह जाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दानों का सम्बन्ध क्षय-संक्रमण से होता है, परन्तु प्रधानतः ये ग्रन्थि, अस्थिकला तथा त्वचा के क्षय में अधिक पाये जाते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये दाने प्रधानतः उन रोगियों में होते हैं जिनमें उपरोक्त प्रकार के क्षय-रोग सुप्त या शान्त अवस्था में होते हैं। फुप्फुस-क्षय के जिन रोगियों में ये विस्फोटक होते हैं, उनमें रोग बहुधा निश्चेष्ट होता है। यद्यपि उनमें क्षय-कीटाणु बहुत थोड़े पाये जाते हैं, फिर भी साधारण मत यह है कि वे क्षय-कीटाणुओं के त्वचा में स्थित होने से उत्पन्न होते हैं।

इस पुस्तक में अन्यत्र यह बतलाया गया है कि त्वचा और फेफड़ों के क्षयी-विकारों में परस्पर विरोध होता है। त्वचा के इन क्षयी विस्फोटकों से इस बात का समर्थन होता है। सभी लेखकों का कहना है कि इन दानों के अवधिकाल में न ज्वर होता है, न कोई अन्य लक्षण और अधिकांश रोगियों में या तो गुप्त क्षय के लक्षण होते हैं या उनके परिवार में क्षय-रोग का होना पाया जाता है। इसलिये रोगी को यह आश्वासन देना चाहिये कि रूप के विचार से यह रोग अवश्य बुरा है, परन्तु इसमें फेफड़ों में क्षय-रोग होने का भय नहीं होता। जिन लोगों में क्षय-रोग हो, उनमें इन दानों का निकलना शुभ का लक्षण होता है।

बाल—कुछ लोगों का कथन है कि अन्य रोगियों की अपेक्षा क्षय रोगियों में गंजापन अधिक होता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। क्षय-रोग में बालों की चिकनाहट कम होजाती है और वे झड़ने लगते हैं।

गदाकार उँगलियाँ—गदाकार उँगलियों को लोग प्राचीन काल से क्षय-रोग का लक्षण मानते आये हैं। लगभग एक तिहाई सम्वृद्ध क्षय-रोगियों में गदाकार उँगलियाँ मिलती है। गदाकार उँगलियाँ क्षय-रोग का

विशिष्ट लक्षण नहीं होतीं। क्षय-रोग के अतिरिक्त अन्य कई रोगों में उँगलियाँ गदाकार होजाती हैं।

क्षय-रोग में दोनों हाथों की उँगलियाँ साधारणतः गदाकार होजाती हैं और उनके नख लम्बाई तथा चौड़ाई दोनों दिशाओं में अधिक टेढ़े होजाते हैं। जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि राजयक्ष्मावाले रोगियों में से ७५ से ९५ प्रतिशत में नखों में परिवर्तन होजाते हैं। एक्सरे परीक्षा से यह विदित होता है कि हड्डियों तथा संधियों में कोई परिवर्तन नहीं होता और न त्वचा में कोई विकार होता है। केवल त्वचा के नीचे के तंतु अति पुष्ट होजाते हैं। निश्चेष्ट रोग की अपेक्षा जाग्रत रोग में नखों और उँगलियों के परिवर्तन अधिक मिलते हैं।

अधिकांश रोगियों में यह परिवर्तन अज्ञातरूप से होते हैं और रोगी को उस समय तक उनका पता नहीं चलता जब तक चिकित्सक उनकी ओर उसका ध्यान आकर्षित नहीं करते। परन्तु कुछ रोगियों में ये परिवर्तन बहुत शीघ्र होजाते हैं और कुछ सप्ताहों में ही उँगलियाँ गदाकार होजाती हैं।

गदाकार उँगलियाँ सब पुरातन क्षय-रोगियों में नहीं मिलतीं। अनेक क्षय-रोगियों की उँगलियाँ ठीक बनी रहती हैं और कुछ की लम्बी शुंडाकार होजाती हैं। सूत्रोल्वण क्षय में तथा वायुध्मानवाले क्षय-रोगियों में और उन रोगियों में जिनमें पार्श्वकला में बन्धन बन जाते हैं, गदाकार उँगलियाँ सदैव मिलती हैं।

अस्थियों और संधियों में परिवर्तन—कुछ सम्वृद्ध क्षय-रोगियों में हाथ और पैर मोटे होजाते हैं। उँगलियाँ बड़ी होजाती हैं और नख तोते की चोंच की भाँति बड़े और टेढ़े होजाते हैं। अधिकांश रोगियों में कलाई मोटी और विकृत होजाती है। कुछ रोगियों में पृष्ठ-वंश टेढ़ा होजाता है और पैरों में कलाई और हाथों के समान परिवर्तन होजाता है।

क्षय-रोग में अस्थियों और संधियों के इन परिवर्तनों पर अभी तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि हाथों और पैरों के ये परिवर्तन साधारणतः अति पुरातन क्षय-रोग में, विशेषकर सूत्रोल्वण क्षय-रोग में, पाये जाते हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रक्त तथा मूत्र संस्थान सम्बन्धी लक्षण

हृदय और नाड़ी संस्थान

हृदय की धड़कन—क्षय-रोग में हृदय तथा नाड़ियों के विकारों में सब से प्रधान लक्षण धड़कन, नाड़ी की द्रुतगति और रक्तभार में कमी होते हैं।

क्षय-रोग के प्रारम्भ में हृदय की धड़कन प्रधानतः तरुण रोगियों में होती है, विशेषकर उन युवतियों में, जिनमें रक्त की कमी होती है। थोड़े से परिश्रम या चित्तोद्वेग से और कभी कभी अकारण ही धड़कन होने लगती है। कभी कभी यह बड़े ज़ोर की होती है और अकेले इसी लक्षण के लिए रोगी चिकित्सक के पास जाते हैं। कभी कभी धड़कन के साथ हृदय-प्रदेश में शूल या कष्ट, पांडुता, चेहरे की प्रदीप्ति, स्वेद इत्यादि रक्त-नाड़ी-नियन्त्रण-सम्बन्धी अन्य लक्षण भी होते हैं।

कुछ रोगी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें क्षय-प्रारम्भ के लक्षणों और चिह्नों के प्रकट होने से पहले ही धड़कन होती है। इसलिये उनका हृद्रोग का इलाज होने लगता है। जैसा कि आगे चलकर क्षय-रोग की पहचान सम्बन्धी परिच्छेद में बताया जायगा, चुल्लिका-ग्रन्थि की तेज़ी (Hyperthyroidism) के लक्षणों से प्रायः क्षय-रोग का भ्रम होजाता है। कभी कभी इसका उल्टा भी होता है। नाड़ी की द्रुतगति, स्वेद की प्रवृत्ति, चेहरे की प्रदीप्ति, कृशता इत्यादि लक्षणों का कारण चुल्लिका-ग्रन्थि की तेजी समझ ली जाती है और उसी का इलाज किया जाता है; परन्तु वक्ष की सावधानी से परीक्षा करने पर क्षयी-विकारों का पता लग जाता है।

कुछ क्षय रोगियों में, विशेषकर युवक या युवतियों में और रजो-निवृत्ति-काल में, स्त्रियों में हृदय की दुर्बलता के लक्षण पाये जाते हैं। ऐसे

रोगियों के चेहरे पर श्यामता, हाथ पैर ठंडे और श्याम वर्ण, नाड़ी कुछ निर्बल, रक्त-नाड़ियों का चाप कम और उदरेन्द्रियों की शिराओं में रक्तावष्टम्भ होता है। इस प्रकार के क्षय रोगियों का इलाज़ बहुधा स्नायविक दुर्बलता, चुल्लिका-ग्रन्थि की तेज़ी इत्यादि विकार समझकर होता रहता है। दूसरी ओर अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि जब ये लक्षण प्रबल होते हैं तो फेफड़ों में रोग हलका होता है और उसकी अच्छा होने की प्रवृत्ति होती है।

इस अवस्था में हृदय की धड़कन के क्या कारण होते हैं, इसका विशद ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। कुछ लोगों का विचार है कि इसका कारण हृदय के दाहिने कोष्ठ का फूलना होता है; परन्तु धड़कन उन लोगों में भी पाई जाती है, जिनका हृदय ठीक होता है। अन्य लोगों का विश्वास है कि धड़कन रक्त की कमी के कारण या पिङ्गल नाड़ी के विकारों के कारण होती है। अनेक रोगियों में धड़कन का यह पिछला कारण स्पष्टतः दिखाई पड़ता है, क्योंकि यह बहुधा अधीर रोगियों में, युवतियों में और रजोनिवृत्ति काल में स्त्रियों में मिलती है। हृदय की चालक दसवीं नाड़ी पर बढ़ी हुई लसिका-ग्रन्थियों का दबाव होने से भी धड़कन हो सकती है। क्षय-रोग के विषों का हृदय पर अवश्य ही बड़ा प्रभाव पड़ता है, जिससे हृदय में द्रुतगति और धड़कन उत्पन्न होजाती है।

सम्वृद्ध परन्तु उपशान्त क्षय रोगियों में भी हृदय उत्तेजित होता है। रोगी के अच्छा होने की दशा में भी जब ज्वर, खाँसी या कृशता, इत्यादि कोई भी लक्षण नहीं होता, थोड़े से परिश्रम या चित्तोद्वेग से हृदय उत्तेजित होजाता है और रोगी को कष्ट तथा हृदयशूल तक होजाता है। इन रोगियों में धड़कन हृदय के स्थानच्युत होने से होती है और बाईं ओर के रोग में अधिक होती है। बाएँ फेफड़े में विस्तृत रंध्र बन जाने से फेफड़े के सिकुड़ने पर मध्य वक्ष बाईं ओर को और वक्ष-उदर-मध्यस्थ पेशी ऊपर की ओर खिँच जाती है। इसलिये हृदय ऊपर और बाईं ओर को हट जाता है। हृदय के दाहिनी ओर हटने में इतनी अधिक धड़कन नहीं होती।

सिवाय सम्वृद्ध अवस्था के, जब कि धड़कन हृदय के स्थानच्युत होने से होती है, क्षय-रोग की गति पर धड़कन का कोई प्रभाव नहीं होता। अधीर स्वभाववाले रोगियों में रोग की प्रारम्भिक अवस्था में धड़कन उन रोगियों में भी मिलती है जो लगातार अच्छे होते जाते हैं, परन्तु रोगनिरूपण की दृष्टि से यह एक बड़ा मूल्यवान् लक्षण होता है। हिर्ज़ का कहना है कि जब

कोई रोगी धड़कन की शिकायत करे तो उसके फेफड़ों की परीक्षा करनी चाहिए। यद्यपि यह बात हर एक रोगी पर लागू नहीं होती तथापि यह स्मरण रखनेयोग्य है। कुछ क्षय रोगियों में रक्त-निष्ठीवन के होने से एक दो दिन पूर्व से धड़कन होने लगती है।

हृदय की द्रुतगति—हृदय की द्रुतगति बहुधा क्षय-रोग की सब अवस्थाओं में मिलती है। धड़कन से यह इस बात में भिन्न होती है कि इसका केवल चिकित्सक को ही पता चलता है रोगी को इसका ज्ञान नहीं होता। इसके प्रतिकूल धड़कन केवल एक आत्मगत लक्षण होती है। लगभग ९० प्रतिशत प्रारम्भिक क्षय में हृदय की द्रुतगति पाई जाती है। क्षय-रोग का यह एक ऐसा लक्षण है जिसको लोग प्रायः उतना महत्व नहीं देते, जितना देना चाहिए। रोग के सन्देह के निर्णय में इससे प्रायः बड़ी सहायता मिलती है।

हृदय की द्रुतगति रोग के विषों से उत्पन्न हो सकती है। अन्य ज्वरों की भाँति क्षय-रोग में भी शारीरिक ताप के बढ़ने के साथ साथ नाड़ी की गति बढ़ जाती है, परन्तु यह प्रायः उन रोगियों में भी स्पष्टतः पाई जाती है जिनमें ज्वर नहीं होता तथा जिनका शारीरिक ताप आरोग्य-ताप से भी कम होता है। वास्तव में क्षय-रोग में ज्वर की तुलना में नाड़ी की गति कहीं अधिक तेज होती है। अन्य रोगों में एक डिगरी शारीरिक ताप बढ़ने से नाड़ी की गति साधारणतः प्रति मिनट आठ बढ़ती है, परन्तु क्षय-रोग में १०० डिगरी के ताप-परिमाण पर नाड़ी की गति बहुधा १२० या इससे भी अधिक मिलती है। वास्तव में अधिकांश ज्वररहित रोगियों में नाड़ी की गति प्रति मिनट ९० से ऊपर होती है और प्रातःकाल जब शारीरिक ताप बहुत कम होजाता है, द्रुतगामी नाड़ी का मिलना असाधारण नहीं होता। अस्तु, नाड़ी की द्रुतगति क्षय-रोग का एक प्रारम्भिक लक्षण होती है और कुछ विशेषज्ञ इसको क्षय-रोग का एक पूर्व लक्षण मानते हैं।

हृदय की स्थायी द्रुतगति—अधिकांश क्षय रोगियों में हृदय की द्रुतगति स्थायी होती है और उसके साथ साथ धड़कन, क्लान्ति, निर्बलता, श्वास-कष्ट इत्यादि लक्षण होते हैं। अन्यान्य रोगियों में यह केवल विषयात्मक (Objective) होती है और रोगी को इसके अस्तित्व का पता नहीं होता। ऐसे अनेक रोगी मिलते हैं जिनमें रोग के रुकने या निवारण होने पर भी नाड़ी की द्रुतगति बनी रहती है। कभी कभी रोगी की कार्य-शक्ति में इससे बाधा पड़ती है।

क्षय रोगी की नाड़ी की दूसरी विशेषता उसकी अस्थिरता और और चंचलता होती है। आराम करते समय गति ठीक रहती है, परन्तु खाँसी, चित्तोद्वेग, भरपेट भोजन, करवट बदलना इत्यादि बहुत थोड़े परिश्रम से ही नाड़ी की गति ११० से १२० तक होजाती है। एक लेखक का कथन है कि क्षय-रोग के समान अन्य किसी रोग में नाड़ी इतनी चंचल नहीं होती।

नाड़ी की द्रुतगति के दौरे—कतिपय रोगियों में नाड़ी की द्रुत-गति के दौरे होते हैं। रोगी अच्छा प्रतीत होता है, परन्तु अकारण अकस्मात् हृदय में धड़कन होने और साँस फूलने लगती है और चेहरे तथा नखों पर कुछ श्यामता आ जाती है। नाड़ी की गति १५० से २०० प्रति मिनट तक होजाती है और वह निर्बल तथा प्रायः अनियमित होजाती है। दौरा कभी कई घंटे रहता है और कभी एक या दो दिन तक।

कई दौरों के बाद हृदय के फूलने के चिह्न मिलने लगते हैं। हृदय के फूलने से हाथ पैरों पर सूजन, यकृति की वृद्धि इत्यादि लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है और अन्त में हृदय का आकुंचन रुककर रोगी की मृत्यु होजाती है। नाड़ी की द्रुतगति के दौरे बहुत भयानक और अशुभसूचक होते हैं और जब वे बार बार होने लगते हैं तो किसी एक दौरे में रोगी की मृत्यु होजाती है। क्षय रोगियों में कभी कभी जो आकस्मिक मृत्यु होजाती है, उसका यही कारण होता है।

नाड़ी की द्रुतगति के कारणों पर अभी तक ठीक ठीक प्रकाश नहीं पड़ा है। क्षय-रोग में नाड़ी की स्थायी द्रुतगति से रोग अधिक असाध्य होजाता है। ऐसे रोगियों को पहाड़ों पर नहीं भेजना चाहिए। इसके कारण बड़े जटिल और प्रत्येक रोगी में भिन्न भिन्न होते हैं। जिन रोगियों में रोग के विषों के कारण नाड़ी की द्रुतगति होती है उनमें ज्वर कम होने पर नाड़ी की गति कम होजाती है।

नाड़ी की मन्दगति—क्षय-रोग में धीमी नाड़ी बहुत बिरल होती है। परन्तु जिनको बहुत से क्षय रोगी देखने का अवसर प्राप्त होता है, उनको कभी कभी एकाध रोगी ऐसा मिल जाता है जिसकी नाड़ी की गति मन्द होती है। इसका कारण हृद्रोग अथवा हृदय की चालक नाड़ी का प्रकोप होता है। जिन क्षय रोगियों में नाड़ी की गति धीमी होती है, उनमें रोग अधिक साध्य होता है।

रोग की अन्तिम अवस्था में प्रायः नाड़ी की गति धीमी, परन्तु निर्बल मिलती है, क्योंकि कुछ धड़कनें छूट जाती हैं। ऐसी नाड़ी हृदय की कार्यशक्ति की कमी की सूचक होती है। मस्तिष्कावरण के उपद्रवरूप प्रदाह में नाड़ी की गति कम होजाती है।

रक्तचाप की कमी—अधिकांश क्षय रोगियों में रक्तचाप कम हो जाता है। इसका कारण निस्सन्देह क्षय-कीटाणुओं के विषों का प्रभाव होता है, क्योंकि यक्ष्मिन की पिचकारी लगाने पर रक्तचाप कम होजाता है। सर डागलस पावल का कहना है कि पहले जब त्वचा तथा अन्य स्थानों के क्षय-रोग के यक्ष्मिनोपचार (Tuberculin treatment) में यक्ष्मिन का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता था उससे कभी कभी शक्तिपात होजाता था। कुछ आधुनिक लेखकों को पता लगा है कि थोड़ी या साधारण मात्रा में भी यक्ष्मिन देने से रक्तचाप कम होजाता है। क्षय-रोग के प्रारम्भ में रक्तचाप की कमी विशिष्ट स्थायी लक्षण होती है और जब यह बिना किसी ज्ञात कारण के किसी प्रौढ़ मनुष्य में मिले तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिए। जिन रोगियों में क्षय-रोग के लक्षण और चिह्न स्पष्ट हों, यदि उनमें रक्तचाप कम मिले, तो क्षय-रोग का निश्चय समझना चाहिए। इसके विपरीत जिन रोगियों में रक्तचाप अधिक हो, उनको क्षय-रोगी समझने में शङ्का होनी चाहिए।

रक्तचाप की यह कमी रोग के प्रारम्भ में सुस्पष्ट होती है और रोग की प्रगति की दशा में और भी बढ़ जाती है। जिन क्षय रोगियों में रक्तचाप प्रकृतिस्थ या अधिक हो उनको अधिक साध्य समझना चाहिए। जब रक्तचाप के बढ़ानेवाले रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में क्षय-रोग होता है तो वह अधिक साध्य होता है। यदि पहले रक्तचाप कम हो और वह धीरे धीरे बढ़ने लगे तो उसको रोगी की दशा सुधरने का सर्वोत्कृष्ट चिह्न समझना चाहिए। इसके विपरीत प्रकृतिस्थ अथवा अधिक रक्तचापवाले क्षय रोगियों का रक्तचाप यदि कम होने लगे तो समझना चाहिए कि रोग बढ़ रहा है और रोगी की दशा बिगड़ रही है।

रक्त-विकार

लाल रुधिरकण—बहुत से क्षय रोगियों में प्रायः रक्त की कमी प्रतीत होती है, परन्तु इस रोग में रक्त-कणों की संख्या में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। वास्तव में यह स्मरण रखने योग्य है कि बहुत से क्षय

रोगियों के, जिनके चेहरे पीले होते हैं, रक्त में कोई विकार नहीं मिलता। केवल रोग की सम्वृद्ध अवस्था में रक्तराग (Hæmoglobin) कुछ कम होजाता है। कभी कभी लाल रुधिर-कणों की संख्या बढ़ जाती है, परन्तु रक्तराग नहीं बढ़ता। अधिक रक्त-निष्ठीवन के बाद रक्त कम होजाता है; परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि रक्त की दशा रक्तपात बन्द होने के बाद बहुत शीघ्र ठीक होजाती है।

कभी कभी रोग के प्रारम्भ में रक्तराग की प्रतिशत मात्रा कम होजाती है; परन्तु रोगी का ठीक ठीक इलाज होते ही और उसको यथोचित भोजन मिलने पर रक्तराग की कमी पूरी होने लगती है।

खोज से यह ज्ञात हुआ है कि रोग के बढ़ने और फेफड़ों में रंध्रों के बनने पर भी रक्त के रूप में प्राय: कोई परिवर्तन नहीं होता। रोग की इस अवस्था में रोगी के शरीर पर जो पीलापन दिखाई पड़ता है उसका कारण रक्त-कणों की संख्या का कोई विकार नहीं होता; बल्कि इस बात के पर्य्याप्त प्रमाण हैं कि शरीर के कुल रक्त की मात्रा कम होजाती है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि पसीने, कफ और दस्तों में शरीर से पानी अधिक निकल जाता है जिससे रक्त सघन होजाता है और उसकी मात्रा कम होजाती है।

श्वेत रक्त-कण—क्षय-रोग के प्रारम्भ में श्वेत रक्त-कणों की संख्या और रूप-भेदों में कोई परिवर्तन नहीं होता। उग्र रोगियों में भी जबतक मिश्रित संक्रमण नहीं होता, श्वेत कणों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता। कुछ विशेषज्ञों को श्वेत कणों की संख्या में बढ़ती मिली है, जो रोग के बढ़ने पर और भी बढ़ जाती है। चूँकि यह वृद्धि थोड़ी होती है, इसलिए रोग की पहचान में इससे कोई सहायता नहीं मिलती।

बहुमत इस बात के पक्ष में है कि स्वस्थ मनुष्यों की अपेक्षा क्षय-रोगियों में श्वेत कणों की संख्या कुछ अधिक होती है। रोग के प्रारम्भ में श्वेत कणों की निरपेक्ष वृद्धि मिलती है, परन्तु श्वेत कणों की सापेक्षिक वृद्धि केवल रोग की सम्प्राप्त अवस्था में मिलती है और यह फेफड़ों के रोग की गंभीरता के साथ साथ चलती है। अम्लरंगेच्छु (Eosinophils) श्वेत कण रोग की सम्वृद्ध अवस्था में सापेक्षिक और निरपेक्ष दोनों रूप से कम होजाते हैं; परन्तु यह बात बराबर नहीं मिलती। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि क्षय-कीटाणु तथा उनके विषों का श्वेत रक्त-कणों पर कोई

रसायनाकर्षक (Chemotactic) प्रभाव नहीं होता और यह कहना कि क्षय-कीटाणुओं का श्वेत रक्त-कणों के दोनों प्रधान रूप-भेदों पर कोई विशेष प्रभाव होता है, न्यायसंगत नहीं है।

कुछ लोगों का मत है कि क्षय-रोग में रक्त-कणिकाओं (Blood-Platelets) की संख्या बढ़ जाती है। उनका विश्वास है कि रक्त-कणिकाओं में रक्त-कणों के जिघत्सावर्द्धक पदार्थ (Opsonins) होते हैं। रक्त-कणिकाओं की संख्या ६००० फ़ीट की ऊँचाई पर बढ़ जाती है और वेब के मतानुसार क्षय रोगियों पर उन्नतांश के लाभदायक प्रभाव का यह एक कारण है।

रोग के बढ़ने पर श्वेत कणों की संख्या कभी कभी बढ़ जाती है। यह बढ़ती साधारणतः अस्थायी और कभी कभी स्थायी होती है। यह क्षयी-प्रक्रिया की क्रियाशीलता, ज्वर की तीव्रता और उपद्रवों की उपस्थिति इत्यादि अनेक बातों पर निर्भर होती है।। परन्तु इस बात में इतने अपवाद होते हैं कि क्षय-रोग की पहचान तथा साध्यासाध्य विचार में इसका कुछ भी मूल्य नहीं होता।

रक्तसंचालन में क्षय-कीटाणु—क्षय-रोग का विष रक्त में मिलता है, इस बात का सन्देह लोगों को बहुत दिनों से था। सन् १८६६ ई० में विलेमिन ने एक क्षयी खरगोश की जंघा की धमनी से रक्त निकालकर और गिनीपिग पशु में उसकी पिचकारी लगाकर उसमें रोग उत्पन्न किया था। मार्स्टन ने सन् १८६७ ई० में इन प्रयोगों को दोहराया था। सन् १८८४ ई० में वीशेलवाम को उग्र व्यापक बजरीले क्षय से पीड़ित रोगियों के रक्त में क्षय-कीटाणु मिले थे। हाल में कुछ लोगों को पुरातन तथा शान्त क्षय से पीड़ित रोगियों के रक्त में भी क्षय-कीटाणु मिले हैं। लीवरमीस्टर को मरणासन्न रोगियों में से ७५ प्रतिशत के और प्रारम्भिक क्षय के कुछ रोगियों के रक्त में क्षय-कीटाणु मिले हैं।

रक्त में क्षय-कीटाणुओं का पता लगा लेने पर एक समय लोग इसको स्पष्ट क्षय-रोग की पहचान की एक विश्वस्त विधि समझकर बहुत उत्साहित हुए थे; परन्तु अन्य अन्वेषकों की खोज से उनकी धारणा ग़लत सिद्ध हुई और इस समय यही कहा जा सकता है कि क्षय-रोग की पहचान और साध्यासाध्य विचार में क्षय-कीटाणुओं के रक्त में मिलने का अभी तक कोई मूल्य स्थापित नहीं हुआ है।

मूत्र संस्थान

वृक्क—वृक्कों की रचना तथा कार्यों में ऐसे कोई विकार नहीं होते जिनको क्षय-रोग की विशेषता या विशिष्ट लक्षण कहा जा सके। उग्र क्षय में वृक्कों पर वही प्रभाव होता है जो अन्य कारणों से उत्पन्न ज्वर की अधिकता का होता है। उग्र व्यापक क्षय में प्रारम्भ में ही वृक्क रोगाक्रान्त होजाते हैं। कुछ लोगों ने हाल में जो जाँचें की हैं, उनसे विदित होता है कि क्षय-रोग के प्रारम्भ में वृक्कों के कार्य में कोई विकार नहीं होता।

कुछ लेखकों ने विशेषकर फ्रांसीसियों ने लिखा है कि प्रारम्भिक तथा गुप्त क्षय में भी मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है और उसमें फौस्फेट तथा अंडे की सफ़ेदी सी आने लगती है। बार्बियर का कहना है कि क्षय-रोग में अन्य लक्षणों के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से मूत्र में अंडे की सफ़ेदी सी आने लगती है और इसको चिकित्सक बहुधा भूल से नहीं समझ पाते। रोबिन ने मूत्र की अधिकता को क्षय-रोग का पूर्व लक्षण लिखा है। उनका कहना है कि क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में मूत्र की मात्रा अधिक होती है, मध्यावस्था में प्रकृतिस्थ होती है और सम्वृद्ध अवस्था में कम होजाती है; परन्तु कुछ लोगों में मूत्र को अधिकता आद्योपान्त बनी रहती है। सम्वृद्ध अवस्था में मूत्र की कमी का ज्वर, रात्रिस्वेद तथा अन्तिम अतिसार से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। रोबिन का मत है कि प्रारम्भिक क्षय में मूत्र की केवल अधिकता ही होती है, उसके रासायनिक संघटन में कोई विकार नहीं होता।

परन्तु उपरोक्त विकार इतनी स्थिरता से नहीं मिलते कि उनको प्रारम्भिक क्षय का निश्चयात्मक या विशिष्ट लक्षण समझा जाय।

सम्वृद्ध रोगियों के मूत्र में अंडे की सफ़ेदी—(Albumin) रोग की सम्वृद्ध अवस्था में रोगी के मूत्र में अंडे की सफ़ेदी बहुधा आने लगती है। अधिकांश रोगियों में सफ़ेदी की मात्रा लेश मात्र होती है और जब इसकी मात्रा अधिक होती है तो उसके साथ साथ साँचे (Casts) रक्त तथा पीव आता है। कुछ लोगों की जाँच करने पर ३० से ४० प्रतिशत रोगियों के मूत्र में सफ़ेदी मिली है। जिन रोगियों की अंतड़ियों में व्रण होजाते हैं उनके मूत्र में अन्य लोगों की अपेक्षा सफ़ेदी अधिक मिलती है। मोंटगोमरी अपने अध्ययन से इस आशय पर पहुँचे हैं कि क्षयरोगियों के

मूत्र में साँचों की अधिक संख्या रोग की असाध्यता की सूचक होती है और सांचों की कमी शुभलक्षण होती है।

मूत्र में एल्बुमेन निकलने के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है। कुछ लोगों का विचार है कि मूत्र में निकलने वाले क्षयी विषों से वृक्कों के तन्तु कुपित होजाते हैं। अन्य लोगों का विचार है कि इसका कारण पुरातन ज्वर अथवा वृक्कों का क्षय-रोग होता है।

यह बतला देना चाहिए कि सम्वृद्ध अवस्था में मूत्र में एलबुमेन आने का साधारण कारण मिश्रित संक्रमण होता है, जैसा फेफड़ों के रंध्रों में होता है और जिसमें क्षय-कीटाणुओं के अतिरिक्त पूयजनक-कीटाणु भी होते हैं।

क्षय-रोग में वृक्क प्रदाह— क्षय-रोग में वृक्कों का उग्र प्रदाह बहुत विरल होता है; परन्तु पुरातन प्रदाह कभी-कभी पाया जाता है। विभिन्न लेखकों के मतानुसार १५ से २० प्रतिशत क्षय रोगियों में वृक्कों का प्रदाह पाया जाता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्क-प्रदाह के लक्षण साधारणतः प्रकट नहीं होते, यद्यपि मूत्र में एल्बुमेन और साँचे आते रहते हैं। हृदय की अतिपुष्टि बहुत कम पाई जाती है।

उपरोक्त विचारों में से अधिकांश मूत्र में एल्बुमेन मिलने के ऊपर अवलम्बित हैं और मोंटगोमरी ने यह सिद्ध कर दिया है कि राजयक्ष्मा में, मूत्र में एल्बुमेन तथा साँचों का आना वृक्क-प्रदाह का सूचक नहीं होता। क्षय-रोग में मूत्र में एल्बुमेन का आना वृक्क-प्रदाह अथवा वृक्क-क्षय की एक आवश्यक अभिव्यक्ति नहीं होती। परन्तु अनेक रोगियों में इसके अन्य कारण होते हैं जो सम्वृद्ध क्षय में बहुधा पाये जाते हैं। वस्तुतः अन्य पुरातन रोगों की अपेक्षा क्षय-रोग में वृक्क-प्रदाह कम होता है।

वृक्कों का सिक्थात्मक अपकर्ष—क्षय-रोग की अति सम्वृद्ध अवस्था में, जब फेफड़ों के रंध्रों में पीव पड़ जाता है, वृक्कों में बहुधा सिक्थात्मक अपकर्ष होजाता है। इसके साथ साधारणतः यकृति, प्लीहा तथा अंतड़ियों में भी सिक्थात्मक विकार होते हैं। परन्तु यह अपकर्ष इतना नहीं होता जितना कि होना चाहिए। विभिन्न लोगों के मतानुसार ६ से ९ प्रतिशत क्षय रोगियों में यह अपकर्ष मिलता है।

वृक्कों का सिक्थात्मक अपकर्ष कई रूपों में पाया जाता है। अनेक रोगियों में वृक्कों में अधिक विकार होने पर भी कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते अथवा केवल मूत्र में अंडों की सफ़ेदी तथा साँचे मिलते हैं। इसका पता तभी लगता है जब यकृति, प्लीहा इत्यादि अन्य अवयवों में भी इस विकार के चिह्न मिलते हैं। अन्य रोगियों में पुरातन वृक्क प्रदाह के शोथ इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु रक्तचाप अधिक नहीं होता।

अन्तिम शोथ——अधिकांश सम्वृद्ध क्षयरोगियों में शोथ होता है। पैर और घुटनों पर अन्तिम अवस्था में विशेष शोथ होता है। यह सदैव वृक्कों की दशा पर अवलम्बित नहीं होता। मोंटगोमरी को शोथ का मूत्र में एल्बुमेन या सांचे आने से कोई सम्बन्ध नहीं मिला था। रोग की सम्वृद्ध अवस्था में हृदय के कोष्ठ फूल जाते हैं और इससे भी शोथ होजाता है।

शोथ अशुभ चिह्न होता है——ऐसा कोई क्षयरोगी अबतक देखने में नहीं आया जिनके पैर और घुटनों पर सूजन आजाने पर वह अच्छा होगया हो। कभी कभी शोथ एक ओर होता है। जिस ओर रोगी लेटता है उस पार्श्व में शोथ होजाता है और दबाने से गड्ढा पड़ जाता है। कभी कभी शिराओं के दब जाने से केवल एक हाथ या टाँग में सूजन हो जाती है।

मूत्र-माद——(Urœmia) क्षय-रोग में मूत्र विषव्याप्ति के लक्षण बहुत कम मिलते हैं, परन्तु इतने कम नहीं जितना कुछ लोग समझते हैं। रोग की अन्तिम अवस्था में कभी कभी मूत्र विषव्याप्ति के निश्चयात्मक लक्षण मिलते हैं, जिनको बहुधा लोग भूल से मस्तिष्कावरण के प्रदाह के लक्षण समझ लेते हैं। ज्वर के अभाव में यदि अकस्मात् श्वास में कष्ट होने लगे तो उन रोगियों में मूत्र विषव्याप्ति की सम्भावना समझनी चाहिए जिनके मूत्र में एल्बुमेन और साँचे आते हैं। अंतिम अवस्था में प्रायः अतिसार और कभी कभी फुप्फुस शोथ मूत्र विष-व्याप्ति के कारण होते हैं, परन्तु इन दशाओं का पहिचानना बड़ा कठिन होता है।

सोलहवाँ परिच्छेद

राजयक्ष्मा के वात-संस्थान सम्बन्धी लक्षण

राजयक्ष्मा में वात-संस्थान के अनेक विकार होते हैं। वात-संस्थान पर क्षयी विषों के प्रभाव का क्षय-रोग के प्रत्येक लक्षण पर असर पड़ता है। वात-संस्थान सम्बन्धी लक्षणों का प्रादुर्भाव रोग के प्रारम्भ में भी हो सकता है। कुछ रोगियों में सक्रिय क्षय आरम्भ होने से पूर्व वात-संस्थानीय लक्षण व्यक्त होजाते हैं। अधिकांश सम्प्राप्त क्षय रोगियों की अपनी विलक्षण मनोवृत्ति होती है और उनमें मानसिक विकार के जो लक्षण होते हैं उन पर परीक्षक का ध्यान जाये बिना नहीं रह सकता।

स्नायविक तथा मानसिक दुर्बलता—क्षय-रोग के प्रारम्भ में प्रायः ऐसे लक्षण होते हैं जो स्नायविक दुर्बलता (Neurasthenia) के लक्षणों से मिलते-जुलते होते हैं। यथार्थ में अनेक क्षय रोगियों में वास्तविक रोग का पता लगाने से पूर्व, महीनों तक स्नायविक दुर्बलता का इलाज होता रहता है। अनेक लेखकों ने इन लक्षणों का वर्णन किया है और उन पर सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है।

अधिकांश उपक्रान्त और सम्प्राप्त क्षय रोगियों को चक्कर, शिर तथा रीढ़ में शूल, स्वभाव का चिढ़-चिढ़ापन, निद्रानाश, वक्ष में पीड़ा, नाड़ी की द्रुतगति और प्रायः धड़कन इत्यादि की शिकायत होती है। इसके अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की क्लान्ति और निरन्तर थकावट होती है जो सोने पर भी नहीं जाती। बल्कि अनेक रोगी यह कहते हैं कि जब प्रातःकाल वे सोकर उठते हैं तो उनको क्लान्ति और थकावट प्रतीत होती है जो मध्याह्नोपरान्त या संध्या समय कम होजाती है। इससे स्नायविक या मानसिक दुर्बलता की ओर

संकेत होता है। इन लक्षणों पर विचार करते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता कि बहुत से रोगियों का उस समय तक स्नायविक दुर्बलता का इलाज होता रहता है जब तक पार्श्वकला के प्रदाह या रक्त-निष्ठीवन के होने से या वक्षःस्थल की सावधानी से परीक्षा करने से वास्तविक दशा का पता नहीं चलता है। पैपिलन का तो यहाँ तक कहना है कि उनको स्नायविक दुर्बलता के प्रत्येक रोगी में गुप्त क्षय का सन्देह होता है। हैड का विश्वास है कि स्नायविक दुर्बलता के अधिकांश रोगियों में गुप्त क्षय होता है जिसका साधारण परीक्षा-विधियों से पता नहीं चलता। इस बात पर विचार करते हुए कि स्नायविक दुर्बलता बहुधा शरीर में विषैले पदार्थों के व्याप्त होने से उत्पन्न होती हैं, यह स्पष्ट है कि इसका कारण क्षयी विष भी हो सकते हैं। यदि स्नायविक दुर्बलता के सब रोगियों के वक्ष की सावधानी से परीक्षा की जाय तो बहुत से क्षय रोगियों का, जिनका आजकल रोग के बढ़ जाने पर पता लगता है, रोग के प्रारम्भ में ही पता लग जाया करे।

प्रत्यावर्तक वात-संस्थान सम्बन्धी लक्षण—(Reflex nervous symptoms)—पिंगल नाड़ी मंडल (Sympathetic system) के विकार क्षय-रोग में कम नहीं होते। इनमें चेहरे की केवल एक ओर की दीप्ति, गर्मी प्रतीत होना, पसीना आना इत्यादि लक्षण उल्लेखनीय हैं। कुछ रोगियों में यह देखा गया है कि वक्ष के एक ओर की त्वचा अधिक गरम होती है। यह लक्षण साधारणतः वक्ष की उस ओर मिलता है जिस ओर वक्ष में रोग होता है। जब रोग दोनों ओर होता है तो यह लक्षण उस ओर मिलता है जिस ओर रोग अधिक सक्रिय होता है। कुछ रोगियों में जिनके फेफड़ों में विस्तृत रंध्र होते हैं, रोग की ओर का नथुना फूल जाता है।

क्षय-रोग का एक महत्व पूर्ण लक्षण आँख की पुतली का फूलना होता है। अधिकतर केवल एक आँख की पुतली का फूलना पाया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि एक पुतली का चौड़ापन लगभग आधे रोगियों में मिलता है और कभी-कभी यह लक्षण अन्य लक्षणों और रोग चिह्नों से पहले प्रकट होता है। यह लक्षण प्रधानतः उन रोगियों में मिलता है जिनमें फुफ्फुस शिखर की पार्श्वकला रोगाक्रान्त होजाती है। ऐसे रोगियों में से अधिकांश में अक्षकास्थि के ऊपर की गिल्टियाँ फूली होती हैं। इन लक्षणों का कारण फुफ्फुस शिखर और उसकी आच्छादक पार्श्वकला में रोग होने से ग्रीवा की

पिंगल नाड़ी का प्रकोप होता है। रोग अच्छा होने पर पुतलियों की असमानता कम या दूर हो जाती है।

शूल—बहुत से क्षय रोगियों में आदि से अन्त तक कोई शूल नहीं होता, परन्तु अनेक रोगियों में विभिन्न प्रकार के न्यूनाधिक शूल होते हैं। शूल शरीर के किसी भाग में हो सकते हैं, परन्तु सबसे अधिक लाक्षणिक शूल वक्ष और ऊर्द्ध शाखा के होते हैं। कुथी को ६५० रोगियों में से ६० प्रतिशत में वक्ष शूल मिले थे और इनमें से ८५ प्रतिशत में शूल रोगाक्रान्त या दोनों में से अधिकाक्रान्त पार्श्व में थे।

अनेक रोगियों में रोग की प्रथम सूचना अक्षकास्थि से नीचे और इससे भी अधिक अंसप्राचीरक से ऊपर दोनों अंसफलकों के बीच में शूल होने से मिलती है। यह शूल साधारणतः मन्द होता है। इस पर गति, श्वास तथा खाँसने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यह रात में अधिक होता है। आक्रान्त भाग के ऊपर की त्वचा में सुकुमारता बहुत कम होती है, परन्तु ज़ोर से दबाने पर शूल बढ़ जाता है। इस प्रदेश में ठोकने से कभी-कभी खाँसी आ जाती है। अंसफलकों के बीच में रीढ़ में साधारणतः अति-साम्वेदनिकता होती है।

अधिक सम्वृद्ध रोग में कभी-कभी कंधे में बड़ा तीव्र शूल होता है, जो रात में अधिक तथा कठिनता से शान्त होता है और जिससे रोगी को नींद नहीं आती। जब प्रारम्भिक अवस्था में शूल होता है तो इतना तीव्र नहीं होता; परन्तु यह कभी-कभी भुजा तक फैल जाता है। थोड़ी सी सर्दी लग जाने पर शूल होने लगता है और उससे रोगी यह समझने लगता है कि उसको बात रोग (Rheumatism) होगया है। वस्तुतः कंधे के वात रोग के अनेक रोगियों में जाँच करने पर क्षय-रोग निकलता है। वक्ष-उदर-मध्यस्थ पेशी में शूल प्रायः होता है। यह शूल बर्छी भोकने के सदृश यंत्रणादायक होता है और गहरी श्वास लेने, खाँसने तथा छींकने से बढ़ जाता है। यह पार्श्वकला के बंधनों के कारण होता है।

यदि उपद्रव रूप पार्श्वकला का प्रदाह न हो, तो क्षय-रोग में त्वचा की अति-साम्वेदनिकता बहुत कम होती है। फेफड़े के रोगाक्रान्त भागों के ऊपर की मांस-पेशियों को दबाने से साधारणतः पीड़ा होती है। जब फुप्फुस-शिखर में रोग होता है तो कर्ण-मूलिकाक्षक और चतुरस्रा पेशियों में शूल

होता है और जब रोग अधिक विस्तृत होता है तो ग्रीवा की अन्य पेशियों में, उदरच्छदा तथा अन्तर्पार्श्विक पेशियों में दबाने से शूल होता है। पार्श्वकला के प्रदाह में, त्वचा में अति साम्वेदनिकता और अति सुकुमारता होती है। खाँसी से ये शूल नहीं होते; क्योंकि वे केवल एक पार्श्व में होते हैं और शूल के साथ साथ प्रादेशिक मांसपेशियाँ संकुचित होकर कड़ी होजाती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सक्रिय क्षय-रोग में जो सुकुमारता मिलती है, वह मांसपेशियों की अकड़न का परिणाम होती है। भीतर के रुग्न भाग की रक्षा करने के लिए मांसपेशियाँ कड़ी होजाती हैं और बाद को वे क्षीण होजाती हैं।

रोगी के अन्तिम दिनों में सब प्रत्यावर्तक क्रियायें शिथिल होजाती हैं; फलतः सब प्रकार के शूल बन्द होजाते हैं। वस्तुतः शूल के अभाव से रोगी की दशा कभी कभी बहुत आशाजनक होजाती है।

मानसिक भाव—क्षय-रोगियों में जो मानसिक विकार मिलते हैं उनको प्रधानतः संयोगमात्र समझना चाहिए। चूँकि क्षय-रोग लोगों में बहुत बड़ी संख्या में होता है और इसके कारण मानसिक विकारों के होने में कोई रुकावट नहीं होती, इसलिए कुछ क्षय रोगियों में अन्य कारणों से मानसिक विकारों का होना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि पागलों की एक बहुत बड़ी संख्या की मृत्यु क्षय-रोग से होती है; परन्तु इसका कारण उनका अनियमित जीवन तथा बन्द रहना होता है। क्षय-रोग की अन्तिम अवस्था में प्रायः प्रलाप होता है जो अन्य रोगों के प्रलाप से भिन्न नहीं होता। परन्तु इन आकस्मिक मनोविकारों के अतिरिक्त, जिनका कुछ क्षय रोगियों में मिलना स्वाभाविक है, राजयक्ष्मा में कुछ अन्य मानसिक विलक्षणताएं देखी गईं हैं। अनेक लेखकों ने क्षय रोगी की एक विशिष्ट मनोवृत्ति का उल्लेख किया है।

इसप्रकार की मनोवृत्ति शिशुओं में भी देखी गई है। बहुत से लोग इस बात से सहमत हैं कि क्षयी-विषों का प्रभाव शिशुओं के वात-संस्थान पर वैसा ही पड़ता है, जैसा कि बड़े बच्चों पर और उनसे शिशुओं के स्वभाव में परिवर्तन होजाता है। शिशु प्रसन्नवदन नहीं रहता, न कभी हँसता है और अकारण रोने लगता है। नींद कम आने लगती है, रात में बीच-बीच

में आँख खुल जाती है, परन्तु प्रातःकाल उसको उठाना कठिन होता है। स्वभाव में यह परिवर्तन अधिकतर उन बच्चों में होता है, जिनमें मस्तिष्कावरण का क्षय होता है; परन्तु अन्य प्रकार के क्षय रोगों में भी यह पाया जाता है।

बहुत से क्षय रोगियों के स्वभाव और मनोवृत्ति में बड़ा परिवर्तन होजाता है और उनकी पुरानी आदतों, आचार विचार तथा भाव में परिवर्तन होजाता है। कुछ रोगियों में यह परिवर्तन रोग के प्रादुर्भाव से पहले ही होने लगता है और बहुतों में रोग के साथ-साथ व्यक्त होता है। रोग की दशा सुधरने पर रोगी की मानसिक दशा भी सुधर जाती है और रोग बढ़ने पर बिगड़ जाती है।

रोगी के स्वभाव में यह परिवर्तन कई प्रकार व्यक्त होता है। उदार व्यक्ति सूम तथा अनुदार और वीर भीरु होजाते हैं। एञ्जिल का कहना है कि मौलिक आन्तरिक स्वभाव पुरातन क्षय-रोग में अधिक प्रमुख होजाता है। निराशावादी की निराशा बढ़ जाती है और आशावादी अत्यन्त आशापूर्ण होजाते हैं। रोगी का मानसिक संगठन बहुत कुछ उसकी शारीरिक दशा पर अवलम्बित होता है, जिसमें क्षय-रोग में बड़े बड़े परिवर्तन होते रहते हैं। रोगी की दशा अचानक कभी सुधर जाती है और कभी बिगड़ जाती है। मनोवृत्तियाँ स्वयं तो नहीं बदलतीं, परन्तु तरुणावस्था के जो विशिष्ट मानसिक भाव होते हैं और जो आगे चलकर शिक्षा और जीवन की ऊँच नीच से दब जाते हैं, वे फिर से जाग्रत होजाते हैं और उन पर लोक-लज्जा का कोई प्रभाव नहीं रहता।

क्षयरोगी की एक चित्तवृत्ति जिसका अधिकांश लेखकों ने उल्लेख किया है, यह होती है कि वह स्वार्थी होजाता है। वह अपनी ही बातचीत करता है और अपना ही ध्यान रखता है। उसको केवल अपने ही हित की चिन्ता रहती है और दूसरों की, जो उस पर पहले आश्रित थे, कुछ भी परवाह नहीं रहती। वह स्वयं अच्छा क़ीमती भोजन चाहता है, चाहे उसके बच्चे भले ही भूखों मरें। मित्रों और सम्बन्धियों की सहायता पर उसकी अनुचित मांगें होती हैं और उनके लिए वह कृतज्ञ नहीं होता। स्वास्थ्यशालाओं में यह सबसे बड़ी महत्वपूर्ण समस्या होती है जिसको कर्मचारियों को हल करना पड़ता है। क्षय रोगी की इस मनोवृत्ति को ठीक ठीक न समझ पाना अनेक अध्यक्षों की असफलता का कारण होता है।

कुछ रोगियों में यह बात इतनी सुस्पष्ट होती है कि उससे उनके चरित्र के गुप्त तत्व व्यक्त होजाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि क्षय रोगी वहमी हो जाते हैं, अपने उत्तरदायित्व का कुछ भी विचार नहीं करते, और संक्रमण के फैलाने में प्रायः उनको कोई हिचकिचाहट नहीं होती। बहुत से प्रौढ़ क्षय-रोगियों का स्वभाव बच्चे का सा स्वार्थी, चिड़चिड़ा, शीघ्र कोपी, भोजन का लालची, और यथाइच्छा अनियतरूप से खानेवाला होता है। बच्चों की भाँति इनको दूसरों का ख़याल नहीं रहता और ये सदैव असन्तुष्ट तथा अकृतज्ञ होते हैं।

आशावाद—रोग के बढ़ने से शरीर क्षीण होने पर भी रोगी बहुधा आशापूर्ण होता है। केवल अधिक रक्त-निष्ठीवन या स्वाभाविक वायु-वक्ष होने से साधारण क्षय रोगी कुछ भयभीत होता है अन्यथा और सब लक्षणों को वह तुच्छ समझता है। खाँसी के बढ़ने का कारण ज़ुकाम और अरुचि का कारण कुपथ्य समझने लगता है।

वात-संस्थान के कुछ कार्यात्मक विकारों (Functional Neuroses) को छोड़कर अन्य कोई ऐसा रोग नहीं है जिसमें सुझाने (Suggestion) का रोग की गति और लक्षणों पर इतना प्रभाव पड़ता हो जितना कि क्षय-रोग में पड़ता है। केवल पानी की पिचकारी लगाने से नींद आ जाती है, शूल, खाँसी इत्यादि कम होजाते हैं एवं यक्ष्मिन प्रतिक्रिया के समान शरीर का ताप तक बढ़ जाता है! यूरोप की अनेक स्वास्थ्यशालाओं में परीक्षा के हेतु यक्ष्मिन का प्रयोग करने से पूर्व,यह देखने के लिए कि ज्वर पर कितना मानसिक प्रभाव होता है, पानी की पिचकारी लगाने का नियम है। यह देखा गया है कि २० प्रतिशत रोगियों में पानी की पिचकारी लगाने से प्रति-क्रिया उत्पन्न होजाती है। कुछ चिकित्सक सफलतापूर्वक प्रतिक्रिया उत्पन्न होने के समय तक का संकेत कर देते हैं। क्षय रोगियों पर संकेत का यह प्रभाव क्षयोपचार में विशद रूप से दिखाई देता है। झूठे बनावटी डाक्टर और इश्तिहारी दवाइयाँ अन्य रोगियों की अपेक्षा क्षय-रोगियों पर अधिक फलते फूलते हैं।

अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि जब किसी विस्तृत रंध्र या तेज़ बुखारवाले क्षय रोगी को यह विश्वास होने लगता है कि उसकी दशा सुधर गई है और उसको न दर्द है और न खाँसी, तो यह समझना चाहिए कि

मृत्यु उस विचारे को सब कष्टों से शीघ्र ही मुक्त करनेवाली है। मरणासन्न रोगियों को प्रायः अपने भविष्य के सम्बन्ध में बड़ी बड़ी आयोजना और तदबीरें सोचते देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। बहुधा इस आशावाद से इन रोगियों के रोग-निवारण के प्रयत्न में बड़ी सहायता मिलती है। यह सबको मालूम है कि निराशावादी क्षय रोगी को लाभ पहुँचाना बड़ा कठिन होता है। परन्तु दूसरी ओर इस आशावाद से कभी कभी हानि भी होती है, क्योंकि इससे रोगी को भ्रम होजाता है और वह चिकित्सक के आदेशों की उपेक्षा करने लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि क्षय-कीटाणुओं तथा नष्टभ्रष्ट फुफ्फुस-तंतुओं से उत्पन्न विषों के शोषण से क्षय रोगी की मानसिक अवस्था वैसी ही होजाती है, जैसी शराब के हलके नशे की दशा में। क्षय रोगी की वाह्य आकृति से भी उसकी मादक अवस्था झलकती है। उसकी चौड़ी पुतलीवाली चमकती हुई आँखें, तमतमाए हुए गाल और तीव्र बुद्धि उस आदमी की सी होती हैं, जिस पर शराब या किसी मादक द्रव्य का हलका नशा होता है। जो रोग से पहले मंद बुद्धि होते हैं उनमें बुद्धि प्रायः तीव्र होजाती है।

क्षय रोगियों में विशेषकर तरुण विद्वान रोगियों में यह देखा जाता है कि बीच बीच में सप्ताह या मास के लिए उनमें अत्यधिक प्रतिभा का विकास होता है। यह बात विशेषकर उन लोगों में देखने में आती है जिनमें कला की प्रवृत्ति या ग्रन्थ लिखने की कल्पनाशक्ति होती है। उनमें निरन्तर चित्तोद्वेग रहता है, परन्तु शारीरिक कष्ट होने पर भी वे काम करते रहते हैं और सर्वोत्तम कृतियाँ रोग की दशा में उत्पन्न करते हैं। क्षय-रोग का बुद्धि पर प्रभाव होता है। क्षयी-विषों की मानसिक उत्तेजना से बुद्धि तीव्र हो जाती है। उनकी स्मरणशक्ति, शीघ्र निर्णय करने की शक्ति तथा तर्क-शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

बहुत से बड़े बड़े लेखक और कलाविदों के क्षयी होने से यह विदित होता है कि ऐसे गुणी व्यक्तियों में भी क्षय-रोग कम नहीं होता और इस रोग से कम होने की अपेक्षा उनकी प्रतिभा और भी बढ़ जाती है।

निद्रानाश—क्षय-रोग के प्रारम्भ में रोग की चिन्ता और बेचैनी से कभी कभी निद्रा-नाश होजाता है जो रोगी को सान्त्वना देने से बहुधा दूर

होजाता है। वास्तव में थोड़े दिनों में विशिष्ट आशावाद उत्पन्न होजाता है और उसके बाद फिर रोगी की नींद में कमी नहीं होती।

अन्य रोगियों में खाँसी या रात्रिस्वेद अधिक होने से नींद नहीं आती। कुछ रोगियों में साधारण मात्रा में नींद लानेवाली औषधियों के देने से कोई लाभ नहीं होता। नींद की कमी विशेषकर उन रोगियों में होती है जिनमें खाँसी के दौरे होते हैं। प्रत्येक दौरे में रोगी की आँख खुल जाती है और वह घंटे दो घंटे तक जागता रहता है। ऐसे रोगियों को खाँसी शान्त करनेवाली औषधियों का देना आवश्यक होता है। अधिक रात्रिस्वेद का भी नींद पर प्रभाव होता है। पसीने से भीगकर जागने के बाद फिर रोगी को नींद नहीं आती।

रोग की सम्वृद्ध अवस्था में बहुत से रोगियों को नींद आना कठिन होजाता है, क्योंकि फेफड़ों के रंध्रों में स्राव भर जाता है जो थोड़ी-सी नींद के बाद श्वास प्रणालियों में बह आता है और रोगी को उठकर उसको बाहर निकालने के लिए विवश होना पड़ता है। जिन रोगियों में एक ओर रोग होता है, उनको किसी एक करवट से नींद आ जाती है और उसी करवट सोने की उनको आदत पड़ जाती है; परन्तु अन्य रोगियों को, जिनके दोनों फेफड़ों में रंध्र होते हैं, चित्त लेटने से तुरन्त खाँसी आ जाती है। कुछ रोगियों को खाँसी से बचने के लिए सिर झुकाकर और कुछ को ढलवा लेटकर सोना पड़ता है। कुछ रोगियों को श्वास फूलने से नींद नहीं आती। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में कभी कभी ज्वर के कारण नींद नहीं आती, परन्तु सम्वृद्ध अवस्था में ऐसा बहुत कम होता है; क्योंकि सम्वृद्ध रोगी साधारणतः ज्वर का आदी हो जाता है और फिर उसको इतना कष्ट नहीं होता।

रोग की अन्तिम अवस्था में प्रायः क्षय रोगियों में असाधारण तंद्रा आ जाती है। कई दिनों तक रोगी तंद्रा की अवस्था में पड़ा रहता है, उसको अपने शरीर की कुछ खबर नहीं रहती और केवल जब कभी कुछ खाने के लिए जाग उठता है। यदि इसका कारण कोई शमनकारी औषधि न हो तो उपद्रवरूप मस्तिष्कावरण का विकार समझना चाहिए। परन्तु कुछ ऐसे रोगी देखने में आते हैं, जिनमें मृत्यु से पूर्व कई दिनों तक असाधारण तंद्रा रहती है, परन्तु शवच्छेद करने पर मस्तिष्कावरण का कोई विकार नहीं मिलता।

क्षय-रोग का जननेन्द्रियों पर प्रभाव—क्षय-रोग का जननेन्द्रियों और उनके कार्यों पर बड़ा प्रभाव होता है। स्त्रियों में क्षय-रोग में मासिक धर्म के विकार साधारणतः होते हैं और कभी कभी ये विकार रोग के लक्षणों के व्यक्त होने से पहले ही होने लगते हैं। नवयुवतियों में रजोदर्शन से रोग की प्रगति कुछ रुक जाती है। सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन चिकित्सक मासिक धर्म के अभाव को क्षय-रोग का कारण समझते थे; परन्तु अब यह ज्ञात होगया है कि यह रोग का कारण नहीं, प्रत्युत फल होता है। क्षय-रोग में मासिक धर्म बहुधा बन्द होजाता है और कई अन्य विकार भी होते हैं; परन्तु कुछ क्षयी स्त्रियाँ ऐसी देखने में आती हैं जिनमें मासिक धर्म ठीक बना रहता है।

ऋतुकाल में और कभी कभी उससे कुछ दिन पूर्व रोग कुछ बढ़ जाता है। ज्वर और खाँसी बढ़ जाती है, कण बढ़ जाते हैं और जहाँ वे पहले सुनाई नहीं देते थे, वहाँ सुनाई देने लगते हैं और फुप्फुस तंतु के नए भाग रोगाक्रान्त होजाते हैं। इस काल में रक्त-निष्ठीवन अधिक होता है और कभी कभी मासिक धर्म का स्थान ले लेता है। मासिक धर्म से पूर्व ज्वर के प्रकट होने के सम्बन्ध में पूर्व परिच्छेद में लिखा जा चुका है।

क्षय-रोग की हर अवस्था में गर्भ रह सकता है और गर्भावस्था का काल प्रायः निर्विघ्न पूरा होजाता है। जो बच्चा उत्पन्न होता है वह काफ़ी मोटा ताज़ा होता है, परन्तु उसकी जीवनी शक्ति कम होती है। रीब मेयर का विश्वास है कि स्वस्थ स्त्रियों की अपेक्षा क्षयी स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति अधिक होती है। प्रकृति शक्ति की कमी को संख्या की वृद्धि से पूरा करती है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

क्षय रोगी की परीक्षा

क्षय रोगी के शरीर की, विशेषकर उसके वक्ष की परीक्षा, उसका हाल सुनकर और लक्षणों के सम्बन्ध में पूछताछ करके बड़ी सावधानी से और विधिपूर्वक करनी चाहिए। केवल लक्षणों से रोग का पूरा पता नहीं लग सकता; क्योंकि लक्षण इन्द्रियों के कार्य में विकार होने से उत्पन्न होते हैं, उनसे इन्द्रियों की बनावट के विकारों का पता नहीं लगता। रोगी के शरीर में रोग से क्या क्या विकार होगये हैं, इसका पता शरीर की परीक्षा करने से ही चल सकता है। इसलिये परीक्षा का महत्व स्पष्ट है। रोग के सफल इलाज के लिए यह आवश्यक है कि जितना शीघ्र होसके रोग का पता लगा लिया जाय। रोग के प्रारम्भ में लक्षण इतने स्पष्ट नहीं होते कि केवल उन्हीं से रोग का निश्चयपूर्वक पता लगाया जासके। रोग का शीघ्रातिशीघ्र पता लगाने के लिए यह आवश्यक है कि जितने भी साधन उपलब्ध हों, उन सब का उपयोग किया जाय। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि सब क्षय रोगी इतने समझदार नहीं होते कि अपने रोग और लक्षणों का पूरा पूरा हाल बता सकें और न उनको इतनी जानकारी ही होती है कि प्रारम्भ के स्पष्ट लक्षणों की ओर उनका ध्यान आकर्षित होजाय और वे उनके महत्व को समझ सकें।

केवल रोग का पता लगाने के लिए ही नहीं, अपितु इलाज के ठीक-ठीक संचालन, रोग की प्रगति का पता लगाने और उसकी साध्यासाध्यता का निर्णय करने के लिए भी शारीरिक परीक्षा की आवश्यकता होती है।

सफल परीक्षा के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं। एक यह कि अधिक से अधिक बातें ज्ञात हों और ठीक ठीक ज्ञात हों। दूसरी यह कि जो बातें ज्ञात हों उनसे ठीक ठीक निष्कर्ष निकाला जाय। इस सम्बंध में यह बताना

आवश्यक है कि शरीर की परीक्षा से केवल इतना ही पता लगता है कि रोग से शरीर की प्राकृतिक बनावट में क्या परिवर्तन होगया है। वक्ष की परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि फेफड़े और पार्श्वकला में क्या क्या विकार होगये हैं और वक्ष के अन्दर के अवयवों के आकार व परिमाण तथा स्थिति में क्या अन्तर होगया है। परीक्षा से स्वतः इससे अधिक पता नहीं चलता। ये परिवर्तन क्या हैं और उनका क्या कारण है, इसका पता लक्षणों तथा परीक्षा से ज्ञात चिह्नों पर साथ साथ सापेक्षिक विचार करने से लगता है। परीक्षकों को परीक्षा की इस परिमितता को ध्यान में रखना चाहिए।

वक्ष के विकारों का पता लगाने के लिए स्वस्थ वक्ष का ज्ञान होना अपरिहार्य है। स्वस्थ वक्ष में परीक्षा करने पर जो चिह्न मिला करते हैं उनसे भिन्न चिह्नों को विकार कहते हैं। जब तक प्रकृतिस्थ (Normal) वक्ष के चिह्नों का परीक्षक को ज्ञान नहीं होगा तब तक उसके परिवर्तनों को वह कैसे पहचान सकता है। वक्ष के विकार तुलनात्मक होते हैं और उनकी तुलना स्वस्थ वक्षों से की जाती है। स्वस्थ वक्ष के चिह्नों में जितने अधिक परिवर्तन होते हैं, विकार उतने ही अधिक बड़े समझे जाते हैं। परन्तु इस सम्बंध में एक कठिनाई, जिसका ज्ञान होना परीक्षक के लिये अत्यावश्यक है, यह होती है कि स्वस्थ वक्ष कोई ऐसा निरपेक्ष, निश्चित और स्थिर मान नहीं होता, जिससे विकारों की तुलना की जा सके। विभिन्न स्वस्थ व्यक्तियों के वक्षों में परस्पर कुछ न कुछ अन्तर होता है। कोई भी दो स्वस्थ वक्ष बिलकुल एक से नहीं होते। उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होते हैं उनकी गणना विकारों में नहीं की जा सकती, क्योंकि वे स्वस्थता की सीमा के अन्तर्गत होते हैं। इन स्वस्थ परिवर्तनों का परीक्षक के लिए ज्ञान होना अनिवार्य है। यदि ऐसा न होगा तो भ्रम और भूल होने की सम्भावना रहेगी। स्वस्थ दशा में दाहिने और बायें वक्षार्द्धों में जो चिह्न मिलते हैं, उनमें भी परस्पर कुछ अन्तर होता है। परीक्षक को इनका भी ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान केवल अनुभव और अभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि लगभग सब रोग-चिह्न वक्ष के शब्दोत्पादक या शब्द वाहक गुण पर आश्रित होते हैं; परन्तु यह वक्ष-रूपी वाद्ययंत्र बड़ा अपूर्ण होता है और सब वक्ष किसी एक विशेष नमूने के बने नहीं होते। अतएव स्वस्थ अवस्था में भी इससे जो शब्द निकलते हैं वे कृत्रिम

यंत्रों की भाँति सब वक्षों में एक से नहीं होते, प्रत्युत उन सब में कुछ न कुछ अन्तर होते हैं। स्वस्थ वक्ष के इन परिवर्तनों का ज्ञान केवल अनुभव से ही प्राप्त होता है और यह अनुभव स्वस्थ मनुष्यों के वक्षों की परीक्षा करने से प्राप्त होता है। जिस परीक्षक को जितना अधिक अनुभव होगा उसको उतना ही अधिक ज्ञान होगा और भ्रम होने की उतनी ही कम सम्भावना होगी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि परीक्षा से जो रोग-चिह्न मिलते हैं, उन पर व्यापक दृष्टि से तुलनात्मक विचार करने की आवश्यकता होती है; क्योंकि जिन परिवर्तनों पर हम अवलम्बन करते हैं वे केवल सापेक्षिक होते हैं। सफल परीक्षा के मार्ग के उपरोक्त गड्ढों से बचने के लिए परीक्षा बड़ी सावधानी से और विधिपूर्वक करनी चाहिए और परीक्षाद्वारा प्राप्त रोग-चिह्नों से किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने में बुद्धिमत्ता से काम लेना चाहिए।

क्षय-रोग वस्तुतः एक ऐसा रोग है जिसकी गति विरत होती है। इसके प्रारम्भ का साधारणतः पता नहीं चलता। प्रारम्भिक दौरों को लोग प्रायः जुकाम या साधारण हरारत समझते हैं और इसलिए जब कुछ दिनों में दौरे शान्त होजाते हैं तो क्षय-रोग का सन्देह तक नहीं होता। इसका फल यह होता है कि जिस समय रोगी चिकित्सक के पास आता है, उस समय रोग इतना बढ़ा हुआ होता है कि उसके पता लगने में कठिनाई नहीं होती। यह बात उन रोगियों के सम्बंध में भी ठीक होती है जिनके रोग का प्रारम्भ रक्त-निष्ठीवन से होता है। इनमें भी निपुणता के साथ परीक्षा करने पर रोग-सूचक चिह्न मिल जाते हैं, जिनसे इस बात का पता लग जाता है कि रोग का वास्तविक प्रारम्भ तथाकथित आद्य रक्तपात से पहले हो चुका था। चिकित्सकों और जन-साधारण के लिए यह अच्छी तरह समझ लेना अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण है कि इस अवस्था में भी रोग का पता लग सकता है, परन्तु इसके लिए आवश्यक निपुणता चाहिए। अब प्रश्न यह है कि यह निपुणता कैसे प्राप्त हो सकती है ?

यह निपुणता प्रधानतः दो बातों पर निर्भर होती है, एक ईश्वरीय देन, और दूसरा अभ्यास। कुछ लोगों में हस्तकौशल और बुद्धि स्वभावतः अधिक होते हैं और कुछ में कम। इसके अतिरिक्त परीक्षा सम्बन्धी कुशलता

और उससे ठीक ठीक निष्कर्ष निकालने की शक्ति अभ्यास और अनुभव से भी प्राप्त होती और बढ़ती है। केवल वक्ष का ठोकना और उस पर उरवीक्षक यंत्र का लगाना ही काफ़ी नहीं है। परीक्षाओं की विधियों को ठीक ठीक सीखने की और उनके सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता होती है। इनके सीखने में जो चिकित्सक जितना अधिक समय लगाता है उतना ही उसका ज्ञान बढ़ता है। प्रतिवर्ष परीक्षा-विधियों के ज्ञान का भंडार बढ़ता जाता है, परन्तु खेद है कि चिकित्सक उनके सीखने में इतना समय नहीं देते कि उनके समकक्ष बने रह सकें। फलतः प्रयोगशाला की जाँच और विशिष्ट परीक्षाएँ लोकप्रिय होती जा रही हैं; क्योंकि इसप्रकार की परीक्षाओं में साधारण चिकित्सक का समय बहुत कम लगता है और उनमें विज्ञान और नवीनता की चमकदमक होती है। इस प्रवृत्ति से रोग-परीक्षा की कला बजाय उन्नत होने के अवनति की ओर जा रही है और पुरानी विधियों की उपेक्षा होने लगी है। साथ ही इससे नवीन विधियों का, जो विज्ञान और आधुनिकता के वायुमण्डल के कारण इतनी आकर्षक होती है, दुरुपयोग होने लगा है।

कुछ लोगों के भ्रमात्मक उत्साह के कारण कितने ही चिकित्सकों को इन परीक्षाओं के वास्तविक मूल्य तथा रोग-निरूपण में उनका क्या स्थान होना चाहिए, इस बात का ज्ञान नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि इन परीक्षाओं का रोग का पता लगाने में बड़ा मूल्य होता है, परन्तु उनके कारण पुरानी परीक्षा-विधियों का किसी प्रकार भी त्याग नहीं किया जा सकता। शारीरिक परीक्षा की बारीकियों में दक्षता प्राप्त करने की आवश्यकता पर पहले की अपेक्षा आजकल अधिक जोर देना चाहिये। परन्तु केवल परीक्षा-विधियों के सीखने से ही काम नहीं चल सकता, परीक्षाद्वारा ज्ञात बातों की ठीक ठीक व्याख्या करने की योग्यता और बुद्धि की भी आवश्यकता होती है।

परीक्षकों को नई विधियों के प्रयोग और परीक्षात्मक मूल्य का भी ज्ञान होना चाहिए, ताकि वे उनसे भी लाभ उठा सकें। एक्सरे और यक्ष्मिन परीक्षाओं के सम्बन्ध में यह बात विशेषरूप से लागू होती है। उचित समय पर उनका उचित प्रयोग करने से बड़ा लाभ होता है।

परीक्षा का कमरा—परीक्षा के फलप्रद होने के लिए उसे उचित रीति से करने की आवश्यकता होती है। परीक्षा के कमरे में यथेष्ट प्रकाश

होना चाहिए और बहुत ही उत्तम हो यदि शीत ऋतु में उसे गरम किया जा सके। रोगी का चेहरा खिड़की की ओर होना चाहिए, जिससे दोनों पार्श्वों की आकृति और गति में थोड़ा-सा भी अन्तर भली प्रकार दिखाई दे सके।

रोगी की स्थिति—परीक्षा करते समय रोगी की क्या स्थिति होनी चाहिए, यह एक महत्व की बात होती है। इसलिए इस सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि चारपाई पर रोगी के लेटे रहने पर उसके वक्ष की ठीक ठीक परीक्षा नहीं की जा सकती, और न दोनों पार्श्वों की परस्पर तुलना हो सकती है, जिसका होना प्रारम्भिक क्षय के पहचानने में बड़ा आवश्यक होता है। इसलिए रोगी को या तो खड़ा होना चाहिए या किसी ऊँची तिपाई पर बैठना चाहिए ताकि परीक्षक सुगमता से उसके आगे-पीछे जा सके। रोगी के कमर से ऊपर के सब कपड़े उतरवा देने चाहिए। उसके कंधे सामने को ख़ूब झुके हुए और ठोड़ी नीचे को गिरी हुई होनी चाहिए। उसकी निगाह परीक्षक की वास्कट के किसी बटन पर होनी चाहिए। यह बड़ा आवश्यक है कि वह स्वाभाविक स्थिति में आराम से बैठे ताकि उसकी बैठक में किसी प्रकार की अकड़न न हो। पीठ की परीक्षा के लिए रोगी का शिर, कंधे और भुजा सामने और नीचे को, जहाँ तक हो सके, झुके होने चाहिए। इससे लाभ यह होता है कि सब कशेरूकटंक ऊपर उठ आते हैं, और अंसफलक बाहर को हट जाते हैं, जिससे पीठ का अधिक से अधिक भाग परीक्षा के लिए उपलब्ध होजाता है। रोगी की ठीक स्थिति का ज्ञान चित्र नं० ५३ और ५४ के देखने से हो सकता है।

परीक्षा विधियाँ—आजकल क्षय-रोगी की परीक्षा के लिए निम्नलिखित विधियों से काम लिया जाता है—

(१) निरीक्षण (Inspection)
(२) स्पर्शन (Palpation)
(३) विघातन (टकोरना) (Percussion)
(४) श्रवण (Auscultation)
(५) एक्सरे अर्थात् रोञ्जनकिरण परीक्षा (Xray Examination)
(६) थूक की परीक्षा (Sputum Examination)
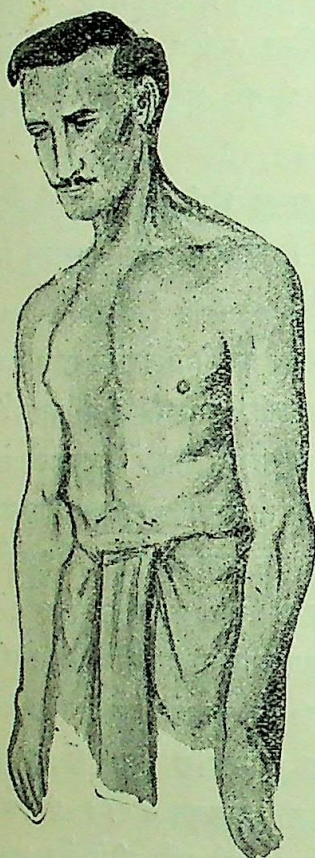
चित्र नं० ५३—परीक्षा के समय रोगी की ठीक स्थिति (सामने)
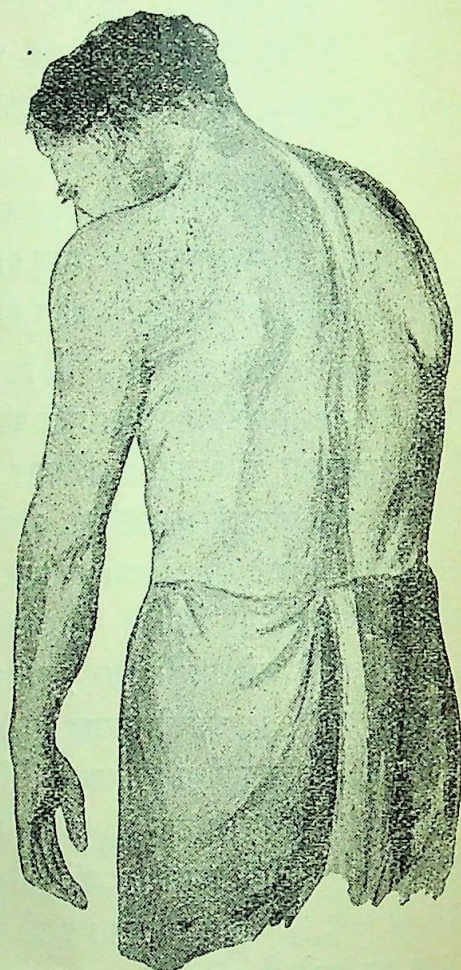
चित्र नं० ५४—परीक्षा के समय रोगी की ठीक स्थिति (पीछे)

(७) यक्ष्मिन इत्यादि अन्य परीक्षायें (Tuberculin and other tests)

थूक की परीक्षा की आलोचना कफ और खाँसी शीर्षक परिच्छेद में की जा चुकी है। यक्ष्मिन इत्यादि अन्य परीक्षाओं की आलोचना आगे चलकर प्रारम्भिक क्षय की पहचान सम्बन्धी परिच्छेद में की जायगी।

अठारहवाँ परिच्छेद

निरीक्षण

निरीक्षण का महत्व—साधारणतः यह देखा जाता है कि चिकित्सक लोग प्रायः अपना वक्षपरीक्षक यंत्र (Stethoscope) निकालकर तुरन्त रोगी के वक्षःस्थल की परीक्षा करने लगते हैं, मानो परीक्षा करने का केवल यही एक साधन है। वक्षःस्थल की परीक्षा में एकदम यन्त्रों से काम लेना बड़ी भूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालान्तर में इनके प्रयोग से बड़ा लाभ होता है; परन्तु परीक्षा के प्रारम्भ में इनका प्रयोग करने से भूल और भ्रम होने की सम्भावना रहती है। इस सम्बन्ध में ७० वर्ष से भी अधिक पूर्व काटन ने जो बात कही थी, वह स्मरण रखने योग्य है। "काफी बढ़ा हुआ होने पर भी केवल यंत्रों द्वारा वक्षःस्थल की परीक्षा करने से क्षय-रोग का कभी कभी पता नहीं चलता"। आधुनिक यांत्रिक विधियों की अपेक्षा अनुभवी नेत्र और अभ्यस्त करस्पर्श से रोग का अधिक पता लग सकता है; परन्तु इस यांत्रिक युग में हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के उपयोग की उपेक्षा करने लगे हैं। कोरीगन कहा करते थे कि अधिकांश परीक्षकों में दोष यह नहीं होता कि वे कम जानते हैं; परन्तु यह होता है कि वे देखते कम हैं। निरीक्षण से अन्य परीक्षा-विधियों की अपेक्षा हर समय अधिक सूचना मिलती है। राजयक्ष्मा की पहचान में निरीक्षण का मूल्य इस बात से सिद्ध होता है कि किसी स्वास्थ्यशाला में घूम फिरकर केवल देखने से रोगी के सम्बन्ध में निम्नलिखित पाँच बातें बताई जा सकती हैं:—

(१) रोगी को फेफड़े का क्षय-रोग है अथवा नहीं।
(२) यदि है, तो उग्र है या हलका, नया है या पुराना।
(३) रोग किस फेफड़े में कितना बढ़ चुका है।
(४) रोगी की कार्यशक्ति कितनी कम होगई है।
(५) रोग साध्य है या असाध्य।

यह सच है कि केवल निरीक्षण से जो बाते ज्ञात होती हैं वे सदा

ठीक नहीं होता। आगे चलकर जब अन्य परीक्षा-विधियों से अधिक प्रकाश पड़ता है तब उससे कभी कभी राय में परिवर्तन करना पड़ता है, परन्तु अधिकांश रोगियों में निरीक्षण से जो राय बनती है, वह ठीक निकलती है।

निरीक्षण का क्रम—इस बात को स्मरण रखते हुये कि क्षय एक सार्वाङ्गिक रोग होता है और यद्यपि यह फेफड़ों में सीमाबद्ध रहता है, पर इसका प्रभाव सब शरीर पर पड़ता है, निरीक्षण में रोगी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को देखना चाहिये और प्रकृतिस्थ से भिन्न प्रत्येक बात पर विचार करना चाहिये और उसका कारण ढूँढ़ना चाहिये। सुगमता के विचार से साधारणतः रोगी के केवल कमर से ऊपर के कपड़े उतरवाये जाते हैं। इससे कम से काम नहीं चलता। यदि आवश्यक हो तो शरीर के निम्न भाग का बाद को निरीक्षण करना चाहिये। सामान्य नियम यह होना चाहिये कि वक्ष की परीक्षा से पूर्व अन्य सब शरीर की परीक्षा कर लेनी चाहिये। हाथ, भुजा, कन्धे, शिर तथा ग्रीवा की उत्तरोत्तर क्रमानुसार परीक्षा करनी चाहिये।

हाथों का निरीक्षण—सब से पहले रोगी के हाथों को देखना चाहिये और उसकी उँगलियों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्षय रोगियों में दो प्रकार की उँगलियाँ प्रायः पाई जाती हैं, (१) अनेक रोगियों की उँगलियों के सिरे मोटे हो जाते हैं और उँगलियाँ गदाकार (Clubbed) होजाती हैं। (२) कुछ रोगियों की उँगलियाँ लम्बी, पतली और शुंडाकार (Tapering) अर्थात् ऊपर से नीचे को पतली होजाती हैं (चित्र नं० ५५)। नखों की वक्रता लम्बाई और चौड़ाई दोनों दिशाओं में बढ़

(१)

(२)

चित्र नं० ५५—क्षय-रोग में उंगलियाँ
(१) गदाकार उंगली
(२) शुडांकार उंगली

जाती है और नख लम्बे होकर उँगलियों के सिरों पर झुक जाते हैं। उँगलियों की आकृति में परिवर्तन और नखों में टेढ़ापन राजयक्ष्मा में साथ साथ होते हैं। गदाकार उँगलियाँ क्षय-रोग के अतिरिक्त फेफड़ों के वायुध्मान रोग, हृदय रोग और अन्याय उन सब रोगों में भी पाई जाती हैं जिनमें फेफड़ों के रक्त-परिभ्रमण में रुकावट होती है।

नखों का रङ्ग भी ध्यान देने योग्य होता है। जो रोगी रोग का भली प्रकार प्रतिरोध करते होते हैं, उनकी उँगलियों के रङ्ग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। विषाक्त रोगियों के नख दृप्त (Flushed) होते हैं। जब फेफड़ों के रक्त-संचालन में रुकावट होती है तो नखों पर श्यामता आ जाती है। क्षय रोगी के हाथ स्पर्श करने पर साधारणतः शीतल और सान्द्र (Cold and clammy) प्रतीत होते हैं। हाथों की यह दशा रोग की साध्यासाध्यता का सूचक भी होती है। शीतल और सान्द्र स्पर्श से यह सूचित होता है कि शरीर के तन्तु रोग के विषों से परिपूर्ण होगये हैं।

क्षय-रोगियों की भुजा—हाथों के बाद रोगी की भुजा देखनी चाहिये। उन पर हाथ फेरकर देखना और अच्छा होता है। क्षय-रोगी की त्वचा बहुधा शुष्क और रूक्ष होती है, जिससे उपचर्म के पोषण की कमी सूचित होती है। कभी कभी स्वेद की अधिकता के कारण त्वचा स्पर्श में मखमल सी प्रतीत होती है। वसा के क्षीण होने से त्वचा प्रायः ढीली होकर लटकने लगती है। इसलिये इसको चुटकी से पकड़कर अधोस्थित तन्तुओं से सुगमता से अलग किया जा सकता है। भुजा की सब मांसपेशियाँ क्षीण होजाती हैं, इसलिये भुजा पतली पड़ जाती हैं।

कक्ष-स्वेद—भुजा-निरीक्षण के बाद रोगी की काँख की परीक्षा करनी चाहिये। यहाँ टटोलने पर कभी कभी बढ़ी हुई गिल्टियाँ मिलती हैं। इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता। फेफड़े के रोग से उनका सम्बन्ध नहीं होता। सम्भव है कि उनके फूलने का कारण क्षय-रोग हो अथवा अन्य कोई कारण, जैसा कि प्रायः होता है। क्षय-रोग में रोगी की काँख में पसीना बहुत आता है। थोड़े से परिश्रम या चित्तोद्वेग से पसीना आने लगता है। परीक्षा करते समय रोगी की कांख से प्रायः पसीना टपकने लगता है। यह अच्छा लक्षण नहीं होता। सधारणतः यह विषव्याप्ति का सूचक होता है।

क्षय-रोग में शिर—काँख के बाद रोगी के शिर को देखना

चाहिये। फेफड़े के क्षय-रोग में रोगी का शिर प्राय: उस ओर को झुका होता है, जिस ओर के फेफड़े में रोग होता है, यद्यपि रोगी को इसका पता नहीं होता। जिस ओर रोग होता है उस ओर की गर्दन की मांसपेशियों के अकड़ जाने से ऐसा होजाता है। क्षय-रोग का त्वचा के अन्य तन्तुओं की भाँति बालों पर भी प्रभाव होता है। बालों की चमक जाती रहती है, वे रूखे होजाते हैं और झड़ने लगते हैं। क्षय रोगियों को प्राय: यह शिकायत होती है कि उनके बालों की माँग ठीक नहीं कढ़ती और उनको अधिक तेल लगाने की आवश्यकता होती है। जैसे जैसे रोगी की दशा सुधरती जाती है, वैसे वैसे बालों पर चमक आती जाती है और वे पुष्ट होने लगते हैं।

क्षय रोगी की आकृति—क्षय रोगी की आकृति में एक विशिष्टता होती है जिससे उसको न केवल अनुभवी वैद्य ही, किन्तु साधारण मनुष्य भी पहचान सकते हैं। कायक्षीणता और चेहरे का पीलापन इत्यादि लक्षण तो अन्य क्षीणताकारक रोगों में भी होते हैं; परन्तु क्षय रोगी की आकृति में इनके अतिरिक्त एक और विशेषता होती है, जो अन्य रोगों में नहीं पायी जाती।

क्षय रोगी के चेहरे की मांसपेशियाँ क्षीण, गाल पिचके, गालों की हड्डी उठी हुई और होंठ पीले या श्याम होते हैं। कायक्षीणता क्षय-रोग का सदैव विशिष्ट लक्षण नहीं होती। स्वास्थ्यशाला में क्षय रोगियों के साधारणत: लाल और भरे हुये चेहरे बड़े चित्ताकर्षक होते हैं।

कपोलों का रङ्ग ध्यान देने योग्य होता है। कुछ रोगी बहुत पीले होते हैं। पीलेपन के साथ यदि कायक्षीणता भी हो तो बुरा लक्षण समझा जाता है। क्षय रोगी का चेहरा बहुत शीघ्र दृप्त होजाता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह तमक उस ओर के कपोल पर अधिक होती है जिस ओर के फेफड़े में रोग अधिक तीव्र होता है। क्षय रोगी के चेहरे पर इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की दृप्ति और होती है जिसको विषम दृप्ति (Hectic Flush) कहते हैं। यह दृप्ति इस बात की द्योतक होती है कि अब रोग ने अपना भीषण रूप धारण कर लिया है। इस दृप्ति में कपोल की हड्डियों के ऊपर अरुणता होती है और शेष सब चेहरा पीला होता है। यह साधारणत: मध्यान्होपरान्त काल के ज्वर के साथ प्रकट होती है।

क्षय-रोग में कान और नेत्र— राजयक्ष्मा में कान बड़े चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद होते हैं। जब रोग बढ़कर दोनों फेफड़ों में फैल जाता है तब

दोनों कान बसा और मांस के क्षीण होने से बड़े देख पड़ने लगते हैं। जब रोग एक ओर होता है अथवा एक ओर अधिक बढ़ा और तीव्र होता है तो उस ओर का कान बड़ा देख पड़ने लगता है। भौंहें प्रायः सघन और अधिक वक्र या बिल्कुल सीधी होती हैं और दोनों ओर की भौंहें बहुधा मध्यरेखा में एक दूसरे से मिल जाती हैं। (चित्र नं० ५६ और ५७)।

नेत्र अधिक चित्ताकर्षक होते हैं। राजयक्ष्मा में उनमें विशेष चमक होती है, परन्तु ओज नहीं होता। उनसे साधारणतः व्याकुलता और आर्तता टपकती है। आँखों के गोले गड्ढे में बैठे हुये होते हैं और बड़े प्रतीत होते हैं। कभी कभी एक नेत्र छोटा और दूसरा बड़ा प्रतीत होने लगता है। जब एक फेफड़े के शिखर पर रोग होता है अथवा शिखर की पार्श्वकला का प्रदाह होता है तो नेत्र की पिङ्गल नाड़ी (Sympathetic nerve) के उत्तेजित होजाने से उस ओर का नेत्र छोटा दिखाई देने लगता है। दोनों नेत्रों की पुतलियों की चौड़ाई में कभी कभी अन्तर हो जाता है।

क्षय-रोग में जिह्वा—क्षय रोगी की जीभ साधारणतः मैली होती है और प्रारम्भिक तथा प्रगतिशील रोग में जीभ की नोक और किनारे लाल होते हैं। प्रथम बार प्रायः क्षय-रोग का प्रादुर्भाव पाचन विकार के रूप में होता है, खाँसी के रूप में नहीं। जिस आयुकाल में (१५ से ३५ वर्ष तक) क्षय-रोग साधारणतः होता है, उसमें अरुचि, अफारा, भोजन के बाद भारीपन और उदर-शूल का यदि साधारण इलाज से निवारण न हो तो क्षय-रोग का सन्देह करना चाहिये और वक्ष की भली प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। जीभ की दशा की अपेक्षा बाहर निकली हुई जीभ से फेफड़ों के सम्बन्ध में अधिक सूचना मिलती है। जब रोगी जीभ को बाहर निकालता है तो वह प्रायः मध्य-रेखाओं में सीधी नहीं होती, प्रत्युत किसी ओर को झुकी हुई होती है। उग्र और प्रगत रोग में रोग की ओर और पुरातन रोग में दूसरी ओर को झुकी हुई होती है। पुरातन रोग में जीभ दूसरी ओर को इसलिये झुकी हुई होती है कि रोग के ओर की मांसपेशियाँ क्षीण हो जाती हैं, अतएव दूसरी ओर की मांसपेशियाँ जो अधिक प्रबल होती हैं, जीभ को अपनी ओर खींच लेती हैं। उग्र और प्रगत रोग में उस ओर की मांसपेशियों में अकड़न होने से जीभ उस ओर को मुड़ जाती है। (चित्र नं० ५८, ५९ और ६०)।

क्षय-रोग में ग्रीवा—ग्रीवा की परीक्षा में शिर सीधा और पीछे को झुका हुआ होना चाहिये। स्वस्थावस्था में ग्रीवा भरी हुई और उसके दोनों ओर कर्णमूल की अस्थि से लेकर अक्षकास्थि के बाहरी सिरे तक सुडौल गोलाई होती है। क्षय-रोग में गर्दन पतली होजाती है और लम्बी प्रतीत होने लगती है और उसके दोनों ओर गोलाई मिटकर कोण से बन जाते हैं। (चित्र नं० ५७--६१)। त्वचा के अधोस्थित तन्तुओं के क्षीण होने से और मांसपेशियों की अकड़न से स्वर-यंत्र, टेंटुआ, चुल्लिकाग्रन्थि इत्यादि अवयव उभरे हुये दिखाई देने लगते हैं। उरकर्णिका मांसपेशियाँ (Sterno-mastoids) कड़ी होकर ग्रीवा के दोनों ओर सामने दो रस्सियाँ सी दिखाई पड़ने लगती हैं। एक ओर के रोग में उसी ओर की मांसपेशी कड़ी होती है।

ग्रीवा में बढ़ी हुई लसिकाग्रन्थियाँ—ग्रीवा की परीक्षा को समाप्त करने से पूर्व टटोलकर यह देखना चाहिये कि उसमें बढ़ी हुई गिल्टियाँ तो नहीं हैं। फेफड़े के क्षय-रोग में साधारणतः इतनी बढ़ी हुई गिल्टियाँ नहीं पाई जातीं कि वे देखने में आ सकें। परन्तु लगभग ५० प्रतिशत क्षय रोगियों की गर्दन में छर्रे के समान छोटी छोटी और कठोर गिल्टियाँ होती हैं जो टटोलने से ज्ञात हो सकती हैं। इनका महत्व कुछ कम नहीं होता। बच्चों की गर्दन में गिल्टियाँ बहुधा पाई जाती हैं, परन्तु वे सदा क्षय-रोग की सूचक नहीं होतीं। अक्षकास्थि के ऊपर की बढ़ी हुई गिल्टियों का क्षय-रोगसूचक महत्व कहीं अधिक होता है, विशेषकर जब वे केवल एक ओर बढ़ी होती हैं।

वक्ष-निरीक्षण—शरीर के अन्य सब भागों का निरीक्षण करने के बाद वक्ष का निरीक्षण करना चाहिये। सबसे पहले वक्ष की व्यापक बनावट पर ध्यान देना चाहिये। बनावट की दृष्टि से वक्ष के कई रूप-भेद होते हैं। क्षय-रोग में वक्ष का कोई विशिष्ट रूपाकार नहीं होता। रोग की पहचान करने में वक्ष का आकार बहुत कम सहायक होता है। वक्ष के विकृत रूपों को जानने के लिए स्वस्थ वक्ष की बनावट और आकृति से परिचय होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वस्थ और सुडौल वक्ष केवल आदर्शमात्र होती है जो साधारणतः बहुत कम पाई जाती है।

स्वस्थ वक्ष--आदर्श स्वस्थ वक्ष यथाप्रमाण (Symmetrical) होती हैं और उसके दोनों पार्श्व समान होते हैं। दोनों अक्षकास्थियाँ अनुप्रस्थ होती हैं और बहुत उभरी हुई नहीं होतीं, केवल उनकी आकृतिमात्र दिखाई देती है। अक्षकास्थि के ऊपर और नीचे के प्रदेशों में थोड़ी सी गहराई होती है जो दाहिनी और बाईं ओर बराबर होती है। जब भुजाएँ धड़ से मिली हुई लटकी होती हैं तो अंसफलक (Scapula) पीठ पर दूसरी पसली से सातवीं पसली के समतल तक सपाट पड़े होते हैं। अंसप्राचीरक (Spine of Scapula) से ऊपर और नीचे के प्रदेश (Supra and Infra Spinatous fossæ) मांस से भरे होते हैं। पृष्ठवंश सीधा होता है और इसका ऊपरी भाग पीछे की ओर उन्नतोदर होता है। पसलियों का झुकाव ऊपर से नीचे को और पीछे से आगे को होता है। सामने उपपर्शुकाओं के मिलने से कौड़ी प्रदेश में जो कोण बनता है वह ६०° से ८०° तक का होता है। वक्षोऽस्थि देखने में कुछ नतोदर मालूम होती है। जहाँ इसका ऊर्द्ध खंड मध्य खंड से मिलता है वहाँ उँगली से टटोलने पर एक उभार मालूम होता है। इस उभार को वक्षोऽस्थि कोण या लुई का कोण (Angle of Louis) कहते हैं। स्वस्थ वक्ष का क्षितिज-काट अंडाकार होता है। इस काट का एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व का व्यास आगे पीछे के व्यास की अपेक्षा बड़ा होता है और इन दोनों में ७ : ५ का अनुपात होता है। स्वस्थ वक्ष में दोनों कंधों की ऊँचाई बराबर होती है।

क्षयी वक्ष

प्राचीन काल से लोग वक्ष के रूप के कुछ विकारों का क्षय-रोग या क्षय-प्रवणशीलता से विशेष सम्बंध मानते आये हैं। यह विचार इतना प्रचलित है कि वक्ष की आकृति के सब प्रकार के विकारों से लोग क्षय-रोग का सन्देह करने लगते हैं। परन्तु वास्तविक बात यह है कि वक्ष का कोई भी रूप ऐसा नहीं है जो क्षय-रोग का निश्चयात्मक चिह्न होता हो। यह अवश्य है कि वक्ष के रूप के कुछ विकार ऐसे होते हैं जिनसे क्षय-रोग की ओर संकेत होता है।

चपटा और पंखवत् वक्ष—वक्ष के ये दोनों रूप-भेद क्षय रोगियों में बहुधा पाये जाते हैं, परन्तु वे क्षय-रोग के निश्चयात्मक चिह्न नहीं होते, क्योंकि वे ऐसे रोगियों में भी पाये जाते हैं जिनमें जीवनपर्यन्त क्षय-रोग नहीं होता। चपटे वक्ष में पसलियाँ अधिक तिरछी और ढालू होती हैं

और फलत: पसलियों के अगले भाग और उपपर्शुकायें सामने उन्नतोदर होने के बजाय चपटे प्रतीत होते हैं। वक्ष बहुत लम्बी, संकीर्ण और चपटी होती है और अन्तर्पार्श्विक स्थल संकीर्ण होते हैं (चित्र नं० ६१)। वक्ष का अगला पिछला व्यास कम हो जाता है। अक्षकास्थि अधिक उभरी हुई होती है और उनके ऊपर तथा नीचे के गड्ढे अधिक गहरे हो जाते हैं। फ्रूएड का मत है कि वक्ष के इस रूप में प्रथम उपपर्शुका छोटी होती है। प्रथम उपपर्शुका की छोटाई और शीघ्र अस्थि-परिणति (Ossification) के कारण वक्ष का ऊपरी द्वार संकीर्ण होता है। यही कारण है कि क्षय-रोग फुप्फुस शिखर पर अधिक होता है। कंधे प्राय: सामने को झुके हुये होते हैं। कौड़ी प्रदेश का अन्तर्पार्श्विक कोण (Intercostal angle) छोटा हो जाता है, यहाँ तक कि यह कभी कभी २५° तक का हो जाता है। वक्ष प्रदेश का पृष्ठवंश आगे को झुक जाता है। पंखवत् वक्ष में इन सब बातों के अतिरिक्त अंसफलक पीठ पर सपाट होने के बजाय पंखों की भाँति उभरे हुये होते हैं।

चपटे वक्ष के दो भेद होते हैं, एक सहज और दूसरा उपार्जित। सहज चपटी वक्ष कभी कभी पैतृक भी होती है और क्षयी माता पिताओं से उत्पन्न नवजात शिशुओं में पाई जाती है। परन्तु पैतृक चपटी वक्ष बहुत बिरल होती है। सहज चपटी वक्ष अधिकतर निर्बल बच्चों में पाई जाती है, जिनका स्वास्थ्य स्वाभाविक रूप से खराब होता है। प्रौढ़ों में यह प्रधानत: उन्हीं व्यक्तियों में होती है जिनकी मांसपेशियाँ भली प्रकार विकसित न होने के कारण दुर्बल होती हैं। अन्तर्पार्श्विक पेशियों के निर्बल होने से उच्छ्वास की क्रिया निर्बल होती है जिससे वक्ष का प्रसार ठीक ठीक नहीं होता।

इसप्रकार के वक्षवाले व्यक्ति को अन्य रोग-लक्षणों के अभाव में क्षय-रोगी या क्षय-प्रवणशील कह देना बड़ी भूल है। दुर्बल गठन के बहुत से मनुष्यों में क्षय-रोग कभी नहीं होता। कुछ इस बात की साक्षी मिलती है जिससे यह प्रतीत होता है कि इस भाँति की दुर्बल वक्ष पुराने, विशेषकर बाल्यावस्था के क्षय-संक्रमण का फल होती है, जिससे वक्ष के अन्दर की लसिकाग्रन्थियों में रोग होकर अच्छा हो जाता है। इस पुस्तक में अन्यत्र यह बतलाया गया है कि बाल्यावस्था के इन क्षय-संक्रमणों से शरीर में कुछ रोगक्षमता उत्पन्न होजाती है, जिससे युवावस्था में फेफड़ों में क्षय-रोग के होने में रुकावट होती है।

उपार्जित चपटी वक्ष की बात भिन्न होती है। उपार्जित चपटी वक्षवाले लोगों के फेफड़ों में जाग्रत या शान्त क्षय-रोग होता है। अधिकांश रोगियों में यह पाया जाता है कि वक्ष की यथाप्रमाणता में अन्तर पड़ जाता है। जब रोग नवीन या उग्र होता है तो श्वाससम्बन्धी मांसपेशियाँ संकुचित होकर कड़ी होजाती हैं और जब रोग पुरातन होता है तो मांसपेशियाँ क्षीण होती हैं। एक अंसफलक दूसरे अंसफलक से अधिक पंखवत होता है और एक कंधा दूसरे कंधे से नीचा होता है। वक्ष की यथाप्रमाणता में अन्य अन्तर होजाते हैं, जिनका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

वक्ष के निरीक्षण में उसकी व्यापक आकृति पर विचार करने के बाद उसके प्रत्येक भाग पर ध्यान देना चाहिये। क्षय रोगी के वक्ष का विशिष्ट लक्षण उसकी अयथाप्रमाणता होती है। अभिव्यापन (Infiltration), बंधन (Adhesions), सूत्रनिर्माण (Fibrosis), रंध्रोत्पत्ति और सम्पीडन से एक ओर वक्ष पिचक जाती है। प्रतिपूरक वायुध्मान (Compensatory Emphysema) पार्श्वकला में जलस्राव तथा वायु से उस ओर का वक्ष फूल जाता है। वक्ष के इस पिचकने और फूलने से पसलियाँ एक ओर पास पास होजाती हैं और दूसरी ओर अन्तर्पार्श्विक स्थल चौड़े होजाते हैं। एक ओर का कंधा नीचा और दूसरी ओर का कुछ ऊँचा हो जाता है। पृष्ठवंश मध्यरेखा से किसी ओर हट जाता है। वक्ष के अस्थिपञ्जर के ये परिवर्तन उसके आच्छादक कोमल तंतुओं के क्षीण होने से और भी बढ़ जाते हैं। इसलिये वक्ष के विभिन्न भागों की परीक्षा में दाहिने और बाएँ, दोनों ओर के अनुरूप भागों की परस्पर तुलना करके देखना चाहिये कि उनमें कोई अन्तर तो नहीं है?

वक्ष के कोमल तंतुओं का निरीक्षण

वक्ष की त्वचा—वक्ष की त्वचा और उसके अधोस्थित तन्तु क्षय-रोग में साधारणतः क्षीण होजाते हैं। यदि रुग्नभाग के ऊपर की त्वचा को चुटकी से उठाया जाय तो वह ढीली और क्षीण प्रतीत होती है। वक्ष के ऊपरी भाग में और गर्दन में सेंहुआँ (Tinea Versicolar) नामक चर्म-रोग की सफ़ेद-सी चित्तियाँ बहुधा क्षय रोगियों में पाई जाती हैं।

वक्ष पर फूली हुई शिरायें—वक्ष के भीतर के रोगों में शिरा-रक्त के

हृदय के दाहिने कोष्ठ को लौटने में रुकावट पड़ जाती है। फलतः वक्ष पर शिरायें फूलकर दिखाई देने लगती हैं, विशेषकर सामने पहले और दूसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों में और पीछे पहले और दूसरे वक्ष कशेरु कंटकों के समीपस्थ प्रदेश में। क्षय-रोग में वक्ष के अन्दर लसिकाग्रन्थियों के बढ़ जाने से वहाँ की शिराओं पर दबाव पड़ता है, जिससे शिरा रक्त के प्रवाह में रुकावट होती है। वक्ष की दीवार की शिराओं के रक्त प्रवाह में भी, जो उनमें जाकर मिलती हैं, बाधा हो जाती है और फलस्वरूप वे फूलकर त्वचा में से दिखाई देने लगती हैं। लोम्बार्डी के मतानुसार पीछे फूली हुई शिरायें ८० या ९० प्रतिशत क्षय रोगियों में पाई जाती हैं।

वक्ष के निचले भाग में भी क्षय रोगियों में कभी कभी फूली हुई शिरायें मिलती हैं। उदर की फूली हुई शिराओं से इनका संबंध होता है। कभी कभी इनका सम्बन्ध नाभि के चारों ओर फूली हुई शिराओं से भी होता है। इनसे यह सूचित होता है कि उदर भी रोगाक्रांत होगया है।

स्तन—स्तनों की परीक्षा करनी चाहिये और उनका समतल, परिमाण और चूचुकों का रंग देखना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि मध्य रेखा से उनका स्थान कितनी दूर है। पुरातन क्षय-रोग में स्तन नीचे और मध्य रेखा के अधिक समीप हो जाते हैं (चित्र नं० ६०)। प्रारंभिक क्षय में रोग की ओर का स्तन बड़ा और पुरातन क्षय में छोटा प्रतीत होने लगता है। रोग की ओर के स्तन के चूचुक का रंग कभी अधिक गहरा होजाता है।

वक्ष की मांसपेशियां—क्षय-रोग में वक्ष की मांस पेशियों में अकड़न और शोष(Atrophy) ये दो प्रकार के परिवर्तन पाये जाते हैं; परन्तु ये परिवर्तन क्षय-रोग के विशिष्ट लक्षण नहीं होते, क्योंकि क्षय-रोग के अतिरिक्त ये अन्य वक्षान्तरिक रोगों में भी पाये जाते हैं। इन परिवर्तनों का यह कारण होता है। जब फेफड़े या पार्श्वकला में उग्रप्रदाह होता है तो रुग्नस्थान की आच्छादक पेशियां उस स्थान की रक्षा के लिये संकुचित होकर कड़ी होजाती हैं। रोग की उग्रता के अनुसार अकड़न न्यूनाधिक होती है। जब कालान्तर में रोग पुरातन अवस्था को प्राप्त होता है तब पेशियां क्षीण होकर शिथिल होजाती हैं। प्रारंभिक क्षय में वक्ष और ग्रीवा की पेशियां रोग की ओर कड़ी होजाती हैं। अतएव दूसरी ओर की

पेशियों की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट दिखाई देती हैं। प्रारंभिक क्षय का यह एक अच्छा चिह्न होता है।

क्षय-रोग में उरच्छादनी बृहती (Pectoralis major), अंसपर्शुका (Serratus magnus) और अंसाच्छादनी (Deltoid) ये तीन पेशियां विशेषतः ध्यान देने योग्य होती हैं। उरच्छादनी बृहती पेशी प्रधानतः फेफड़े के ऊर्ध्व खंड के रोग में अभिभूत होती है। इसके क्षीण होने से उरच्छादनी और अंसाच्छादनी के बीच का गड्ढा (Morreinheim's fossa) अधिक गहरा होजाता है (चित्र नं० ६२)। अंसपर्शुका पेशी निम्न खंड के रोग में अभिभूत होती है। इसके क्षीण होने से अंसफलक पंखवत् होजाता है। अंसाच्छादनी के क्षीण होने से कंधा, विशेषकर उसका अगला भाग चपटा होजाता है। यह पेशी बहुधा क्षय-रोग के प्रारंभ में ही क्षीण होजाती है। एक ओर के रोग में उसी ओर की पेशियां क्षीण होती हैं।

अकड़न और अतिपुष्टि में भेद—इस संबंध में मांसपेशियों पर काम और आदत के प्रभाव को ध्यान में रखना चाहिये। दाहिने हाथ से काम करने वाले लोगों की दाहिनी ओर की पेशियाँ अधिक सुविकसित होती हैं। इससे अकड़न का भ्रम हो सकता है। जिन लोगों ने बहुत दिनों से काम नहीं किया है उनकी पेशियाँ शिथिल और छोटी होजाती हैं। इससे शोष का भ्रम हो सकता है। ऐसे रोगियों में अकड़न या शोष का निर्णय करने के के लिये त्वचा और उसके अधोस्थित तन्तुओं की दशा को देखना चाहिये। इन पर काम की अधिकता या अभाव का कुछ प्रभाव नहीं होता, जैसा कि रोग में होता है। यदि ये अधिक क्षीण न हों तो गर्दन की पेशियों को भी देखना चाहिये। इन पेशियों पर श्रम या अश्रम का कोई प्रभाव नहीं होता।

दोनों पार्श्वों में कक्षीय प्रदेशों में नीचे अन्तर्पार्श्विक स्थलों का निरीक्षण करना चाहिये। प्रश्वास में अन्तर्पार्श्विक स्थलों का अन्दर की ओर खिंचाव फेफड़ों में वायु के प्रवेश में रुकावट सूचित करता है। अन्तर्पार्श्विक स्थलों का फुलाव पार्श्वकला में तरल या वायु अथवा फेफड़े का ठोसपन सूचित करता है।

राजयक्ष्मा में हृदय—हृदय की धुकधुकी की जगह को देखना चाहिये। धुकधुकी का बहुत चौड़ाई में फैला हुआ दिखलाई देना बाएं फेफड़े का रोग और उसका फल-स्वरूप संकोच सूचित करता है। यह स्मरण रहे कि

फुप्फुस-रोग में हृदय मध्य रेखा को ओर या बाहर की ओर हट जाता है। फेफड़े के पिचकने पर या उसमें सूत्र-निर्माण होने पर हृदय रोग की ओर खिंच जाता है। इस प्रकार दाहिने फेफड़े के रोग में हृदय हटकर दाहिनी ओर पहुँच सकता है। सूत्र-निर्माण के कारण बायें फेफड़े के सिकुड़ने पर हृदय का बायां ग्राहक कोष्ठ अनाच्छादित होजाता है, और दूसरे तथा तीसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों में फैली हुई धड़कन दिखलाई देने लगती है। वायुवक्ष में और पार्श्वकला के श्राव में हृदय दूसरी ओर को हट जाता है, और धुकधुकी स्थानाच्युत होजाती है।

वक्ष का अस्थिपंजर—वक्ष की अस्थियाँ बड़ी महत्वपूर्ण होती हैं, और उनका बड़े ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना चाहिये।

अक्षकास्थि—क्षय-रोग में अक्षकास्थि कोमल तन्तुओं के क्षीण होने से साधारणतः सुस्पष्ट होजाती है। इसका बाहरी सिरा रोग की ओर दूसरी ओर की अपेक्षा अधिक नीचा होजाता है। यह परिवर्तन रोग के आरंभ में बहुत शीघ्र होजाता है। डाक्टर कुथी के मतानुसार यह चिह्न लगभग ८२ प्रतिशत प्रारम्भिक क्षय रोगियों में पाया जाता है। अक्षकास्थि के ऊपर और नीचे के गड्ढे अधिक गहरे होजाते हैं।

वक्षोऽस्थि—वक्षोऽस्थि के ऊर्ध्व और मध्य खंड के संगम का लुई-कोण क्षय-रोग में अधिक उभरा हुआ देख पड़ता है और वक्षोऽस्थि स्वयं चपटी होजाती है।

अंसफलक—अंसफलक से अधिक उपयोगी सूचना मिलती है। जिस ओर वक्ष में रोग होता है उस ओर का अंसफलक (पुट्ठा) नीचा और मध्य रेखा के अधिक समीप होजाता है। जब फेफड़े के निम्न खंड में रोग होता है तो अंसफलक, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पंखवत होजाता है।

पर्शुकायें—पसलियों के तिरछेपन का पता लगाना बहुत आसान नहीं होता। वक्षान्तरिक रोग के अनुसार तिरछापन कम या ज्यादा होता है। पार्श्व के स्राव और वायुवक्ष में पसली अधिक क्षितिज अर्थात् उनका तिरछापन कम होजाता है। अभिव्यापन और सूत्र-निर्माण में पसलियाँ अधिक तिरछी होजाती हैं और खपरैल के समान ढालू देख पड़ती हैं। यह खपरैल का सा रूप एक्सरे छाया चित्र में भली प्रकार दिखाई देता है। चार बातों पर ध्यान देने से पसलियों की स्थिति का पता

लग जाता है, (१) कंधों का समतल, (२) चूचुकों का स्थान, (३) निम्नपार्श्विक कोण (Subcostal angle) का अंश परिमाण, (४) अंसफलकों की स्थिति। जब दूसरी ओर की अपेक्षा एक पार्श्व की पसलियाँ अधिक तिरछी होती हैं तो उस ओर का कंधा अधिक नीचा होजाता है। चूचुक नीची और मध्यरेखा के अधिक समीप, निम्नपार्श्विक कोण छोटा तथा अंसफलक नीचा और पृष्ठवंश के अधिक समीप होजाता है। वक्ष के निरीक्षण में सदा इन चार बातों को देखना चाहिये और एक पार्श्व की दूसरे पार्श्व से तुलना करनी चाहिये। पीछे की मध्यरेखा सीधी होनी चाहिये।

श्वास का प्रभाव—अंत में श्वासक्रिया का निरीक्षण करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि श्वास का रूप और उसका वक्ष पर क्या प्रभाव है? यह निरीक्षण रोगी के सामने से, पार्श्व से और पीछे से ध्यानपूर्वक करना चाहिए। हरएक स्थिति में कम से कम दो श्वास देखना चाहिए। प्रथम श्वास में यह देखना चाहिए कि ऊपर को वक्ष की गति कितनी होती है और दूसरे श्वास में वक्ष का फुलाव देखना चाहिए। दोनों पार्श्वों की सावधानी से परस्पर तुलना करनी चाहिए।

गति विलम्ब (Lagging)—क्षय-रोग के प्रारम्भ में प्रायः यह देखा जाता है कि वक्ष के स्वस्थ पार्श्व की अपेक्षा रुग्न पार्श्व में श्वास गति देर में आरम्भ होती है और कम होती है। रोग की सम्प्राप्त अवस्था में और उन रोगियों में, जिनकी पार्श्व कला में बन्धन बन जाते हैं या जलस्राव या वायुवक्ष होजाता है अथवा वक्ष के अन्दर कोई नवोत्पत्ति (Neoplasm) होजाती है, रुग्न पार्श्व में श्वासगति का कभी कभी बिलकुल अभाव होजाता है।

वक्ष के एक ओर ऊपरी भाग में श्वासगति का पिछड़ना उस ओर के फेफड़े के शिखर में क्षय-रोग का होना सूचित करता है। यदि दोनों ओर की गति बराबर हो, परन्तु क्षय-रोगसूचक अन्य चिह्न विद्यमान हों तो समझना चाहिए कि दोनों फेफड़ों में रोग है। जब एक ओर रोग पुराना और शान्त और दूसरी ओर नया और जाग्रत होता है तो जाग्रत रोग की ओर गतिविलम्ब अधिक होता है। जब दोनों फेफड़ों में पुरातन रोग होता है, तो दोनों ओर की गति समान, परन्तु कम होती है, इसलिये निरीक्षण और स्पर्श से इसका पता लगाना कठिन होता है। ऐसे

रोगियों में उनके वक्ष को टकोरने और श्रवण करने से अधिक विश्वस्तसूचना मिलती है; परन्तु एक ओर के प्रारम्भिक रोग के पहचानने में निरीक्षण का अधिक महत्व होता है।

निश्वास में खिँचाव—सम्प्राप्त रोग में निश्वास के निकालते समय किसी किसी स्थान पर वक्ष अन्दर को खिँच जाता है। कई रोगियों में, जिनके फेफड़ों के ऊर्ध्वखंड में बड़े बड़े रंध्र बन जाते हैं, श्वास निकालते समय रंध्र के ऊपर के भाग में वक्ष अन्दर की ओर खिँचकर गड्ढा-सा प्रकट होने लगता है। इसप्रकार के गड्ढे साधारणतः दूसरे, तीसरे और चौथे अन्तर्पार्श्विक स्थलों में पाये जाते हैं। जब बायें फेफड़े में रोग विस्तृत होता है, तो स्थानच्युत हृदय की धड़कन फेफड़े के खिँचाव और पार्श्वकला के बंधनों के कारण फैली हुई दिखाई पड़ती है। जब वायु-कोष्ठों में वायु के प्रवेश होने में रुकावट होती है, जैसा कि उग्रव्यापक क्षय और फुप्फुस शोथ में होता है, तो वक्ष के निचले किनारों का खिँचाव होता है। इसप्रकार का खिँचाव बच्चों और नवयुवकों में अधिक होता है। जब फेफड़ों के ऊर्ध्वखंडों में क्षय और निम्नखंडों में प्रतिपूरक वायुध्मान होता है, उस समय भी वक्षःस्थल के निचले किनारों का खिँचाव होता है।

वक्ष का निश्वाससम्बन्धी खिँचाव वायुरहित फुप्फुस-तन्तु का एक उत्तम चिह्न होता है। फुप्फुस-तन्तु के वायुरहित होने के कारण का पता अर्थात् उसका कारण क्षय-रोग है या फुप्फुस प्रदाह, फेफड़े का संकोच है अथवा पार्श्वकला में बंधन, रोग के अन्य समन्वित लक्षणों और रोग-चिह्नों से लगाना चाहिए। अन्य किसी कारण से उत्पन्न वक्ष के स्थानिक गति-अभाव को भूल से खिँचाव नहीं समझना चाहिए, क्योंकि खिँचाव और गति-अभाव दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

स्पर्श-विधि

स्पर्श का अन्य परीक्षा-विधियों से सम्बन्ध—स्पर्श परीक्षक को निरीक्षण से एक क़दम और आगे ले जाता है। स्पर्श को निरीक्षण और विघातन के बीच की सीढ़ी कहा जा सकता है। निरीक्षण से जिन विकारों का सन्देह होता है, स्पर्श से उनका निश्चय किया जा सकता है। स्पर्श से वक्ष के अवरोध, स्फुरण और धड़कन का पता लगता है और इसप्रकार निरीक्षण से प्राप्त ज्ञान में और भी वृद्धि होती है। स्पर्श से जो बातें ज्ञात होती हैं, विघातन से उनका समर्थन होजाता है। आजकल की विघातन परीक्षा को स्पर्श विधि का ही एक दूसरा रूप समझना चाहिए। विघातन से जो शब्द निकलता है, उससे इतनी सूचना नहीं मिलती जितनी कि अवरोध के ज्ञान से, जो प्रकम्पित अधोस्थित तन्तुओं से व्यवधायक (Pleximeter) अर्थात् वक्ष पर रक्खी हुई उगँली को प्राप्त होता है। अस्तु, स्पर्श-परीक्षा से लगभग वही बातें ज्ञात होती हैं जो विघातन से होती हैं।

स्पर्श से ज्ञात होनेवाली बातें—स्पर्श से वक्ष की दीवार और वक्ष के अन्दर के अवयवों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं:—

(१) वक्ष के विभिन्न प्रदेशों की बनावट का ज्ञान होता है और स्वस्थ वक्ष की यथाप्रमाणता के विकारों का तथा गड्ढे या खिँचाव अथवा स्थानिक उभार का पता लगता है।

(२) त्वचा और उसके नीचे के तन्तुओं की दशा के सम्बन्ध में यह मालूम होजाता है कि उनमें क्षीणता व्यापक है या स्थानाबद्ध।

(३) मांसपेशियों की दशा के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का पता चल जाता है:—

(क) वे अतिपुष्ट तो नहीं हैं जैसा कि कुछ व्यवसायों में हो जाता है।

(ख) वे अधिक कड़ी तो नहीं हैं, जैसा कि वक्षान्तरिक उत्तेजना के प्रत्यावर्त्तक प्रभाव से होता है।

(ग) वे क्षीण तो नहीं हैं, जैसा कि पुरातन रोग में विष-व्याप्ति से अथवा पोषणाभाव से होजाता है।

(४) वक्षान्तरिक अवयवों की दशा का पता लग जाता है। स्वस्थ फुप्फुस, रोग से अभिव्याप्त फुप्फुस, फेफड़ों में रंध्रनिर्माण, वायुध्मान तथा मोटी पार्श्वकला, पार्श्वकला में स्राव तथा वायुवक्ष, (Pneumothorax) इनमें से प्रत्येक के अवरोध की विभिन्न सम्वेदनायें स्पर्श करने पर अनुभवी परीक्षक को मिल जाती हैं।

(५) वक्ष की गतियों का पता लगता है। स्पर्श से वक्ष के फूलने, फैलने और किसी स्थान पर पिछड़ने का पता लग सकता है और यह भी बताया जा सकता है कि उनका कारण मांसपेशियों में है, फेफड़े के विकार हैं अथवा पसली, रीढ़ या वक्षोस्थि का कोई विकार है।

(६) खरखराहट (Fremitus) का पता लगता है। यह तीन प्रकार की होती है:—

(क) वाचिक—जब रोगी नकार वाले शब्दों का उच्चारण करता है, जैसे 'तीन', 'निन्यानवे' इत्यादि तो वक्ष पर रक्खे हुए हाथ को उन शब्दों की खरखराहट प्रतीत होती है। इसको वाचिक खरखराहट (Vocal fremitus) कहते हैं।

(ख) जब पार्श्वकला में प्रदाह होता है तो उसके दोनों परतों में रगड़ होने से हाथ को खरखराहट प्रतीत होती है। इसको सांघर्षिक खरखराहट (Frictional fremitus) कहते हैं।

(ग) जब श्वासनलों में श्लेष्म होता है तो वायु के आने-जाने में अड़चन होने से खरखराहट होती है। इसको कासीय खरखराहट (Ronchal Fremitus) कहते हैं।

(७) हृदय के परिमाण और धुकधुकी के स्थान का पता लगता है। फेफड़े और पार्श्वकला के रोगों में इनमें बहुधा परिवर्तन होजाता है।

(८) पिलपिलाहट का पता लगता है। वक्ष की दीवार में विद्रधि होने से, पार्श्वकला में पीव पड़ने से और वायुवक्ष में स्राव होने से वक्ष के टटोलने पर पिलपिलाहट प्रतीत होने लगती है।

(९) श्वासों की संख्या का पता लगता है। इसका पता स्त्रियों में वक्ष पर हाथ रखने से और पुरुषों में कौड़ी प्रदेश पर हाथ रखने से अच्छा लगता है। स्वस्थ व्यक्तियों में श्वास की संख्या प्रति मिनट १८ से २० तक होती है और रोग में न्यूनाधिक होजाती है। प्रकृतिस्थ दशा में बच्चों में श्वास संख्या अधिक होती है। संख्या में श्वास और नाड़ी की गति का अनुपात १:४ होता है। फुप्फुस रोग में कभी कभी यह अनुपात १:२ तक होजाता है।

(१०) यदि वक्ष के किसी भाग में शूल या सुकुमारता हो तो स्पर्श से उसका भी पता लगता है और यह भी मालूम होजाता है कि दबाने का क्या प्रभाव होता है।

वक्ष के स्पर्श की विधियाँ

स्पर्श के समय रोगी खड़ा अथवा आराम से सीधा लेटा हुआ होना चाहिए। रोगी के शरीर के किसी भाग के सिकुड़े, खिँचे या तने हुए होने से धड़कन या खरखराहट के पता लगाने में रुकावट होती है और उसकी मांसपेशियों की दशा के सम्बन्ध में भ्रम हो सकता है। परीक्षक को साधारणतः रोगी के सम्मुख खड़ा होकर निम्नलिखित विधियों से काम लेना चाहिए—

(१) पूरे हाथ को कोमलता से, परन्तु स्थिरता के साथ वक्ष पर रखना चाहिए। इससे वक्ष की बनावट, गति का परिमाण और विलम्ब तथा खरखराहट की मात्रा का पता लग जाता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि (क) हाथ वक्ष के उन प्रदेशों में रक्खें जायँ जिनका फेफड़ों से सम्बन्ध होता है, (ख) पूरा हाथ वक्ष पर एक-सा रहे।

(२) निम्नलिखित बातों का पता लगाने के लिए उँगलियों के सिरों से काम लेना चाहिए—

(क) हृदय के परिमाण और धुकधुकी का पता लगाने के लिए।

(ख) अक्षकास्थि के ऊपर के शिखर-प्रदेश तथा अन्तर्पार्श्विक स्थल जैसे छोटे छोटे प्रदेशों का पता लगाने के लिए।

दबाने से प्रायः फुप्फुस तन्तुओं की अभिव्याप्ति का, पार्श्वकला में स्राव या वायु का और मध्य वक्ष की गिल्टियों का पता लग सकता है। उँगलियों के सिरों से दबाने से पेशियों की अकड़न तथा क्षीणता का भी पता लग सकता है।

(३) प्रत्येक अन्तर्पार्श्विक स्थल में खरखराहट का पता लगाने के लिए और फेफड़े के निचले किनारे का पता लगाने के लिए हाथ को क्रमशः जगह जगह पर खड़ा रखना चाहिए।

(४) मध्यमा उगंली से ठोंककर मांसपेशियों और त्वचा के नीचे के तंतुओं की दशा का और मांसपेशियों की क्षुब्धता का पता लग सकता है।

(५) चुटकी से त्वचा और उसके अधोस्थित तंतुओं के शोष का पता लग सकता है।

अस्तु, स्पर्श से रोगी की परीक्षा में बहुत बातें ज्ञात हो सकती हैं। इसकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निरीक्षण के बाद और विघातन से पूर्व सदैव स्पर्श विधि का प्रयोग करना चाहिए। जिस क्रम से परीक्षक को काम लेना चाहिए, वह बड़ा सुगम है और इसमें अधिक समय नहीं लगता, न उसका स्मरण रखना ही कोई कठिन बात है।

वक्ष की दीवार के तंतुओं के सम्बन्ध में स्पर्श से ज्ञात बातें—वक्ष की बनावट और वक्ष की दीवार के तंतुओं का पता वक्ष पर हाथ फेरने से लग सकता है। इसप्रकार स्थानिक उभार तथा चपटापन का पता निश्चयपूर्वक लग जाता है।

अक्षकास्थि का वक्षीय सिरा पुरातन क्षय-रोग में फेफड़े के सिकुड़ने और वक्ष के अन्दर की ओर खिंचाव से प्रायः उभर आता है।

क्षय-रोग में वक्ष की दीवार के कोमल तंतु क्षीण होजाते हैं, विशेषकर रुग्न भाग के ऊपर। कभी कभी त्वचा रुक्ष तथा शुष्क और कभी कभी क्षीण होजाती है। त्वचा के नीचे के तंतु बहुत क्षीण होजाते हैं, बसा बहुत कम होजाती है और त्वचा मांसपेशियों से चिपकी हुई नहीं होती। यह दशा रोग की ओर और रुग्न भाग के ऊपर अधिक सुस्पष्ट होती है।

स्पर्श में त्वचा को चुटकी से उठाकर टटोलकर देखना चाहिए। प्रत्येक अन्तर्पार्श्विक स्थल की क्रमशः जाँच करनी चाहिए और दूसरी ओर के स्थल से तुलना करनी चाहिए। नीचे से प्रारम्भ कर ऊपर को जाना चाहिए। त्वचा को उँगलियों से टटोलने पर केवल उसकी मुटाई का ही पता नहीं लगता, बल्कि क्षयी-विकारों के ऊपर की त्वचा साधारणतः गीले 'वाश लेदर' (मृदु चर्म) की सी प्रतीत होती है। कभी कभी सब शरीर की त्वचा इसी प्रकार की होजाती है। इसका कारण क्षीण तंतुओं की शिथिल अवस्था होती है। प्राकृतिक दशा में अक्षक और वक्षोऽस्थि के ऊपर के प्रदेशों में जो बसा की गद्दी होती है, वह क्षय-रोग में साधारणतः बहुत शीघ्र विलीन होजाती है। सक्रिय क्षय-रोग में बहुधा कुछ न कुछ त्वचांकन (Dermographia) मिलता है। यदि नाख़ून से ऐसे व्यक्तियों की त्वचा पर लकीर खींची जाय तो ७० प्रतिशत रोगियों में वह लकीर लाल होजाती है, जो कुछ देर में सुव्यक्त होजाती है और फिर धीरे धीरे मिट जाती है।

मांसपेशियों की अकड़न या क्षीणता का टटोलकर पता लगाना—पेशियों की अकड़न या क्षीणता का पता लगाना चाहिए। क्षय-रोग में एक स्नायु-मांसपेशिक विष (Neuro-muscular toxin) उत्पन्न होता है जिसका शरीर की मांसपेशियों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसी के कारण सक्रिय रोग में रोगी को थकावट प्रतीत होती है और मन्दाग्नि होती है। मांसपेशियों की इस व्यापक विषव्याप्ति के अतिरिक्त और इससे भिन्न प्रायः एक स्थानाबद्ध दशा और देखने में आती है। जब अंत्र परिशिष्ट (Appendix) में अथवा उदर कला (Peritoneum) में रोग होता है तो उदर की दीवार कड़ी होजाती है। रुग्न भाग को आराम पहुँचाकर प्रकृति उसको अच्छा करने की चेष्टा करती है। इसी प्रकार जब फेफड़े में प्रदाह होता है तो रुग्न भाग से सम्बंध रखनेवाली वक्ष की पेशियों में अकड़न होजाती है। यह भी रुग्नभाग को आराम देकर अच्छा करने की चेष्टा होती है। फेफड़े के ऊपरी खंड में रोग होने पर चतुरस्रा, ग्रीवा की पेशियों, उरच्छादनी और वक्षोऽदरमध्यस्थ पेशी में अकड़न होजाती है। उँगलियों के सिरों से पहले हलके और फिर जोर से उनको दबाने से उनके अवरोध का पता चल सकता है। इसकी जाँच करते समय नीचे से ऊपर को जाना चाहिए और दूसरी ओर की पेशियों से तुलना करनी चाहिए।

इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि काम करते रहने से मांसपेशियाँ सुदृढ़ होजाती हैं। व्यवसायिक अतिपुष्टि (Hypertrophy) से अकड़न की पहचान, उरकर्ण मूलिका, चतुरस्रा और ग्रीवा की अन्य पेशियों की जाँच से की जा सकती है। ये मांसपेशियाँ रोग में बहुधा अभिभूत होजाती हैं, परन्तु काम करने का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी को टटोला नहीं जा सकता, परन्तु रोञ्जन किरणों से इसकी जाँच की जा सकती है।

क्षीणता की उत्पत्ति—उत्तेजना और अकड़न के बाद जैसे जैसे रोग पुरातन और कम सक्रिय होता जाता है, मांसपेशियाँ क्षीण होती जाती हैं। पेशियों की गुलाई कम होती जाती है और उनके गट्ठर पतले होते जाते हैं। वे अधिक शिथिल और पिलपिले होते जाते हैं। चतुरस्रा, उरकर्ण-मूलिका, और उरच्छादनी पेशियों में यह दशा विशेषत: देखने में आती है। जब इलाज से रोग रुक जाता है तो पेशियाँ अंशत: फिर पुष्ट और दृढ़ होजाती हैं; परन्तु अपनी पूर्ववत् दशा को नहीं पहुँच पातीं। जब रोग का पुनरुद्दीपन होता है तो क्षीण पेशियों में अंशत: अकड़न होजाती है। वक्ष की दीवार को उगलियों से दबाने से और एक ओर को दूसरी ओर से तुलना करने से क्षीणता का पता लग सकता है।

रोगजनित क्षीणता और अप्रयोग की क्षीणता में भेद—काम करनेवाले व्यक्तियों में काम छूट जाने पर अप्रयोग से उनकी मांस-पेशियाँ शिथिल और क्षीण होजाती हैं। इसलिए कभी कभी यह निर्णय करना बड़ा कठिन होता है कि पेशियों की क्षीण दशा रोग-जनित है या अप्रयोग के कारण। त्वचा के नीचे के तंतुओं से इसका निर्णय करने में सहायता मिलती है। मांसपेशियों की क्षीणता के साथ साथ यदि त्वचा के नीचे के तंतुओं की शिथिलता और निर्जीव अवस्था मिले, तो वह वक्षान्तरिक रोग का द्योतक होती है। इसके अतिरिक्त उरकर्णमूलिका पेशी को भी देखना चाहिए। यह पेशी न काम से अधिक पुष्ट होती है और न अप्रयोग से क्षीण।

झकोर-छलक (Succussion splash)—जिन रोगियों में पूय या वारि वायु-वक्ष (Pyo or Hydro Pneumothorax) होता है, उनको झकोरने से बहुधा वक्ष में छलकने का शब्द सुनाई पड़ता है। ऐसे

रोगियों को साधारणतः स्वयं यकायक हिलने पर वक्ष में छलक सुनाई देती है।

पिलपिलाहट— (Fluctuation) वक्ष की दीवार को टटोलने पर कभी कभी उसमें पिलपिलाहट मिलती है। परन्तु ऐसा बहुत विरल और तभी होता है, जब पार्श्वकला में पीव पड़ जाता है और जब वह पीव अन्तर्पार्श्विक पेशियों में भर जाता है।

पेशियों की फड़कन (Myotatic irritability)—वक्ष की मांस-पेशियों को ठोंकने पर कभी कभी आघात से उस स्थान पर मांसपेशियां का स्थानाबद्ध आकुञ्चन होजाता है। चोट लगते ही यह तुरन्त उत्पन्न होता है और केवल कुछ क्षण रहकर विलीन होजाता है। यह उरच्छादा पेशियों पर सबसे अच्छा दिखाई देता है। इसका मिलना सक्रिय और प्रगतिशील रोग का द्योतक होता है।

सुकुमारता (Tenderness)—सक्रिय वक्षान्तर रोग में वक्ष की दीवार के तन्तुओं में सुकुमारता का अनेक लेखकों ने वर्णन किया है। शिखर पर सुकुमारता की जाँच करने के लिए सेबोरिन चार स्थानों पर विशेष ध्यान देने के लिए कहते हैं—

(१) सामने प्रथम और दूसरे अंतर्पार्श्विक स्थल।
(२) अक्षकास्थि के ऊपर के त्रिकोण का तला।
(३) अंसप्राचीरक के ऊपर का गड्ढा।
(४) कक्ष शिखर।

इन स्थानों को धीरे धीरे हलके से क्रमानुसार दबाना चाहिए। सक्रिय रोग में तीन बातें मिलती हैं:—

(१) सुकुमारता के सुसीमित क्षेत्र।
(२) पेशियों का स्थानाबद्ध आकुञ्चन।
(३) कंधे का हटना।

यदि ये बातें मौजूद हों तो सक्रिय रोग समझना चाहिए। जब तक ये बनी रहें और विशेषकर उनके साथ साथ अक्षकास्थि के ऊपर की ग्रीवा ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई हों तब तक रोग को अवरुद्ध नहीं समझना चाहिए।

हृदय और धुकधुकीसम्बन्धी स्पर्श परीक्षा—हृदय की धुकधुकी साधारणतः पाँचवें अन्तर्पार्श्विक स्थल में चुचुक रेखा से कुछ अन्दर की ओर मिलती है।

रोग में हृदय के स्थानच्युत होने के कारण—फेफड़े और पार्श्वकला के रोग में प्रायः हृदय एक या दूसरी ओर को हट जाता है। यह नीचे को और ऊपर तथा बाहर को भी हट सकता है। मध्यवक्ष स्थिर नहीं होता। फलतः जब, जैसा कि पुरातन क्षय-रोग में होता है, फुप्फुस तंतु का नाश होता है और सूत्रनिर्माण अधिक होता है तो उसके सिकुड़ने से हृदय रोग की ओर खिंच जाता है। बाईं ओर के रोग में हृदय कक्षीय रेखा तक और दाहिनी ओर के रोग में वक्षोस्थि की दाहिनी ओर तक पहुँच जाता है। फेफड़े के सूत्रनिर्माण रोग में थोड़े ही दिनों में हृदय दाहिनी ओर को हट सकता है। जब रोग केवल एक फेफड़े में होता है तो दूसरे फेफड़े में प्रतिपूरक वायुध्मान से भी हृदय की स्थानच्युति होजाती है। अस्तु, एक ओर से खिंचाव के साथ साथ दूसरी ओर से धक्का भी लगता है।

स्राव—जब पार्श्वकला के गह्वर में वायु, रक्त-रस अथवा पीव का स्राव होता है तो हृदय दूसरी ओर को हट जाता है। स्वयमोत्पन्न वायुवक्ष और पार्श्वकला के द्रुतस्राव में ऐसा सबसे अधिक होता है। जब वायु या तरल इतने समय तक रहता है कि पिचके हुये फेफड़े में सूत्रनिर्माण होजाता है तो हृदय रोग की ओर खिंच जाता है और स्थायी रूप से हट जाता है। कृत्रिम वायुवक्ष में भी जब फेफड़ों का सम्पीडन वर्षों तक रक्खा जाता है तो अन्त में वायु के शोषण होने पर हृदय स्थानच्युत होजाता है।

सूत्रोल्वण क्षय (Fibroid Phthisis) और उसका हृदय पर प्रभाव—सूत्रोल्वण क्षय में बायें फेफड़े के ऊर्द्धखंड के सिकुड़ने पर हृदय की धड़कन का दूसरे से पाँचवें अन्तर्पार्श्विक स्थल तक विस्तृत मिलना कोई असाधारण बात नहीं होती; क्योंकि महाधमनी, फुप्फुसिया धमनी, बायाँ ग्राहक कोष्ठ और बायाँ क्षेपक कोष्ठ वक्ष की दीवार के सम्पर्क में आजाते हैं।

कभी कभी क्षय-रोग में धुकधुकी केवल प्रश्वास के अन्त ही में टटोली जा सकती है। अभिव्याप्त फुप्फुस-तन्तु के एक परत द्वारा धुकधुकी-

क्षेत्र के ढक जाने से ऐसा हो सकता है। प्रश्वास से यह परत खिंचकर पतला होजाता है और तब धुकधुकी व्यक्त होने लगती है।

धुकधुकी को टटोलते समय परीक्षक को अपना हाथ हृदय पर इस भाँति रखना चाहिए कि उंगली धुकधुकी की ओर रहे। फैली हुई धड़कन में सबसे निचले और बायें अंश को धुकधुकी समझना चाहिए।

फेफड़े और पार्श्वकला सम्बन्धी स्पर्श-परीक्षा—टटोलने पर फेफड़े और पार्श्वकला की दशा के सम्बन्ध में तीन प्रकार से सूचना मिलती है—(१) दबाने से प्रतिरोध के ज्ञान से, (२) श्वास लेने पर विभिन्न भागों की गति के परिमाण का पता लगाने से और (३) वाचिक खरखराहट के विकारों का अथवा अप्राकृतिक खरखराहट की उत्पत्ति का पता लगाने से।

दबाने पर प्रतिरोध का ज्ञान

रोग-निर्णय में स्पर्श की ज्ञानेन्द्रियाँ—रोग की पहचान के लिए स्पर्श-विधि का बहुत दिनों से प्रयोग होता चला आ रहा है। हाल में पोटिंजर ने इस परीक्षा को बहुत उन्नत कर दिया है। उँगलियों के सिरों से अक्षकास्थि के ऊपर के प्रदेश को और क्रमशः हरएक अन्तर्पार्श्विक स्थल को दबाकर टटोलने से और एक ओर की दूसरी ओर से तुलना करने पर थोड़े अभ्यास से यह बताया जा सकता है कि भीतर फेफड़ा ठीक है, अभिव्याप्त है या ठोस है, अथवा पार्श्वकला में तरल-स्राव है या वायु। नीरोग फेफड़े में एक विशेष लचक होती है। वायुपूर्ण तन्तुओं और ठोस तन्तुओं के अवरोध में अन्तर होता है। यह बात मध्याक्षक रेखा में नीरोग वक्ष को ऊपर से नीचे को टटोलने पर सिद्ध की जा सकती है। फेफड़े से जिगर पर पहुँचते ही बिलकुल भिन्न अवरोध मिलता है। यदि वक्षोऽस्थि और पाँचवें उपपर्शुका के संगम से क्षितिज रेखा में टटोला जाय तो हृदय पर आते ही अवरोध बदल जाता है।

रोग में इस अवरोध में अन्तर—जब फेफड़े में अभिव्यापन होता है तो वक्ष अधिक दृढ़ और उसकी लचक कम होजाती है। फेफड़ा ठोस होजाने पर वैसा ही प्रतीत होता है जैसा हृदय या जिगर टटोलने पर प्रतीत होता है। वायुवक्ष में एक विशिष्ट लचक होती है और पार्श्वकला

के स्राव में अवरोध बहुत बढ़ जाता है। फुप्फुस मूल की ग्रन्थियाँ जब अधिक बढ़ जाती हैं, तो पृष्ठवंश के दोनों ओर टटोलने से उनका पता लग सकता है।

प्रश्वास में वक्ष के विभिन्न प्रदेशों में गति का पता लगाना— निरीक्षण परीक्षा की आलोचना करते समय इस बात पर ज़ोर दिया जा चुका है कि विभिन्न भागों की गतियाँ साधारण श्वासक्रिया में और बाद को गहरे प्रश्वास में देखना चाहिए। इस बात की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निरीक्षण करते समय शोथ, वसावृद्धि और बड़े स्तनों से प्रश्वास में वक्ष की गतियाँ बहुत कुछ छिप जाती हैं; परन्तु स्पर्श में ऐसा नहीं होता। निरीक्षण से ज्ञात बातों का स्पर्श से समर्थन होजाना चाहिए। स्पर्शेन्द्रियों से दोनों फेफड़ों की कार्य-शक्ति का पता लग जाता है। वक्ष में एक या दूसरी ओर गति की अनियमितता इस बात की सूचक होती है कि उस ओर रोग है या हो चुका है।

गति के सम्बन्ध में कौन कौन सी बातें देखनी चाहिए— परीक्षा करते समय पाँच बातें देखनी चाहिए। एक यह कि वक्ष के दोनों पार्श्वों में गति होती है या नहीं। दूसरी यह कि गति का दोनों पार्श्वों में एक साथ अन्त होता है या नहीं। तीसरी यह कि दोनों पार्श्व बराबर उठते हैं या नहीं। चौथी यह कि दोनों पार्श्व बराबर फूलते हैं या नहीं। पाँचवीं यह कि गति समान होती है या नहीं और उसमें कोई रुकावट तो नहीं होती।

वक्ष की गतियों की जाँच में तीन प्रदेशों को सामने और तीन को पीछे स्पर्श करना चाहिए। फुप्फुस शिखरों को सामने और पीछे, सामने अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश को और पीछे अन्तरासंफलक प्रदेशों को तथा पाददेशों को आगे और पीछे।

स्पर्श की विधियाँ— रोगी को सीधा खड़ा होना चाहिए अथवा एक ऊँची तिपाई पर बैठना चाहिए। उसका शिर ठीक मध्य रेखा में होना चाहिए। सामने फुप्फुस शिखरों की परीक्षा करने के लिए परीक्षक को रोगी के सामने खड़े होकर अपने हथेलियों को उसकी दूसरी पसलियों से ऊपर रखना चाहिए। उँगलियाँ हँसलियों से ऊपर फैली हुई होनी चाहिए और

अँगूठे मध्य रेखा में समानान्तर होने चाहिए। (चित्र नं० ६३) हाथ फैला हुआ होना चाहिए और उसमें कोई झुकाव न होना चाहिए। हाथ की त्वचा
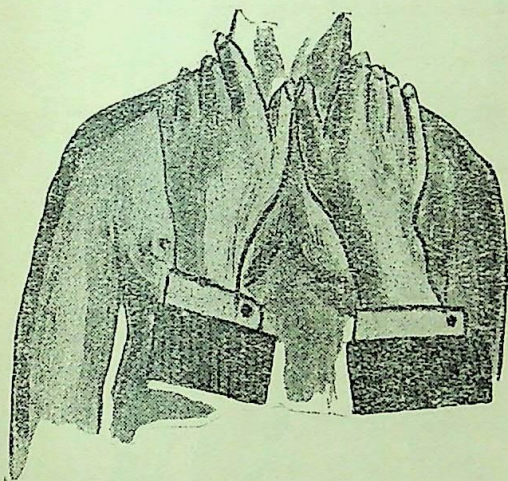
चित्र नं० ६३—स्पर्श परीक्षा; सामने फुप्फुस शिखरों की गति के पता लगाने की विधि; ध्यान देने योग्य बातें—(१)हाथों की समान स्थिति; (२) हाथ फुप्फुस शिखरों पर हैं; अँगूठे-मध्यरेखा में समानान्तर हैं; नोट—अक्षकास्थि के बाहरी भाग या कन्धे पर हाथ रखकर स्पर्श करना, जैसा कि कुछ लोग करते हैं, ग़लत है।

वक्ष की त्वचा से पूर्णतः लगी होनी चाहिए। रोगी से गहरा श्वास लिवाकर उपरोक्त बातों को जाँच करनी चाहिए। अथवा परीक्षक को रोगी के पीछे खड़े होकर अपनी उँगलियों को दृढ़ता और समान भाव से अक्षकास्थि के ऊपरी और निचले प्रदेशों में रखकर और अँगूठों को पीछे रीढ़ पर मिलाकर

प्रश्वास और निश्वास का प्रभाव देखना चाहिए (चित्र नं० ६४)। इस समय परीक्षक का एकाग्रचित्त होना आवश्यक है।
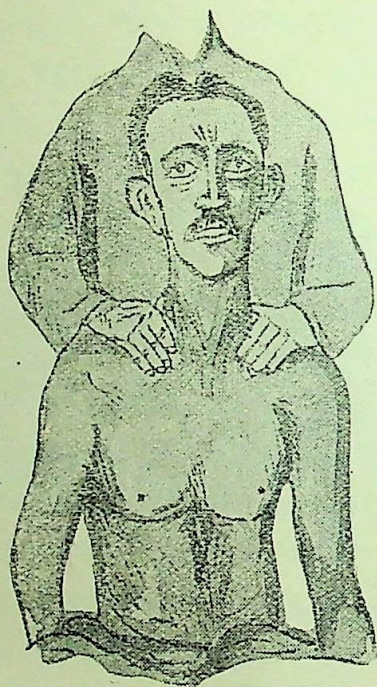
चित्र नं० ६४—वक्ष के ऊपरी भाग की गति के पता लगाने की दूसरी विधि।

अक्षकास्थि से नीचे गति की जाँच रोगी से गहरा श्वास लिवाकर और वक्ष पर हाथों को इस प्रकार रखकर करनी चाहिए कि उंगलियाँ अक्षकास्थि तक पहुँच जायँ। इस क्षेत्र में गति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अक्षकास्थि से ऊपर वक्ष की उठान से प्रसारण छिप जाता है; परन्तु इस भाग में ऐसा नहीं होता।

फेफड़ों के पाददेशों की जाँच वक्ष के पार्श्वों पर इस प्रकार हाथ रखकर करनी चाहिए कि अँगूठे मध्य रेखा में छठवें उपपर्शु का और

वक्षोऽस्थि की संधि के समतल एक दूसरे से मिले रहें, और उँगलियाँ मध्य-कक्ष-रेखा की ओर हों (चित्र नं० ६५) ।
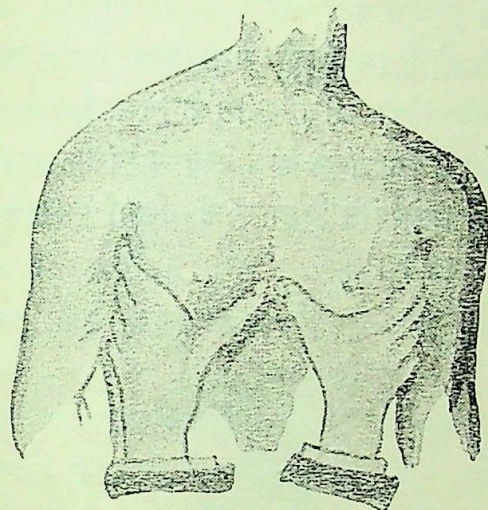
चित्र नं० ६५—स्पर्श-परीक्षा; सामने वक्ष के निचले भाग के स्पर्श करने की ठीक विधि; वक्ष पर हाथ समभाव से रखना चाहिये और अँगूठे मध्य रेखा में एक दूसरे से मिले होने चाहिये।

पीछे फुप्फुस शिखरों की जाँच उन पर समानरूप से हाथ रखकर की जाती है (चित्र नं० ६६)। हाथों के ऊपरी किनारे सातवें
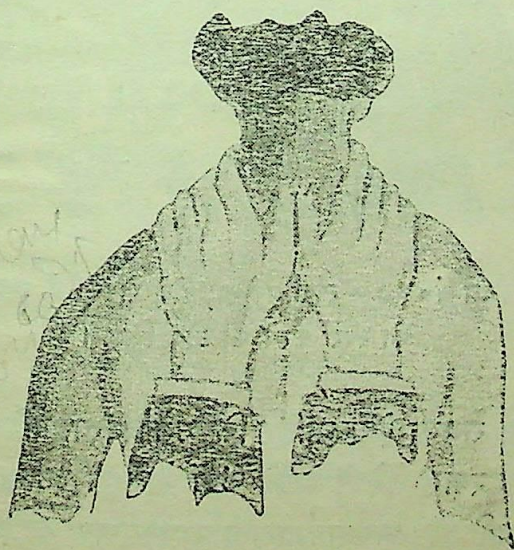
चित्र नं ६६—स्पर्श परीक्षा; पीछे फुप्फुस शिखरों के स्पर्श करने की ठीक विधि।

ग्रीवा कशेरुकंटक के समतल होने चाहिए और अँगूठे उस कशेरुकंटक से ऊपर फैले हुए एक दूसरे से मिले होने चाहिए।

अंसफलकों के अन्तवर्ती प्रदेशों की परीक्षा, उन पर हाथों को इस प्रकार रखकर की जाती है कि अँगूठे समानान्तर मध्य रेखा में एक दूसरे से मिले होते हैं। पाददेशों की परीक्षा पीठ के निम्नभाग पर इस प्रकार हाथों को रखकर की जाती है कि अँगूठे मध्य रेखा में अंसफलकों के निम्नकोण के समतल एक दूसरे से मिले होते हैं और उँगलियाँ मध्यकक्ष रेखा की ओर होती है (चित्र नं० ६७)।
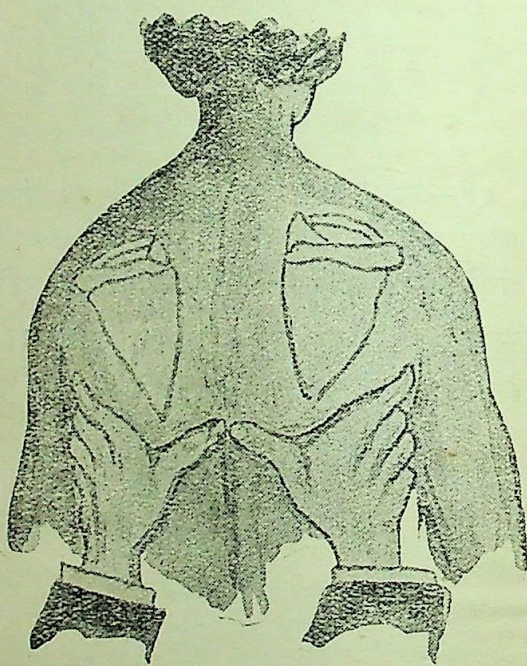
चित्र नं० ६७—स्पर्श परीक्षा; पीछे फेफड़ों के पाददेशों को स्पर्श करने की ठीक विधि।

रोगी को समझा देना चाहिए कि उसको स्वाभाविक तौर पर श्वास लेना चाहिए और श्वास लेने में अपने कंधों को नहीं उठाना चाहिए। रोग की हर अवस्था में गति की अयथाप्रमाणता फुप्फुस क्षय का विशिष्ट लक्षण होती है। किसी एक शिखर पर गति की कमी या बिलम्ब क्षय-रोग का प्रारम्भिक चिह्न होता है और यह चिह्न बहुधा श्रुत-चिह्नों से पूर्व व्यक्त होता है।

वक्ष के प्रसारण और उठान में परिवर्तन के कारण--पुराने क्षय-रोग के कारण पुरातन सूत्र-निर्माण से रुग्न पार्श्व की गति में कमी होजाती है।

पार्श्वकला के उग्र रोगों में गति कम होजाती है अथवा प्रश्वास की गति झटकेदार होजाती है।

पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह में साधारणतः पाददेशों में प्रसारण और उठान में कमी होजाती है। शिखर के क्षय में पाददेश और पार्श्वकला के नीरोग होने पर भी फेफड़ों के निम्न भाग की गति में कुछ कमी होजाती है। इसका कारण वक्षोऽदरमध्यस्थ पेशी की चालक नाड़ी का विकार होता है।

श्वास, कास और वायुध्मान रोगों में वक्ष की गति अयथाप्रमाण नहीं होती। वक्ष के रूप में परिवर्तन के कारण इन रोगों में प्रसारण और उठान में कुछ कमी हो सकती है, परन्तु दोनों पार्श्वों की गतियाँ हर बात में एक सी होती हैं।

स्पर्श-खरखराहट का पता लगाना—गतियों का पता लगाने के बाद स्पन्दन का पता लगाना चाहिए। शब्दोच्चारण में स्वर-रज्जुओं के जो स्पन्दन वायु के प्रवाह के साथ टेंटुआ और श्वासनलों में होकर वक्ष तक पहुँचते हैं, उनसे वाचिक खरखराहट उत्पन्न होती है। एक सन्दूक़ में एक तनी हुई डोरी को स्पन्दित करके उस सन्दूक़ पर हाथ रखने से जो अनुभव होता है, वाचिक खरखराहट भी उसी के समान प्रतीत होती है।

प्रकृतिस्थ वाचिक खरखराहट उत्पन्न करनेवाली बातें--वाचिक खरखराहट के ठीक ठीक पैदा होने के लिए चार बातें अवश्यक होती हैं:—

(१) स्वस्थ स्वर-रज्जु।

(२) समान स्वरवाली आवाज़।

(३) खुले और स्वच्छ श्वासनल।

(४) खरखराहट के श्वासनलों से वक्ष की दीवार तक पहुँचने में फेफड़े या पार्श्वकला में किसी रुकावट का न होना।

प्रौढ़ पुरुषों में वाचिक खरखराहट सबसे अच्छी मिलती है। स्त्रियों और बच्चों में यह प्रायः नहीं मिलती; क्योंकि उनकी आवाज़ बड़े ऊँचे स्वर की होती है। शोथ और वसावृद्धि में यह अच्छा नहीं सुन पड़ता।

वाचिक खरखराहट के अधिक सुव्यक्त करने की विधियाँ— वाचिक खरखराहट का पता लगाने के लिए निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। अच्छा तो यह होता है कि रोगी चारपाई पर लेटा हो; परन्तु उसके दीवार या दरवाज़े से पीठ लगाकर खड़ा होने में भी कोई हानि नहीं होती।

(१) पूरा हाथ—परीक्षक को अपना हाथ रोगी के वक्ष पर हलके से, परन्तु एक-सा रखकर रोगी से 'निन्यानबे' या 'तीन' शब्द बार बार कहलाना चाहिए। पार्श्वों के विभिन्न भागों की तुलना करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी की आवाज़ परीक्षा-काल भर समान स्वर की निकलती रहे। दो स्थलों की एक साथ परीक्षा नहीं करनी चाहिए और सदैव केवल एक ही हाथ का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यह सम्भव है कि दोनों हाथों में खरखराहट ग्रहण करने की शक्ति समान न हो।

(२) उँगलियों के सिरे—अक्षकास्थि से ऊपर के छोटे छोटे स्थलों की परीक्षा करने के लिए उँगलियों के सिरों से काम लिया जा सकता है।

(३) उँगलियों के पृष्ठ भाग—यदि अधिक सुविधा हो तो उँगलियों के पृष्ठ भाग से काम लिया जा सकता है।

(४) हथेली का भीतरी किनारा—हथेलियों के भीतरी किनारों में बहुत चेतना शक्ति होती है। अन्तर्पार्श्विक स्थलों की जाँच करने में खड़ी हथेली से काम लेना बड़ा उपयोगी होता है।

वाचिक खरखराहट की तीव्रता में अन्तर— स्वस्थावस्था में वक्ष के विभिन्न भागों की वाचिक खरखराहट की तीव्रता में अन्तर होते हैं। उदाहरणार्थ:—

(१) बायें शिखर की अपेक्षा दाहिने शिखर पर तीव्रता अधिक होती है, क्योंकि टेंटुआ दाहिने शिखर के अधिक समीप होता है। यदि बायें शिखर पर खरखराहट इतनी ही मिले जितनी दाहिने शिखर पर, तो उसका कारण ढूँढ़ना चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि या तो दाहिने शिखर पर इसके उत्पादन में कोई बाधा है अथवा बायाँ शिखर ठोस होगया है, जिससे वहाँ खरखराहट बढ़ गई है।

(२) पीछे दाहिने अन्तरासंफलकप्रदेश में और सामने पहले और दूसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों में बाईं ओर की अपेक्षा वाचिक खरखराहट

अधिक तीव्र होती है। चौथे और पाँचवे कशेरुकंटक के समतल पर टेंटुँ आ का विभाजन मध्य रेखा से दाहिनी ओर होता है।

(३) यह फेफड़ों के अन्य भागों की अपेक्षा पाददेशो में अधिक सुव्यक्त होती है।

(४) यह जितनी पसलियों के बीच के स्थलों में सुस्पष्ट होती है, उतनी पसलियों पर नहीं होती।

रोग-दशाओं में वाचिक खरखराहट में वृद्धि के कारण—वाचिक खरखराहट उन सब रोग दशाओं में बढ़ जाती है जिनमें प्राणालिक श्वास और वाचिक गूंज की वृद्धि होती है। वाचिक खरखराहट उन दशाओं में भी बढ़ती है जिनमें फुप्फुस तंतु सघन हो जाता है। यह कहना व्यर्थ है कि इसके लिए श्वासनलों का खुला रहना आवश्यक है। वाचिक खरखराहट की वृद्धि के साधारण कारण ये होते हैं:—

(१) उग्र और पुरातन क्षयी-विकार।

(२) फुप्फुस प्रदाहज सघनता।

(३) श्वासनलों का फूलना, विशेषकर जब फूले हुए श्वासनल पृष्ठस्थ होते हैं।

(४) फेफड़ों के रंध्र। जब रंध्र पृष्ठस्थ होते हैं तथा सघन तंतु से घिरे होते हैं और उनका संसर्ग बड़े श्वासनल से होता है, तो वाचिक खरखराहट बहुत बढ़ जाती है।

(५) फेफड़े का संपीडन—विशेषकर जब यह पार्श्वकला में स्राव के कारण होता है और पिचका हुआ फेफड़ा वक्ष की दीवार से लगा होता है।

वाचिक खरखराहट की कमी के कारण—वाचिक खरखराहट उन सब दशाओं में कम होजाती है जिनमें खरखराहट के वाहन में रुकावट होती है, जैसे:—

(१) श्लेष्म से श्वासनल का रुक जाना। खांसी से श्वासनल साफ होकर प्रकृतिस्थ दशा फिर स्थापित हो सकती है।

(२) श्वास रोग में सूक्ष्म श्वासनलिकाओं के संकीर्ण होने के कारण।

(३) फुप्फुस मूल पर बढ़ी हुई लसिका-ग्रन्थियों का श्वासनलों पर दबाव होने से।

(४) वायुध्मान में जितनी वायु अधिक होती है, वाचिक खरखराहट उतनी ही कम होती है।

(५) फेफड़े में सूत्र निर्माण और फलस्वरूप उसका सिकुड़ना।

(६) पार्श्वकला का मोटा होजाना।

(७) पार्श्वकला में स्राव का होना, चाहे वह शोथ, रक्तस्राव अथवा प्रदाह किसी कारण से क्यों न हुआ हो। फेफड़े के पाददेश के ठोसपन और पार्श्वकला के स्राव में भेद करने के लिए वाचक खरखराहट बहुत उपयोगी होती है। प्रथम दशा में यह साधारणतः बहुत बढ़ जाती है और दूसरी दशा में बहुत कम होजाती है।

(८) वायु-वक्ष अथवा जल-वायु-वक्ष।

(९) वक्ष की दीवार के कोमल तंतुओं की अत्यधिक वृद्धि, विशेषकर वसा और स्तनों की वृद्धि।

संक्षेप में वाचक खरखराहट निम्नलिखित दशाओं में कम होजाती है:—

(क) जब कोई वस्तु फेफड़े और वक्ष की दीवार को पृथक् करती है।

(ख) जब किसी चीज़ से श्वासनलों में शब्द-तरंगों के वाहन में बाधा पड़ती है, चाहे वह बाहर के दबाव से हो या अन्दर की रुकावट से।

स्पर्श से ज्ञात अन्य शब्द—अन्य प्रकार के शब्द जिनसे स्पर्श से ज्ञात होनेवाली खरखराहट उत्पन्न होती है, ये होते हैं:—

शुष्क कण—प्रखर तथा मञ्जुल शुष्क कण श्वास-रोग के द्योतक होते हैं।

आर्द्र कण—श्लेष्मिक और रांध्रिक।

घर्षण शब्द—यह विशेषकर कक्षीय प्रदेशों में मिलते हैं।

छलक शब्द उन रोगियों में मिलते हैं जिनकी पार्श्वकला में वायु और तरल होते हैं। रोगियों को हिलाने पर इन शब्दों का पता लगता है।

सामान्यतः वाचिक खरखराहट के सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक क्षय की पहचान में इससे बहुत कम सहायता मिलती है। इसका विशेष मूल्य विकार के विस्तार का पता लगाने और पार्श्वकला के स्रावों की पहिचान करने में होता है।

बीसवाँ परिच्छेद

विघातन परीक्षा

वक्ष को टटोलने के बाद उसको टकोरना अर्थात् ठोककर बजाना चाहिए। इस परीक्षा को विघातन परीक्षा कहते हैं। विघातन से वक्ष के अन्दर के अवयवों के सम्बन्ध में दो प्रकार से सूचना मिलती है—(१) ध्वनि से, जो वक्ष को सीधा या उस पर उंगली या अन्य कोई वस्तु रखकर ठोकने से निकलती है, (२) वक्ष के प्रतिरोध या लचक के ज्ञान से, जो वक्ष पर रक्खी हुई विघातमापक (Pleximeter) उंगली को प्राप्त होता है। मंद ध्वनि इस बात को सूचित करती है कि भीतर के तंतु कम स्पन्दनीय हैं और स्वस्थ फेफड़े की अपेक्षा उनमें वायु कम है। इस भाँति हृदय, यकृति और फेफड़ों की सीमा को अंकित किया जा सकता है, क्योंकि उनकी स्पन्दनीयता में अन्तर होता है। प्रतिरोध के ज्ञान से भीतर के तंतुओं की लचक का पता लग जाता है। अतएव स्वस्थ फेफड़े से उसके ठोसपन (Consolidation) और अभिव्यापन (Infiltration) की तथा वायुध्मान (Emphysema), पार्श्वकला में स्राव (Pleural effusion) और वायु की पहचान की जा सकती है। फेफड़े के रोगों की विशेषकर क्षय-रोग की पहिचान में विघातन का बड़ा महत्व होता है। फार्बिस ने यह ठीक कहा था कि सप्ताहों तक रोगी के लक्षणों की जाँच करने की अपेक्षा अक्षकास्थि पर एक बार ठोकने से कहीं अधिक पता चल सकता है। यद्यपि विघातन से सक्रिय क्षय-रोग का निश्चय रूप से पता नहीं लगता तथापि इससे बहुधा श्रवण-परीक्षा से पहले ही उसका सन्देह होजाता है। जब रोग इतना बढ़ जाता है कि उसकी पहचान हो सके तो विघातन से साधारणतः फेफड़े में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य मिल जाता है।

इतिहास—रोग की पहचान के लिए सबसे पहले यूनानवालों ने विघातन-विधि का प्रयोग किया था। परन्तु इन्होंने फेफड़े के रोगों के लिए नहीं, किन्तु उदर के रोगों के लिए, अफारा (Tympanitis) से जलंधर की पहचान के लिए इस विधि का प्रयोग किया था। फेफड़े के रोगों में विघातन का प्रयोग सबसे पहले लियोपोल्ड आयनब्रूगर ने किया था। उनका जीवनकाल सन् १७२२ से १८०९ तक था। वे अव्यवहित विधि (Immediate method) का अर्थात् वक्ष पर किसी वस्तु को न रखकर सीधा टकोरने की विधि का प्रयोग करते थे। आयनब्रूगर के इस कार्य के महत्व को लोगों ने उस समय नहीं समझा था।

लगभग ५० वर्ष बाद सम्राट् नेपोलियन के राजवैद्य कार्वीसार्ट ने इस विधि का यूरोप में फिर से प्रवर्तन किया और इसकी रक्षा की। सन् १८२४ ई० में जौनफार्विस ने आयनब्रूगर की पुस्तक का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। तब से इस परीक्षा-विधि का सर्वत्र प्रयोग होने लगा। यह अवश्य है कि असली विधि में बाद को विविध संशोधन होते गये।
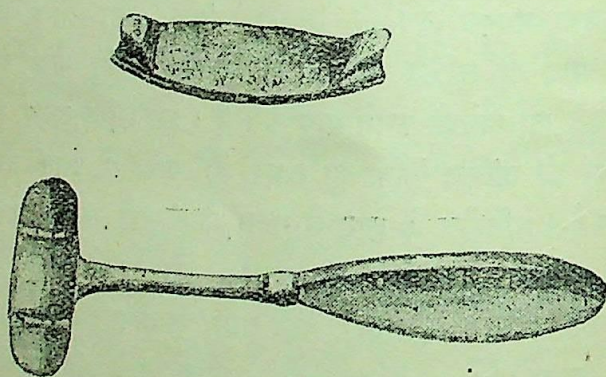
चित्र नं० ६८—विघात मापक
चित्र नं० ६९—विघातक

उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में पियरी ने विघातन की एक नई विधि निकाली। उन्होंने व्यवहित विधि (indirect method) का प्रयोग किया और वक्ष पर रखने के लिए हाथी दाँत की एक १॥ से २ इञ्च व्यास की गोल तथा ½ इञ्च मोटी पट्टी का और ठोकने के लिए हथौड़े के सदृश एक यंत्र (विघातक) का प्रयोग किया (चित्र नं० ६८ और ६९)। उन्होंने

यह भी सिद्ध किया कि प्रत्येक इन्द्रिय से अपनी विशिष्ट ध्वनि निकलती है।

बाद को उँगली की विधि को किसने चलाया, इसका ठीक पता नहीं लगता। इस विधि में बायें हाथ के बीच की उँगली को वक्ष पर रखने के लिए और दाहिने हाथ की बीच की उँगली को ठोकने के लिए काम में लाया जाता है। धीरे धीरे इस विधि का अधिक प्रचार हुआ और आजकल साधारणतः इसी विधि का प्रयोग किया जाता है।

विघातन परीक्षा की आवश्यक बातें—ठीक फल प्राप्त करने के लिए विघातन में तीन बातें आवश्यक होती हैं—

(१) ठीक विधि का सावधानी से प्रयोग करना।

(२) वक्ष के पृष्ठ शारीरक (Surface anatomy) का और उसके भीतर के अवयवों की ध्वनि और प्रतिरोध में उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनों का विशद ज्ञान।

(३) ध्वनि अथवा प्रतिरोध में विकार उत्पन्न करनेवाली सब रोगावस्थाओं का ठीक ठीक विचार।

विघातन की विधियाँ—आजकल विघातन की निम्नलिखित विधियों का प्रयोग होता है। पुरानी सब विधियाँ भी इन्हीं में शामिल हैं।

(१) आयनब्रूगर की अव्यवहित विधि (Direct method)।

(२) पियरी की विघातक—विघातमापक विधि (Plessor Pleximeter method)।

(३) उँगली विघातमापक विधि (Finger Pleximeter method)।

(४) उँगली उँगली विधि (Finger Finger method)।

आयनब्रूगर की विधि में दाहिने हाथ की चारों उँगलियों के सिरे एक दूसरे से समतल मिला लिये जाते हैं और अँगूठे की गद्दी उँगलियों के अन्तिम पोरवों के जोड़ पर रहती है। सब उँगलियों के सिरों से एक साथ वक्ष पर हलकी और सीधी चोट दी जाती है। इस परीक्षा-विधि का आजकल प्रयोग नहीं किया जाता। इसका एक संशोधन अक्षकास्थि इत्यादि अस्थियों के टकोरने में प्रयुक्त होता है।

पियरी की विघातक विघातमापक विधि और उँगलीविघातमापक विधि का प्रयोग इङ्गलैंड में अधिक प्रचलित नहीं है, परन्तु योरोप के अन्य

देशों में इनका प्रयोग अब भी बहुत होता है। यदि विघातन में ध्वनि पर अधिक भरोसा किया जाय तो निस्सन्देह इन विधियों के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु यदि ध्वनि की अपेक्षा प्रतिरोध या लचक के स्पन्दनों पर अधिक भरोसा किया जाय तो इन विधियों को दूसरा स्थान मिलना चाहिए। विघातमापक की निज की ध्वनि से विघातन ध्वनि में विघ्न पड़ने की सम्भावना अधिक होती है। पियरी की विघातन विधि के अनेक संशोधन हो चुके हैं जिनका प्रयोग इस समय किया जाता है।
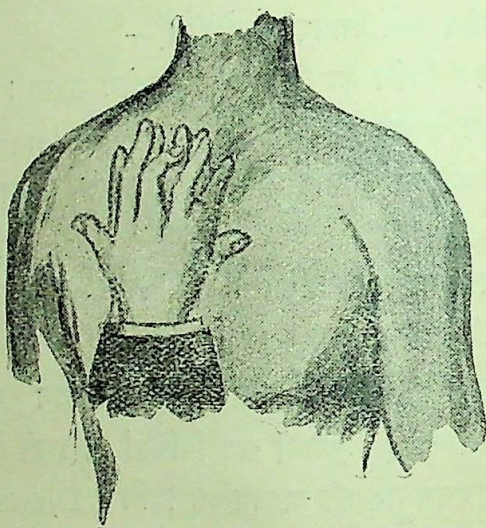
चित्र नं० ७०—फेफड़ों के विघातन की ग़लत विधि; इस विधि में दो त्रुटियाँ हैं—

(१) विघात मापक उँगली पसलियों के समानान्तर नहीं है। विघातमापक उँगली सदैव टकोरे जानेवाले इन्द्रिय के ऊपरी किनारे के समानान्तर होना चाहिये।

(२) पूरा हाथ वक्ष पर रक्खा हुआ है विघात मापक उँगली का केवल अन्तिम पोरुआ वक्ष पर रखना चाहिये।

उँगली उँगली विधि यद्यपि सीखने में अधिक कठिन होती है, परन्तु सबसे अधिक इसी का प्रयोग होता है और इससे निस्सन्देह अधिक ठीक सूचना मिलती है।

विघातन विधि के सीखने में विद्यार्थी को बहुत समय देना चाहिए और उँगली उँगली विधि के अभ्यास में कई एक बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(१) बायें हाथ की बीच की उँगली के अन्तिम पोरवे से विघातमापक का काम लेना चाहिए और यदि हलके विघातन की ज़रूरत हो

तो उसको वक्ष पर हलके से और यदि ज़ोर से टकोरना हो तो दृढ़ता से रखना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अन्य उँगलियाँ और शेष हाथ वक्ष से अलग रहें (चित्र नं० ७० और ७१)।
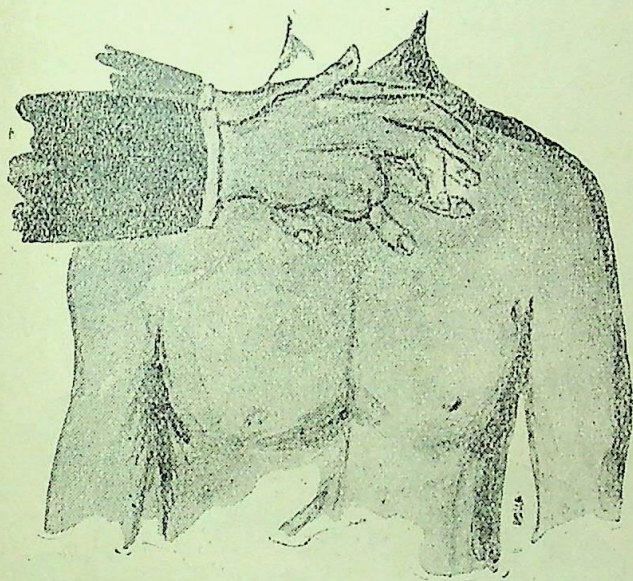
चित्र नं० ७१ —विघातन की ठीक विधि; विघातमापक उंगली का अन्तिम पोरवा एक अन्तर्पार्श्विक स्थल में फेफड़े के ऊपरी भाग के समानान्तर रक्खा है। विघातक उंगली की चोट नख से ऊपर सीधी पड़ती है।

(२) जिस इन्द्रिय को टकोरना हो, विघातमापक उँगली उसकी सीमा-रेखा के समानान्तर रखनी चाहिए। जब वक्ष के सम्मुख पृष्ठ को टकोरना हो तो उँगली पसलियों के बीच में और उनके समानान्तर, न कि उनके ऊपर रखनी चाहिए।

(३) दाहिने हाथ की बीच की उँगली को समकोण तक मोड़ना चाहिए और इससे विघातमापक उँगली पर नख से कुछ ऊपर शीघ्र और

सीधी चोट देनी चाहिए। यह सब कार्य कलाई से होना चाहिये (चित्र नं० ७२)। चोट के लगते ही उँगली तुरन्त उठ जानी चाहिए। क्रम-क्रम से दो या तीन चोट देनी चाहिए।

यह आवश्यक है कि परीक्षा के समय रोगी खड़ा या सीधा बैठा रहे और सीधा सामने देखता रहे। सिर इधर या उधर मुड़ा होने से
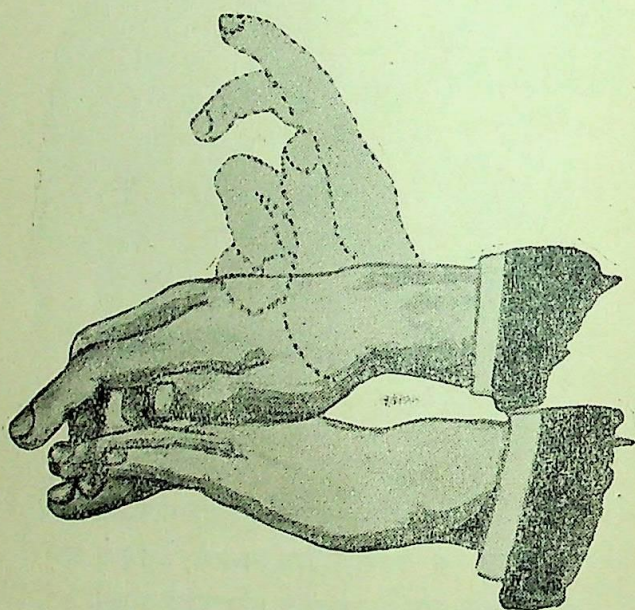
चित्र नं० ७२—वक्ष के विघातन की विधि; सम्पूर्ण गति कलाई से होनी चाहिये। विघातक उंगली समकोण तक मुड़ी होनी चाहिए और उससे विघातमापक उंगली के अन्तिम पोरवे पर नख से कुछ ऊपर सीधी चोट देनी चाहिए। परीक्षक की अग्रबाहु निश्चल होनी चाहिये।

अक्षकास्थि के ऊपर के भाग में मांसपेशी तथा अन्य तंतु तन जाते हैं, जिससे ध्वनि का स्वर चढ़ जाता है और प्रतिरोध बढ़ जाता है।

हलका और भारी विघातन—जैसा कि उँगली-उँगली विधि में बतलाया गया है, विघातन हलका भी हो सकता है और भारी भी। साधारण

नियम यह है कि जब पृष्ठस्थ मंदता का पता लगाना हो, तो हलके विघातन का प्रयोग करना चाहिए और विघातमापक उँगली को वक्ष पर हलके से रखना चाहिए। जब गहराई पर अवस्थित अवयवों की जाँच करनी हो तो विघातमापक उँगली को दृढ़ता से वक्ष पर रखना चाहिए और भारी चोट देनी चाहिए। चोट को क्रमशः बढ़ाने से फेफड़े के अधिकाधिक गहरे स्तर प्रभावित होते जाते हैं। पुरुष में चुचुक से ऊपर और उसके नीचे टकोरने से यह बात प्रमाणित हो सकती है। स्वस्थ व्यक्तियों में दोनों स्थानों में हलके विघातन से समान-ध्वनि निकलती है। परन्तु भारी चोट से चुचुक से ऊपर तो सुस्पष्ट गूँज निकलती है, पर उससे नीचे उच्च स्वर की और अपेक्षाकृत मंद ध्वनि निकलती है।

फेफड़ों की साधारण परीक्षा में वैसे तो विघातन की सर्वोत्तम विधि वह होती है जिससे परीक्षक को सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त हो और जिसका अर्थ परीक्षक भली प्रकार समझ सके। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पृष्ठस्थ और गहराई पर अवस्थित दोनों ही प्रकार के विकारों के लिए हलका विघातन अच्छा होता है। भारी चोट से न केवल चोट के नीचे के ही तंतुओं में स्पन्दन होता है, किन्तु उसके आसपास के तंतुओं में भी स्पन्दन होने लगता है। उदाहरणार्थ यकृति के ऊपर फेफड़े के किनारे से एक या दो इञ्च नीचे भी भारी चोट देने से फुप्फुस तंतु की द्योतक गूँजयुक्त ध्वनि निकल सकती है। भारी विघातन से फुप्फुस तंतु की अल्प मात्रा की मंदता छिप जाती है। फुप्फुस तंतु के अभिव्यापन के साथ सदैव परिपूरक वायुध्मान (Compensatory emphysema) होता है। भारी चोट से अभिव्यापन के ऊँचे स्वर की ध्वनि के स्थान में वायुध्मान के निम्न स्वर की ध्वनि निकलने लगती है। इसके विपरीत बहुत हलकी चोट से सब अंशों में मंदता का पता लग जाता है, चाहे वह गहरे स्थान की हो अथवा पृष्ठस्थ। थोड़ा सा भी अभिव्यापन होने से गूँज नहीं निकलती। हलकी चोट वस्तुतः फेफड़ेभर में प्रविष्ट होजाती है। जब कोई व्यक्ति सामने वक्ष के पृष्ठ पर टकोरता है उस समय रोगी की पीठ पर हाथ रखने से यह बात सिद्ध हो सकती है। थोड़ा सा अभ्यास होने पर हलके विघातन से कान बन्द कर लेने पर भी केवल प्रतिरोध के ज्ञान से यह बताया जा सकता है कि अभिव्यापन है, ठोसपन है या स्राव और यदि किसी भाग से कोई ध्वनि निकले तो वह गूँजयुक्त है या मन्द। इसलिये पास खड़े होनेवाले की अपेक्षा टकोरनेवाला अधिक बता सकता है। हलके

विघातन में विघातक उँगली की चोट इतनी हलकी होनी चाहिए जिससे सघन तंतु से बड़ी कठिनाई से कोई ध्वनि निकल सके। यदि उस भाग में वायु होगी तो उतनी ही चोट से कुछ न कुछ गूँज सुनाई पड़ेगी। अभ्यास के लिए विद्यार्थी को एक डबल रोटी लेकर उसमें एक धातु या पत्थर का टुकड़ा प्रविष्ट कर देना चाहिए और तब विघातनद्वारा उसको स्थानांकित करना चाहिए। डबल रोटी स्पञ्ज रूप होने से फेफड़ों से कुछ मिलती जुलती होती है।

कभी कभी हलके विघातनद्वारा फुप्फुस तंतु के अभिव्यापन से पार्श्वकला के मोटेपन की पहचान करना बड़ा कठिन होता है, विशेषकर फेफड़े के निचले भाग में। श्रवण-परीक्षा से इसका निर्णय करने में सहायता मिल सकती है। फिर भी ऐसे रोगियों में यह अच्छा होता है कि विघातन की चोट को उस समय तक क्रमशः बढ़ाया जाय जब तक ध्वनि में गूँज कर्णगोचर न होजाय। जब केवल पार्श्वकला में विकार होता है तो ऐसा होना सम्भव है, परन्तु जब मंदता का कारण फुप्फुस तंतु का अभिव्यापन या ठोसपन होता है तो ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे रोगियों में भारी चोट से भी गूँजयुक्त ध्वनि नहीं निकलती। स्थूलकाय और शोथयुक्त व्यक्तियों में दुर्बल अथवा साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा विघातन की चोट अधिक भारी होनी चाहिए, किन्तु उनमें भी चोट आवश्यकता से अधिक भारी नहीं होनी चाहिए। यह बात सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वक्ष की दीवार जितनी ही पतली हो, विघातन उतना ही हलका होना चाहिए और दीवार जितनी ही मोटी हो चोट उतनी ही भारी होनी चाहिए। सच तो यह है कि हरएक रोगी की विघातनध्वनि अलग अलग होती है और उसका पता नीरोग पार्श्व के कक्षीय प्रदेश में टकोरकर लगा लेना चाहिए। गूँज के निकालने के लिये जितने जोर के चोट की आवश्यकता हो उसको ध्यान में रखकर उतनी ही चोट से सारे वक्ष को टकोरना चाहिए।

विघातन में किन नियमों का पालन करना चाहिए—चाहे जिस विधि का प्रयोग किया जाय विघातन में कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है।

(१) निरीक्षण और स्पर्शन के बाद विघातन परीक्षा करनी चाहिए। वक्ष की दीवार के विकार और यथाप्रमाणता के अभाव का विघातन पर कुछ

प्रभाव पड़ता है, अतएव उनका ध्यान रखना चाहिए। उदाहरणार्थ कुब्ब के ऊपर की ध्वनि मन्द होती है।

(२) विघातन के समय परीक्षक को रोगी के सामने या पीछे खड़ा होना चाहिए। उसको झुकना नहीं चाहिए। ऐसा करने से रक्त मस्तिष्क में भर जाता है जिससे ध्वनि या प्रतिरोध के ज्ञान में बाधा पड़ जाती है।

(३) रोगी को खड़ा होना चाहिए अथवा तिपाई पर बैठा होना चाहिए और उसके दोनों कंधे समतल और सिर बीचोबीच होना चाहिए। मांसपेशियों में तनाव नहीं होना चाहिए। हाथ धड़ के बराबर लटकने चाहिए और कंधे आगे को झुके होने चाहिए। यह बड़ा आवश्यक है कि रोगी की स्थिति में कोई अयथाप्रमाणता न हो। यदि एक कंधा दूसरे से आधा इञ्च भी नीचा रहेगा तो ध्वनि कुछ मंद हो जायगी।

(४) यदि रोगी खड़ा हो या बैठ न सके तो उसका शरीर यथासम्भव समतल और सिर बीचोबीच और कुछ ऊँचा होना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि लेटने पर विघातन ध्वनि में साधारणतः गूँज कुछ अधिक होती है।

(५) पीठ की परीक्षा करते समय कंधों के बीच के प्रदेश को चौड़ा करने के लिये बाँह मुड़ी हुई और हाथ दूसरी ओर के कंधे पर होनी चाहिए और कोहनी उठी हुई और सामने कुछ झुकी हुई होनी चाहिए। कक्षों को नहीं भूलना चाहिए। इनकी परीक्षा करते समय रोगी को अपने दोनों हाथ सिर के पीछे एक दूसरे से पकड़ लेना चाहिए (चित्र नं० ७३)।

(६) परीक्षक के सुभीते के लिये भी रोगी को अपना सिर इधर-उधर नहीं करना चाहिए, इससे ध्वनि ऊँचे स्वर की होजाती है और प्रतिरोध अधिक होजाता है।

(७) जब केवल एक ओर रोग होता है तो दूसरा फेफड़ा तुलामान का काम करता है। अतएव एक ओर की दूसरी ओर से सदैव तुलना करनी चाहिए। इसके लिये यह आवश्यक है कि—

(क) विघातमापक उँगली दोनों ओर समान दृढ़ता से रक्खी जाय। वक्ष के भीतर की ध्वनि में किसी बात से इतना अन्तर नहीं पड़ता जितना विघातमापक उँगली के दबाव के अन्तर से।

(ख) दोनों ओर चोट एक सी हो।

(ग) दोनों ओर बिलकुल अनुरूप भागों को जाँच की जाय।

(घ) दोनों ओर विघातन की चोट श्वासक्रिया के एक ही काल में दी जाय।

(ङ) चोट की दिशा से ध्वनि में परिवर्तन होजाता है। चोट सदा सीधी लम्बी रेखा में पड़े और टेढ़ी कदापि न हो।
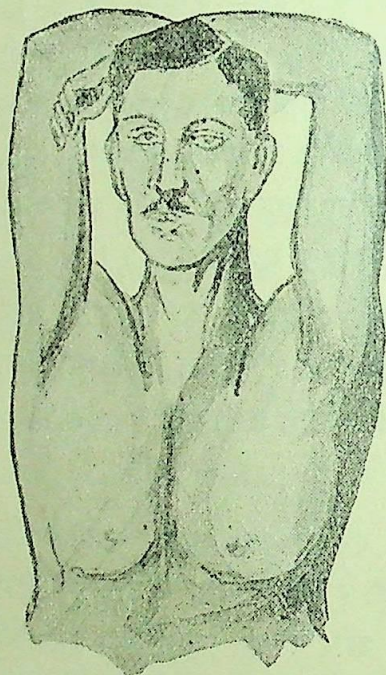
चित्र नं० ७३—कक्ष का विघातन

जब विघातन प्रकृतिस्थ लचक से आरम्भ किया जाता है तो नीचे स्वर और ऊँचे स्वर की तथा बढ़े हुये प्रतिरोध की पहिचान करना अधिक आसान होता है। इसलिए स्वस्थ भाग से रोगाक्रान्त भाग की ओर टकोरना अच्छा होता है। इसलिए साधारणतः नीचे से ऊपर को टकोरना चाहिए।

(८) फुप्फुस शिखर की परीक्षा के समय यदि रोगी बैठा हो तो अधिक अच्छा होता है। निम्नलिखित स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) प्रथम अन्तर्पार्श्विक स्थल का भीतरी भाग, (२) अक्षकास्थि के ऊपर का प्रदेश, (३) प्रथम और दूसरे वक्षीय कशेरुका के निकट अंसफलक के ऊपर का प्रदेश, (४) निम्नखंड का ऊपरी भाग—अंसप्राचीरक के मूल

के ऊपर और नीचे, (५) क्रानिग का डमरू-मध्य (Isthmus of kronig)।

विघातन-ध्वनि को तीव्र बनाने की विधियाँ—कभी कभी सन्देहयुक्त रोगियों में ध्वनि की गूँज को, विशेषकर फुप्फुस शिखर पर, बढ़ाना बड़ा उपयोगी होता है। इसके लिए चार विधियाँ काम में लाई जाती हैं।
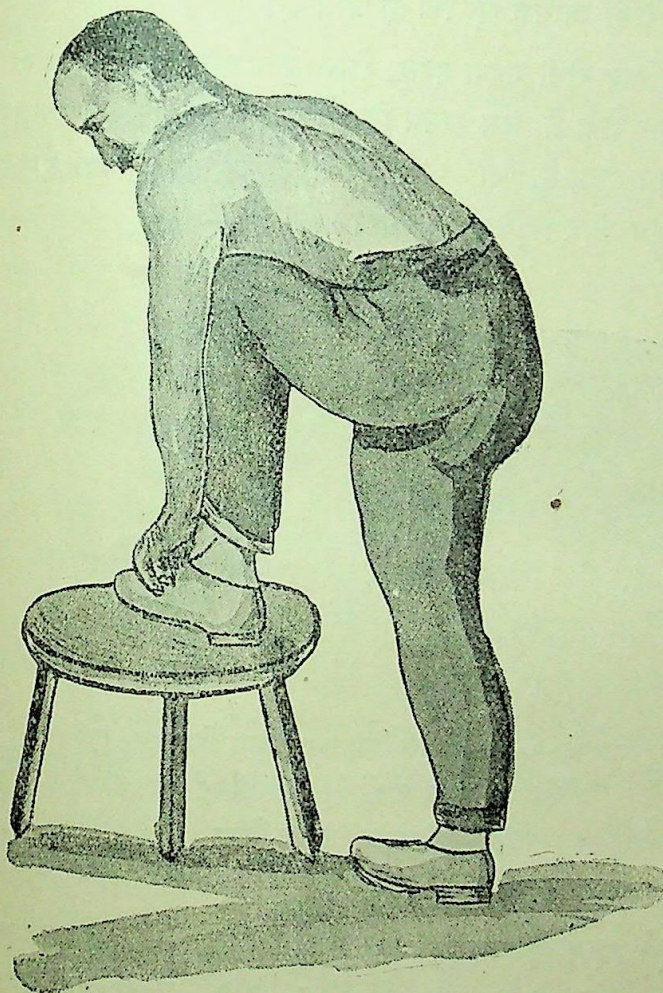
चित्र नं० ७४—विघातन ध्वनि को तीव्र करने की विधि;

(१) रोगी को लकड़ी के परदे अथवा दरवाजे के सहारे खड़ा किया जाता है। इससे ध्वनि की गूँज बढ़ जाती है।

(२) यदि रोगी अपना एक पैर तिपाई पर रखकर और सामने झुककर खड़ा हो मानो कि वह अपने जूते का फीता बाँध रहा है, तो

विघातन-ध्वनि अधिक तीव्र होजाती है; क्योंकि पेट पर दबाव पड़ने से फेफड़े वक्ष की कोठरी में ऊपर को उठ जाते हैं जिससे शिखर की ध्वनि बढ़ जाती है (चित्र नं० ७४)।

(३) जब रोगी गहरा श्वास लेकर अन्दर रोक ले, उस समय टकोरने से स्वस्थ फेफड़े की गूँज बढ़ जाती है। यदि कुछ अभिव्यापन होता है तो गूँज की कमी अधिक सुव्यक्त होजाती है।

(४) जब रोगी गहरा श्वास लेकर सब वायु को यथाशक्ति बाहर निकालकर श्वास रोक ले, उस समय विघातन-ध्वनि में परिवर्तन होजाता है। यदि अभिव्यापन होता है, तो ध्वनि की मंदता अधिक सुव्यक्त होजाती है। विघातन की तीन और विधियाँ उपयोगी होती हैं:—
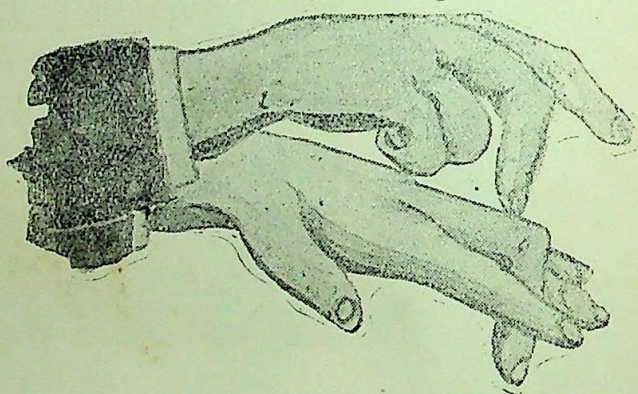
चित्र नं० ७५—अंगुलि-शिखर या खड़ा विघातन; इस विधि का गूंज क्षेत्रों को सीमांकित करने में विशेषतया प्रयोग किया जाता है।

(१) स्पर्श-विघातन—(Palpatory percussion) इस विधि में विघातमापक उँगली पर विघातक उँगली से शीघ्र चोट देने के बजाय विलम्बित चोट देते हैं और तुरन्त नहीं उठाते हैं। स्पर्श-विघातन हृदय, यकृति और प्लीहा को सीमाङ्कित करने में और पार्श्वकला में स्राव का पता लगाने में बड़ा उपयोगी होता है।

(२) अँगुलि-शिखर या खड़ा विघातन—(Finger tip or Orthopercussion) इस विधि में विघातमापक उँगली का केवल सिरा

वक्ष के ऊपर रहता है और उँगली स्वयं खड़ी रहती है, परन्तु वह पर्व-संधि पर मुड़ी रहती है। विघातक उँगली से बहुत हलकी चोट पर्व-संधि पर दी जाती है। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि केवल उँगली का सिरा ही वक्ष पर रहता है और विघातक उँगली से बहुत हलकी चोट दी जाती है (चित्र नं० ७५)।

इस विधि से निम्नलिखित अनुरूप प्रदेशों की विघातन परीक्षा की जाती है :—

(क) अक्षकास्थि के ऊपर का त्रिकोण (Supra clavicular triangle)

(ख) उरकर्ण-मूलिका (Sternomastoid) पेशी के दोनों सिरों के बीच का स्थान।

(ग) अक्षकास्थि और वक्षोऽस्थि के बीच का कोण।

(घ) अंसफलक के ऊर्द्ध कोण (Superior angle of scapula) से अन्दर का प्रदेश।

(ङ) अंसप्राचीरक (Spine of scapula) के मूल से अन्दर का प्रदेश।

इस विघातन विधि से ठोस इन्द्रियों और गूँजयुक्त फुप्फुसतंतु से लगा हुआ स्राव तुरन्त सीमांकित होजाता है और अभिव्यापन के छोटे छोटे टुकड़ों का पता लग जाता है। फुप्फुसमूल की मंदता का भी इस विधि से अधिक शीघ्र पता लग जाता है।

(३) श्रवण-विघातन—(Auscultatory percussion) उरवीक्षक यंत्र के मुँह को किसी एक फुप्फुसखंड पर रखकर वक्ष को उसकी ओर विकिरण रेखाओं में हलकी और सीधी चोटों से टकोरते चले आते हैं। उरवीक्षक यंत्र से ध्वनि इतनी बढ़ जाती है कि बहुत सूक्ष्म परिवर्तनों का भी पता लग सकता है और फेफड़े के स्वस्थ भाग से रुग्न भाग पर पहुँचने पर अथवा एक इन्द्रिय या एक फुप्फुस खंड से दूसरे पर पहुँचते ही तुरन्त पता लग जाता है। यह परीक्षा-विधि ठोसपन के विस्तार का पता लगाने के लिए, फेफड़े और हृदय को तथा फुप्फुस खंडों को सीमांकित करने के लिए बड़ी उपयोगी होती है।

विघातन से निकले हुए शब्द का विश्लेषण—अनेक परीक्षक भारी विघातन पर विश्वास करते हैं और भीतर के अवयवों की दशा का

पता लगाने में विघातन ध्वनि पर भरोसा करते हैं। यद्यपि साधारणतः इसका प्रयोग ठीक नहीं होता, फिर भी प्रत्येक परीक्षक को भारी विघातन के प्रयोग से पूर्णतः परिचित होना चाहिए। इसलिए इसका अध्ययन और अभ्यास करना चाहिए। विघातन से निकली हुई ध्वनि में विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तीन बातें मिलती हैं:—

(१) **स्वर** (Pitch)—स्वर स्पन्दनों की गति पर और स्पन्दनों की गति वायु के स्तम्भ पर अवलम्बित होती है। जब वायुस्तम्भ लम्बा होता है तो स्पन्दनों की गति का वेग उसी के अनुसार कम होता है, स्वर नीचा होता है, और ध्वनि गूँजयुक्त होती है। जब वायुस्तम्भ छोटा होता है तो स्वर ऊँचा और ध्वनि गूँजहीन अर्थात मन्द होती है। इसलिए किसी भाग की ध्वनि का स्वर उस भाग के अन्तर्गत वायु के परिमाण के अनुसार होता है। जितनी ही वायु अधिक होती है, स्वर उतना ही अधिक नीचा होता है। स्वस्थ फेफड़े की ध्वनि निम्न स्वर की होती है और वह यकृति की मन्द ध्वनि तथा वायुवक्ष की तम्बूरीय गूँज (Tympanitic resonance) के बीच में होती है। तम्बूरीय गूँज विघातन की ध्वनियों में सब से अधिक निम्न स्वर की होती है और नीरोग व्यक्तियों में केवल उदर के ऊपर पाई जाती है।

(२) **गूँज** (Resonance) स्पन्दन की जो तरंगे कान तक पहुँचती हैं, गूँज उनके आयतन पर अवलंबित होती है। इसपर निम्नलिखित बातों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है:— (क) चोट की प्रबलता, (ख) अन्तर्स्थित फुप्फुस तंतु की मात्रा, (ग) वक्ष की दीवार के कोमल तंतुओं की मोटाई। मोटे व्यक्तियों में ध्वनि निकालने के लिए दुबले पतले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रबल चोट देने की आवश्यकता होती है। (घ) उपपर्शुकाओं की लचक। जब ये लचकदार होती हैं तो गूँज अधिक तीव्र होती है। जब ये कठोर होती हैं, जैसा कि वृद्धावस्था में होता है, तो गूँज कम होजाती है और ध्वनि ऊँचे स्वर की होजाती है। ध्वनि का स्वर जितना ऊँचा होता जाता है, उसकी गूँज उतनी ही कम होती जाती है। फुप्फुस तंतु की गूँज लम्बी, विशद और निम्न स्वर की होती है, परन्तु तम्बूरीय नहीं होती। वायु की मात्रा जितनी अधिक होती है, विघातन ध्वनि में गूँज उतनी ही अधिक होती है।

(३) **गुण** (Quality)—ध्वनि का गुण अन्तर्स्थित तंतुओं की रचना पर निर्भर होता है। यह वह विशिष्ट लक्षण होता है जिसके द्वारा

एक वस्तु से उत्पन्न ध्वनि की दूसरी वस्तु से उत्पन्न वैसी ही ध्वनि से पहचान की जा सकती है। यह बताने के लिए कि आवाज़ किस बाजे की है, हमको हारमोनियम, सितार, बाँसुरी इत्यादि बाजों के देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी आवाज़ के गुण से ही पता लग जाता है कि आवाज़ किस बाजे की है। इसी प्रकार वक्ष के विभिन्न अवयवों से जो ध्वनि निकलती है, वह भिन्न भिन्न गुणों की और विशिष्ट प्रकार की होती है। उदाहरण के लिए हड्डी को ठोकने पर एक विशेष ध्वनि निकलती है। इसमें अस्थि-गुण होता है। स्वस्थ फेफड़े से जो ध्वनि निकलती है उसमें वायु-कोष्ठीय (Vesicular) गुण होता है और यह अगणित वायुकोष्ठों के समवाय से उत्पन्न होती है। समझाने के लिए इससे मिलती जुलती ध्वनि डबल रोटी को टकोरकर प्रगट की जा सकती है। खाली आमाशय से तम्बूर के समान ध्वनि निकलती है। स्वस्थ फेफड़े से निकली हुई ध्वनि मृदुल गुण की कही जाती है। जब फेफड़ा रोग से अभिव्याप्त अथवा सघन होजाता है तो ध्वनि कठोर होजाती है। जब वायु की अधिकता होती है तो ध्वनि का गुण तम्बूरीय होजाता है।

स्वर, गूँज और गुण में परस्पर सम्बन्ध—इन तीनों बातों में कुछ परस्पर सम्बंध होता है। जब भीतर के फुप्फुस तंतुओं में वायु की मात्रा अधिक होती है तो स्वर नीचा, गूँज बढ़ी हुई और गुण मृदुल होता है। जब वायु की मात्रा कम होती है तो स्वर ऊँचा गूँज कम और गुण कठोर होता है।

इन तीनों बातों में और वक्ष के प्रतिरोध में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उपपर्शुकाओं में जितनी लचक अधिक होती है, वक्ष की दीवारें उतनी ही अधिक दबती हैं। इस लचक पर विहत भाग की सम्पीडनीयता अर्थात् कम या अधिक लचकीलेपन का प्रभाव होता है। इसमें फुप्फुस-तंतु के अभिव्यापन, ठोसपन तथा पार्श्वकला में स्राव से परिवर्तन होजाता है। द्रव तथा दृढ़ पदार्थों में प्रतिरोध बहुत होता है, और वायुभरे तन्तुओं में कम होता है। जिन दशाओं में ध्वनि का स्वर बढ़ता है, गूँज कम होती है और गुण कठोर होता है, उन सब में प्रतिरोध अधिक होजाता है। विघातन परीक्षा के विद्यार्थी को स्वस्थ व्यक्ति पर अभ्यास करना चाहिए और इस बात का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए कि ठस, मन्द, गूँजयुक्त, अतिगूँजयुक्त

तथा तम्बूरीय शब्दों से क्या बोध होता है। इनके प्रतिरूपक उदाहरण स्वस्थ वक्ष के निम्नलिखित स्थानों में टकोरने पर मिल सकते हैं—

(१) ध्वनि का ठसपन (Flatness) मांसपेशी के समूहों पर, जैसे कि जंघा पर।

(२) मन्द ध्वनि—भुजाओं को लटकाकर अंसफलक पर।

(३) गूंज—भुजाओं को मोड़कर अंसफलक के नीचे।

(४) अति गूंज—उसी स्थान में गहरा श्वास लेकर ठोकने पर।

(५) तम्बूरीय ध्वनि—आमाशय के ऊपर विशेषकर भोजन से पहले।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी विशिष्ट विघातन ध्वनि और प्रतिरोध की मात्रा होती है। तुलना के लिए परीक्षा के आरम्भ में ही इसका पता लगा लेना चाहिए। प्रत्येक आयुकाल की अपनी ध्वनि होती है। उदाहरणार्थ, तरुणावस्था में स्वर नीचा, गूँज बढ़ी हुई और ध्वनि का गुण मृदुल होता है। इसके विपरीत वृद्धावस्था में, जब उपपर्शुकाएँ कड़ी होजाती हैं, फुप्फुस तंतु सिकुड़ जाता है और लचक कम होजाती है, तो ध्वनि का स्वर ऊँचा होजाता है, गूँज कम होजाती है, गुण कठोर होजाता है और प्रतिरोध बढ़ जाता है।

वक्ष की आदर्शमान ध्वनि—ऊपरी कक्ष प्रदेश (Superior axillary region) की ध्वनि को आदर्शमान ध्वनि माना जा सकता है। इसका लक्षण निम्न स्वर, विशद गूंज और मृदुल सुस्पष्ट कोष्ठीय गुण होता है। किसी व्यक्ति के विघातन के समय उर्द्ध कक्षप्रदेश से आरम्भ करना अच्छा होता है, ताकि इससे उस व्यक्ति की आदर्शमान ध्वनि और प्रतिरोध ध्यान में रहे। आदर्शमान ध्वनि के जानने के लिए उस पार्श्व को लेना चाहिए जिसके नीरोग होने की सम्भावना हो।

निम्न कक्षप्रदेशों (Inferior axillary regions) पर दाहिनी ओर यकृत का और बाईं ओर प्लीहा का प्रभाव पड़ता है।

प्रादेशिक विघातन—वक्ष के प्रत्येक भाग में ध्वनि और प्रतिरोध सम्बन्धी अपनी अपनी विशिष्टता होती है। आदर्शमान ध्वनि में ये परिवर्तन उस स्थान के अवयवों के कारण होते हैं।

विभिन्न स्थानों पर ध्यान देने से निम्नलिखित परिवर्तन मिलते हैं—

(१) अक्षकास्थि से ऊपर का प्रदेश (Supra Clavicular region)—अक्षकास्थि से ऊपर के प्रदेश में ध्वनि कुछ ऊँचे स्वर की और हलकी गूँज की होती है। उसका गुण टेंटुआ के समीप होने के कारण अंशतः तम्बूरीय और अंशतः कोष्ठीय होती है। यह बात बाईं ओर की अपेक्षा दाहिनी ओर अधिक स्पष्ट होती है। ध्वनि अक्षकास्थि से $1\frac{1}{2}$ या दो इंच ऊपर तक निकलती है।

(२) अक्षक प्रदेश—अक्षक प्रदेश में विभिन्न भागों में ध्वनि भिन्न भिन्न होती है। बाहरी तिहाई भाग बिलकुल मंद होता है। इसका केवल कंधे के जोड़ से सम्बंध होता है। इसलिए इसका विघातन अनावश्यक होता है। बीच के तिहाई भाग का फेफड़े के सम्मुख तथा वाह्य पृष्ठ से सम्बंध होता है। यहाँ पीछे और अन्दर की ओर चोट देनी चाहिए। भीतरी तिहाई भाग का फुप्फुस शिखर के सम्मुख पृष्ठ से सम्बंध होता है। यहाँ चोट सीधी पीछे को देनी चाहिए।

इन दोनों भागों में ध्वनि के स्वर में अन्तर होता है। बीच के तिहाई भाग पर कुछ नीचा और भीतरी तिहाई भाग पर आदर्शमान ध्वनि से कुछ ऊँचा होता है। दोनों स्थानों में गूँज सुस्पष्ट होती है; क्योंकि फुप्फुसिय ध्वनि में अस्थीय ध्वनि मिल जाती है। दोनों स्थानों की ध्वनि के गुणों में अन्तर होता है। बीच के तिहाई भाग पर यह कोष्ठीय होता है और भीतरी तिहाई भाग पर टेंटुआ के सन्निकट होने के कारण कुछ कुछ तम्बूरीय होता है।

(३) निम्नाक्षक प्रदेश—अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश में विघातन-ध्वनि का स्वर नीचा, गूँज अधिक और गुण कोष्ठीय होता है।

(४) उर प्रदेश—उर प्रदेश में बाईं ओर ध्वनि पर तीन अवयवों का विशेष प्रभाव होता है—उरच्छदा पेशी, कुच और हृदय। फलतः स्वर ऊँचा, गूँज कम और गुण कोष्ठीय होते हुए भी कुछ कठोर होता है। उर प्रदेश में दाहिनी ओर यकृति का प्रभाव पड़ता है। यकृति का गुम्बद चौथी पसली के समतल तक पहुँचता है। भारी विघातन से यह भलीभाँति सुव्यक्त होजाता है। हलके विघातन पर भी ध्वनि का स्वर कुछ ऊँचा, गूँज कम और गुण कठोर होता है।

(५) कुच से नीचे का प्रदेश—कुच से नीचे के प्रदेश में बाईं ओर चार बातों का विघातन पर प्रभाव पड़ता है— हृदय, यकृति, सीहा और

आमाशय। हृदय चुचुकरेखा तक पहुँचता है। यकृति वक्षोऽस्थि के गात के निचले किनारे के समतल पर मध्यरेखा से तीन इञ्च परे तक पहुँचता है। सीहा की औसत लम्बाई चार इंच और चौड़ाई तीन इंच तक होती है और यह नवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं पसलियों से लगी हुई होती है। इसका अगला हिस्सा सामने की कक्षीय रेखा तक जाता है।

इस प्रदेश में कुछ कुछ त्रिकोणाकार एक क्षेत्र होता है जिसको 'ट्रावे का स्थल' कहते हैं। यह स्थल धरातल पर लगभग ३½ इंच चौड़ा होता है और यह दाहिनी ओर यकृति से, नीचे पार्श्विक धारा से और बाईं ओर सीहा से सीमित होता है (चित्र नं० ७६)। इसका महत्व इस कारण होता है
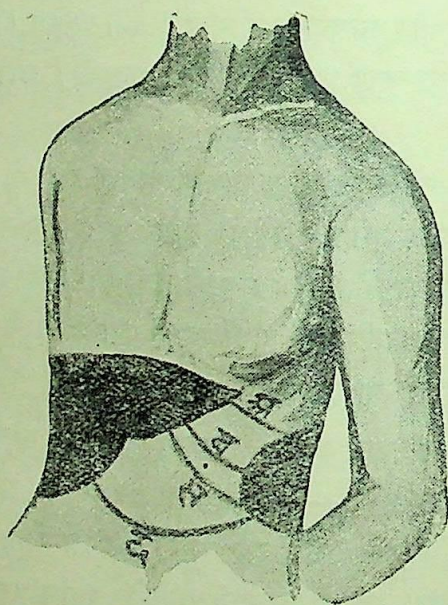
चित्र नं० ७६—ट्रावे का स्थल; यह स्थल बाएँ फेफड़े के पाददेश में सामने पाया जाता है और इसकी निम्नलिखित सीमाएँ होती हैं—(अ) ऊपर फेफड़े का निचला किनारा और हृदय; (ब) नीचे पार्श्वकला का निचला किनारा, दाहनी ओर यकृति और बाईं ओर प्लीहा; (स) पार्श्वधारा पार्श्वकला के निचले किनारे से एक अगुंल नीचे है; (द) आमाशय पीछे होता है और उससे यह क्षेत्र गूंजयुक्त होता है, पार्श्वकला के गह्वर में तरल स्राव भर जाने से इस क्षेत्र की गूंज कम होजाती है या मिट जाती है। फेफड़े के रोगों में इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कि साधारणत: यह गूँजयुक्त होता है, विशेषकर जब आमाशय खाली होता है। जब दोनों में से किसी पार्श्वकला की थैली में स्राव होता है तो यह मंद होजाता है। जब बाईं ओर स्राव होता है तो स्राव इस स्थान में भर जाता है और जब दाहिनी ओर स्राव होता है तो यकृति नीचे को दब जाती है और हृदय स्थानच्युत होजाता है। जब स्राव बाईं ओर होता है और उसकी मात्रा कम होती है तो केवल रोगी के खड़े होने पर या सीधा बैठने पर मंदता मिलती है।

दाहिनी ओर कुच के नीचे के प्रदेश में यकृति के कारण ध्वनि कुछ ऊँचे स्वर की, हलकी गूँज की और कठोर होती है। स्वस्थावस्था में फेफड़े का निचला किनारा गहरा श्वास लेने पर नीचे को उतर आता है और टकोरने पर साधारण श्वास की अपेक्षा मध्याक्षक रेखा में एक इंच और मध्य कक्ष रेखा में दो से तीन इंच अधिक नीचे तक गूँज मिलती है।

(६) अंसफलक से ऊपर का प्रदेश—अंसफलक से ऊपर के प्रदेश में अधिक मांस होने पर भी विघातनध्वनि का स्वर नीचा, गूँज कम और गुण स्पष्ट कोष्ठीय होता है। मध्यरेखा के समीप टेंटुआ के कारण यह कुछ कुछ तम्बूरीय हो सकता है।

(७) अंसफलक प्रदेश—अंसफलक प्रदेश में विघातन ध्वनि पर न केवल मांसपेशियों की अधिकता का ही, बल्कि एक बड़ी चपटी हड्डी का भी प्रभाव होता है। फलत: स्वर ऊँचा, गूँज कम और गुण फुप्फुसिय होता है, परन्तु अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कम सुव्यक्त होता है।

(८) अन्तरांसफलक प्रदेश (Interscapular region)—अंसफलकों के मध्यवर्ती प्रदेश में मांसपेशियों के कारण विघातन ध्वनि का स्वर ऊँचा, गूँज मध्यम और गुण टेंटुआ की उपस्थिति से प्रभावित होने के कारण, विशेष करके दाहनी ओर कुछ कुछ तम्बूरीय तक सा हो जाता है। फुप्फुसमूल के रोग में इस प्रदेश में रीढ़ के एक या दोनों ओर ध्वनि मंद होजाती है। ईवार्ट ने चौथे वक्ष कशेरुकंटक से आठवें वक्ष कशेरुकंटक तक एक अंडाकार क्षेत्र का वर्णन किया है जो ऐसे रोगियों में विघातन पर मंद होजाता है।

(९) अंसफलक से नीचे का प्रदेश—अंसफलक से नीचे के प्रदेश में ध्वनि बहुत नीचे स्वर की, अधिक गूँजवाली और गुण में कोष्ठीय होती है।

दाहिनी ओर यकृति से प्रभावित होकर स्वर कुछ ऊँचा हो सकता है। बाईं ओर प्लीहा और आमाशय से इसमें परिवर्तन हो सकता है अथवा गुण कुछ तम्बूरीय हो सकता है। पाददेश में गूँज अंसफलक के कोण से ३ या ३½ इंच नीचे तक मिलनी चाहिए। वायुध्मान, श्वास या वायुवत्त रोग में गूँज अधिक नीचे तक मिलती है। सूत्र-निर्माण में, यकृति अथवा प्लीहा वृद्धि में और उदर के जलंधर, मेद वृद्धि इत्यादि रोगों में गूँज ऊँची होजाती है। यह बताना रोचक होगा कि साधारणतः इस गूँज का क्षेत्र चौड़ाई में लगभग हथेली के बराबर होता है (चित्र नं० ७७)। पाददेशों के विघातन में यह देखना चाहिये कि
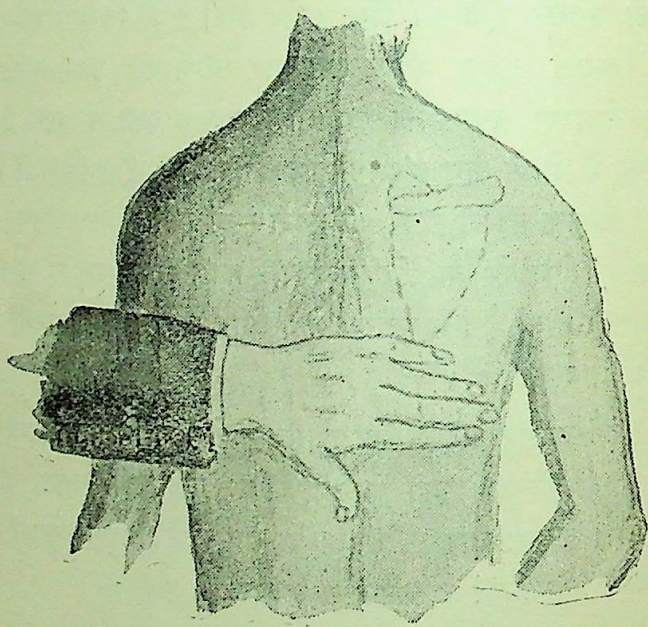
चित्र नं० ७७—फेफड़े का निचला किनारा अंसफलक के निम्न कोण से तीन या साढ़े तीन इञ्च नीचे तक पहुँचता है जो लगभग हाथ की चौड़ाई के बराबर होता है, जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है। पीठ पर हाथ रखने से तुरन्त पता लगाया जा सकता है कि गूंज प्रकृतिस्थ है या उसका क्षेत्र न्यूनाधिक होगया है।

गहरे प्रश्वास और गहरे निश्वास से गूँजक्षेत्र कितना बढ़ और घट जाता है। प्रकृतिस्थ दशा में साधारण श्वास में अंसफलक रेखा में वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी में ½ इंच गति होती है और गहरे श्वास में २ या २½ इंच तक होती

है। इस पेशी में दोनों ओर गति समान होनी चाहिए। पार्श्वकला के प्रदाह, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी के लकवा, क्षय-रोग, वायुध्मान और श्वास रोग में गति-विस्तार कम होजाता है।

फेफड़ों के शिखरों की विघातन परीक्षा—फेफड़ों के शिखरों पर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि क्षय-रोग बहुधा यहीं पर आरम्भ होता है और उसके निश्चित रोग-चिन्ह टकोरने पर सबसे पहले यहीं पर मिलते हैं। शिखर की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। शरीर के पृष्ठ पर इसको वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि के जोड़ से सीधी ऊपर को १½ इंच तक रेखा खींचने से सोमांकित किया जा सकता है। वहाँ से यह रेखा बाहर को घूमती हुई और उरकर्ण-मूलिका पेशी को काटती हुई नीचे को उतरती है और हँसली के भीतरी और बीच के तिहाई भागों के जोड़ पर आ गिरती है। शिखर को दो दिशाओं से टकोरना चाहिए—(१) सामने से और (२) बग़ल से।

विघातमापक उँगली को पहले उरकर्णमूलिका पेशो पर रखनी चाहिए और चोट सीधी पीछे को देनी चाहिए। दो अंगुल के लगभग गूँज मिलनी चाहिये। क्षय-रोग में गूँज खड़ी और तिरछी दोनों दिशाओं में कम होजाती है।

इसके बाद विघातमापक उँगली को अक्षकास्थि के समानान्तर उसके मध्य तिहाई भाग के ऊपर रखनी चाहिए। विघातन की चोट पीछे को, भीतर को और कुछ नीचे को देनी चाहिये। लगभग दो अंगुल सुस्पष्ट और एक अंगुल कम स्पष्ट गूँज मिलनी चाहिये। इन दोनों दिशाओं में टकोरने के लिए परीक्षक को रोगी के पीछे या एक ओर को खड़ा होना चाहिए और विघातमापक उँगली की नोक मध्यरेखा की ओर होनी चाहिए (चित्र नं० ७८)।

शिखर का विघातन पीछे अंसप्राचीरक से ऊपर के प्रदेश में भी किया जा सकता है। इसकी विधि चित्र नं० ७९ में दिखलाई गई है।

शिखरों की गूँज का सीमांकित करना—गर्दन के इधर-उधर टकोरने पर कुछ भाग में गूँज मिलती है। जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो फेफड़ों के शिखरों की इस गूँज को सीमांकित करना बड़ा उपयोगी होता है।
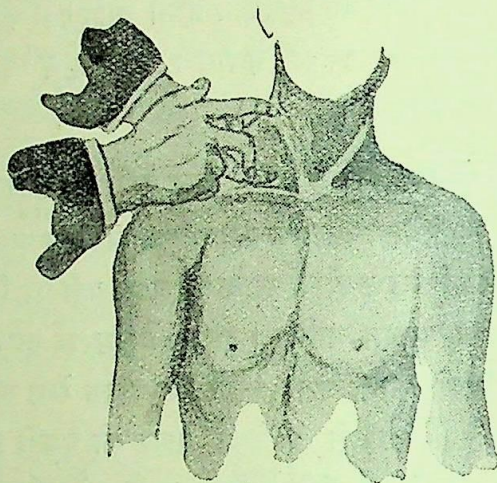
चित्र नं० ७८ फुप्फुस शिखर का
विघातन—सामने से;
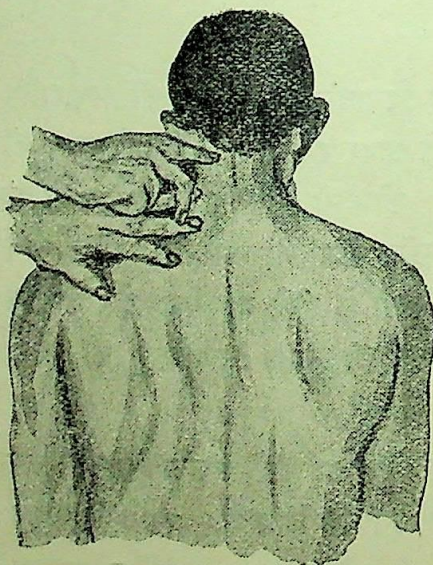
चित्र नं० ७९ फुप्फुस शिखर
का विघातन—पीछे से;

सबसे पहले क्रानिग ने इस गूँजक्षेत्र को सीमांकित किया था, इसलिए इसको क्रानिग का गूँजक्षेत्र कहते हैं। वर्णन करने की अपेक्षा (चित्र नं० ८० और ८१) को
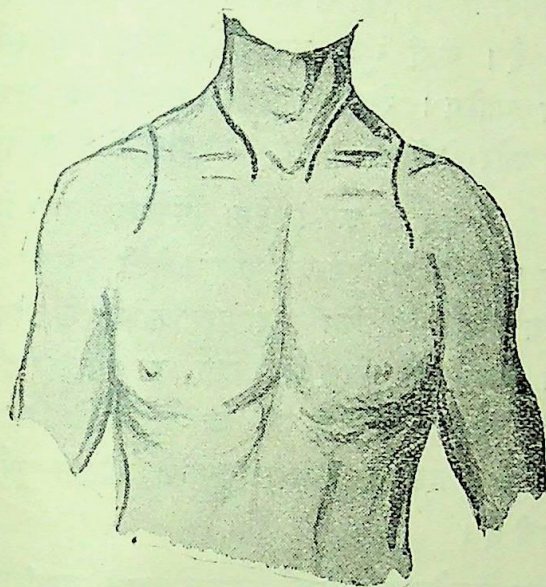
चित्र नं० ८०—क्रानिग का
गूँज क्षेत्र—सामने;
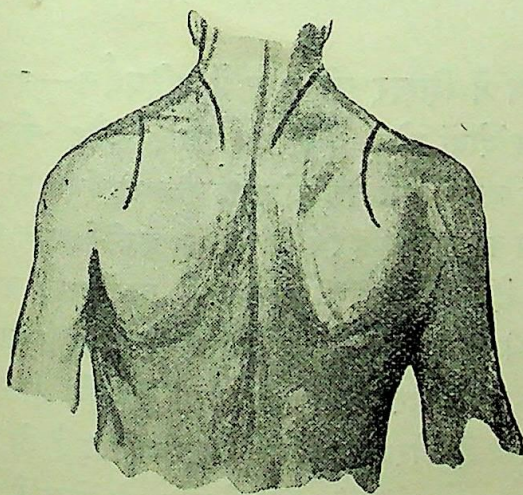
चित्र नं० ८१—क्रानिग का
गूँज क्षेत्र—पीछे;

देखने से इसका अधिक अच्छा ज्ञान हो सकता है। इस क्षेत्र को सीमांकित करने के लिए मध्यमा उँगली के केवल सिरे को विघातमापक के लिए काम

में लाना चाहिए; क्योंकि विघातमापक जितना छोटा होगा, सीमांकन उतना ही अधिक ठीक होगा। विघातन कंधे की चोटी से प्रारम्भ करके ऊपर को गर्दन की ओर अथवा कर्णमूलिका से प्रारम्भ करके नीचे को कंधे की ओर किया जा सकता है। जहाँ गूँज मालूम हो, वहाँ चर्मलेखनी पेन्सिल से निशान बना देना चाहिए। रोगी का शिर सामने को झुका और कंधे ढीले होने चाहिए और रोगी को शान्तिपूर्वक श्वास लेना चाहिए।

क्रानिग के गूँजक्षेत्र की ऊपरी सीमा प्रकृतिस्थ दशा में चतुरस्रा पेशी के उस स्थान पर होती है, जहाँ उरकर्णमूलिका पेशी इसको पार करती है। यहाँ से सीमारेखा सामने वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि के जोड़ तक जाती है और पीछे प्रथम वक्ष कशेरूकंटक से ½ इञ्च दूर तक जाती है। निचली सीमा उस रेखा के अनुरूप होती है जो अक्षकास्थि के भीतरी और मध्य तिहाई भाग के जोड़ से चलकर अंसप्राचीरक के भीतरी और तिहाई भागों के जोड़ तक जाती है।

ऊपर इस गूँजक्षेत्र की चौड़ाई साधारणतः ५ शतांशमीटर (लगभग २ इञ्च) होती है। यह ४ शतांशमीटर से कम नहीं होनी चाहिए। यदि इसकी चौड़ाई ३॥ शतांशमीटर से कम हो तो यह निश्चय रोग-सूचक होती है।

क्षय-रोग में शिखर की गूँज में परिवर्तन—स्वस्थ व्यक्तियों में सीमांकित करने पर दोनों ओर गूँजक्षेत्र ऊँचाई और चौड़ाई में बराबर मिलते हैं। परन्तु क्षय-रोग में एक ओर का क्षेत्र संकुचित होजाता है (चित्र नं० ८२)। इसका कारण यह है कि शिखर में क्षयी-विकार होने पर फुप्फुस तन्तु सिकुड़ जाता है। सिकुड़न की मात्रा कई बातों पर, प्रधानतः फुप्फुस-तन्तु के खिंचाव की मात्रा और रोग के स्थान पर अवलम्बित होती है। जब विकार शिखर की परिधि पर अथवा पार्श्वकला के नीचे होता है तो सिकुड़न अपेक्षाकृत कम होती है और जब विकार केन्द्रस्थ होता है तो सिकुड़न अधिक होती है, क्योंकि इस दशा में खिंचाव चारोंओर से होता है। शवच्छेदों से विदित होता है कि यह सिकुड़न क्षय-रोग में आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ होजाती है। अतएव शिखरों के विघातन से और क्रानिग के गूँजक्षेत्रों को सीमांकित करने से शिखरप्रदेश में फेफड़े की दशा का विशद ज्ञान हो सकता है।
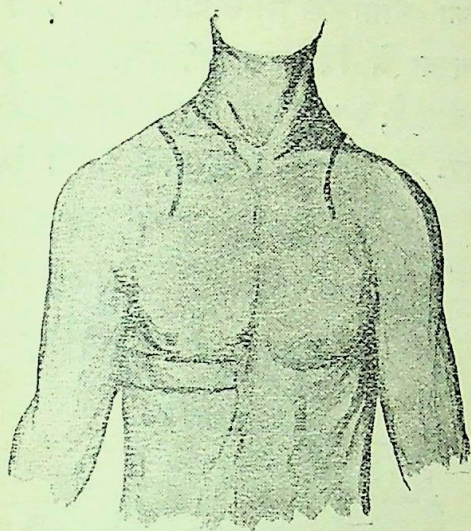
चित्र नं० ८२—बाएँ फुप्फुस शिखर
के गूँज क्षेत्र की संकीर्णता;

सिकुड़न दो प्रकार से व्यक्त होती है:—(१) रोग की ओर गूँजक्षेत्र संकीर्ण हो जाता है। उसका पता नापने से लग सकता है। (२) गूँजवान् और

चित्र नं० ८३—बाएँ फुप्फुस-शिखर की ऊपरी
सीमा पर गूँज की पट्टी (पीछे);
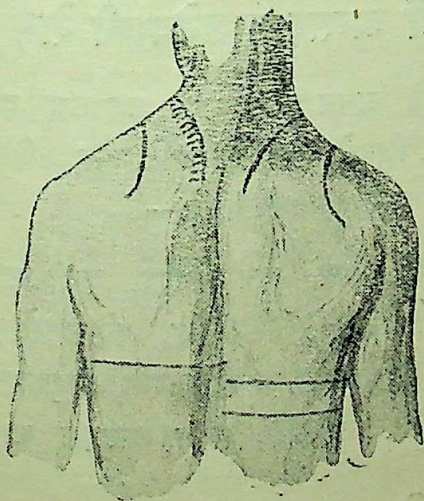
मंद भागों के बीच की सीमा रेखाओं के अस्पष्ट हो जाने से (चित्र नं० ८३ और ८४)। स्वस्थावस्था में विभाजक सीमारेखा का विघातन से सुस्पष्ट पता लगया जा सकता है; परन्तु जब शिखर में क्षय-रोग होता है तो कुछ दूर तक गूँज अस्पष्ट हो जाती है। यह बात ऊपरी रेखाओं में अधिकतर पाई जाती है।
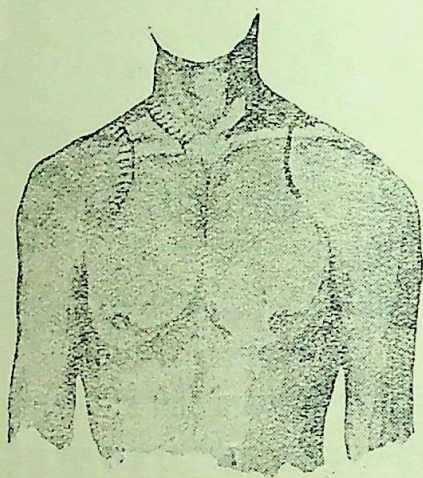
चित्र नं० ८४—दाहिने फुप्फुस शिखर की गूँज की दोनों सीमाओं पर अस्पष्ट गूँज की पट्टियाँ;

विघातन में अन्तर डालनेवाली रोग-दशायें

वक्ष को टकोरते समय परीक्षक को उन सब दशाओं को निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए, जिनसे विघातन-ध्वनि और प्रतिरोध में परिवर्तन हो सकता है। ये दशायें निम्नलिखित होती हैं:—

(१) फेफड़े की दशायें—क्षयी-विकार, क्षयी अभिव्यापन, सघनता (ठोसपन), रंध्रनिर्माण या सूत्र-निर्माण, श्वासनलोत्फुलन, वायुध्मान, श्वासनल-प्रदाह, फेफड़े का रक्तावष्टम्भ या प्रदाह, वायुकोष्ठों या श्वासनलों में स्राव, फुप्फुस-शोथ और श्वासनलों में स्राव, अकड़न या बाहरी दबाव के कारण रुकावट।

(२) पार्श्वकला की दशाएँ—पार्श्वकला में बन्धन या मोटापन, पार्श्वकला के गह्वर में वायु, तरल अथवा वायु और तरल। जब पार्श्वकला

के गह्वर में स्राव होता है और वह उसके निचले भाग में भरा होता है तो उसका ऊपरी किनारा समतल नहीं होता, प्रत्युत वक्र होता है। टकोरने पर यह S आकार का मिलता है। इसको एलिस का वक्र (चित्र नं० ८५) कहते हैं। जब वायु भी होता है तो ऊपर का किनारा सीधा होता है।

(३) मध्य वक्ष की दशाएँ—लसिका ग्रन्थियों का प्रदाह, महाधमनी का फूलना, रोग के कारण हृदय के आकार और परिमाण में परिवर्तन और हृदय की कला में स्राव।
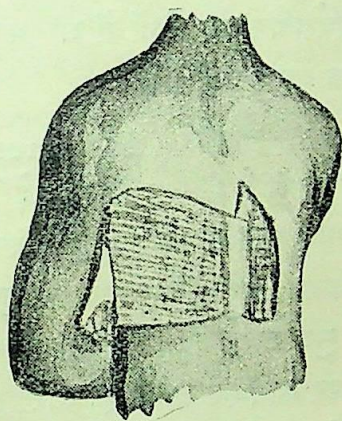
चित्र नं० ८४—पार्श्वकला के साधारण स्राव में निम्नलिखित चिह्न होते हैं:—
(१) मन्दक्षेत्र, जो पीछे की अपेक्षा कक्षप्रदेश में सब से ऊँचा होता है। इसका ऊपरी किनारा क्षितिज रेखा में समतल नहीं होता, परन्तु S के आकार का होता है।
(२) दूसरी ओर हृदय और मध्य वक्ष के हट जाने से एक त्रिकोणाकार मन्दक्षेत्र होता है। इसको ग्रोको का त्रिकोण कहते हैं।

(४) वक्ष की दीवार की दशाएँ—वक्ष की बनावट में विकार, त्वचा के नीचे के तन्तु में वायुध्मान और कोमल तन्तुओं की अतिपुष्टि या क्षीणता।

उपर्युक्त रोगावस्थाओं का प्रभाव वायु के सापेक्षिक परिमाणानुसार होता है। अतएव उनका वर्गीकरण इसप्रकार किया जा सकता है।

(अ) वायु के परिमाण में सापेक्षिक वृद्धि करनेवाली दशाएँ।

ऐसी दशाओं में विघातन ध्वनि नीचे स्वर की, अधिक गूँजवाली व मृदु गुण की, तम्बूरीय, भृंगारिक, फूटे पात्र की सी अथवा धातु की सी—कोई भी हो सकती है।

(१) अति गूँजवाली ध्वनि कब मिलती है। गूँज की अधिकता गहरे प्रश्वास में फेफड़े के पाददेशों को टकोरने पर मिल सकती है। वायुध्मान रोग में, जब फेफड़े की स्थितिस्थापकता का ह्रास होता है, यह सदैव मिलती है। जब पार्श्वकला की थैली आधी या दो तिहाई स्राव से भर जाती है तो स्राव के ऊपर फेफड़े में तनाव कम होने पर भी गूँज की अधिकता मिलती है। रक्ताभाव तथा अन्य दुर्बलताकारक रोगों में भी वक्ष की दीवार के तन्तुओं के क्षीण होने से भी गूँज बढ़ जाती है।

क्षय रोगियों में अत्यधिक गूँज (Hyperresonance) साधारणतः वायुध्मान के कारण पाई जाती है। जब एक फेफड़े में विस्तृत रोग होता है तो दूसरे फेफड़े में वायुध्मान होने के कारण गूँजाधिक्य मिलता है। पुरातन-रोग में सघन क्षेत्रों के किनारों पर गूँजाधिक्य के टुकड़े मिलते हैं। इनसे रोग की मंदता और भी सुव्यक्त होजाती है। इसके विपरीत गूँजाधिक्य से प्रायः रोग गम्भीर होने पर भी छिप जाता है और इसका पता लगाना बड़ा कठिन होजाता है। इस नियम को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि दोनों ओर वाली अत्यधिक गूँज वायुध्मान रोग की द्योतक होती है। एक ओर वाली अत्यधिक गूँज दूसरे फेफड़े में और यत्र तत्र गूँजाधिक्य के टुकड़े अपने पासवाले भाग में रोग सूचित करते हैं। गूँजाधिक्य के साथ यदि गति की असमानता हो, तो सदैव रोग की आशंका समझनी चाहिए। ऐसा प्रायः क्षय-रोग के कारण होता है।

(२) तम्बूरीय गूँज कब मिलती है?—यह आवाज़ ढोल की आवाज़ के सदृश होती है। प्रकृतिस्थ दशा में यह उदर के टकोरने पर मिलती है। यह स्वस्थ फेफड़े की आवाज़ से ऊँचे स्वर की होती है और इसमें कोष्ठीय गुण नहीं होता। एक चिकनी दीवारवाली और वायुमंडल से सम्बंधित थैली में वायु के होने से और लचकीली झिल्लीवाले आमाशय जैसे इन्द्रिय में वायु के स्पन्दन से यह ध्वनि निकलती है। पाँच रोग-दशाओं में तम्बूरीय ध्वनि मिल सकती है अर्थात् वायुवक्ष, फेफड़े के रंध्र, श्वास-नलों का फूलना, परिहृदया कला में वायु और वक्ष के पाददेश में जब आमाशय

फूला होता है और फेफड़ा ठोस होता है। यह कहा जाता है कि फुप्फुस तंतु का तनाव कम होने पर भी तम्बूरीय गूँज मिल सकती है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। ऐसी दशा में गूँज बढ़ी हुई मिलती है न कि तम्बूरीय। सामान्यत: फुप्फुस रंध्रों पर भी तम्बूरीय गूँज नहीं मिलती; क्योंकि साधारणत: वे बहुत छोटे और गहराई पर होते हैं और उनकी दीवारें मोटी तथा खुरदरी होती हैं।

(३) भृगांरिक गूँज कब मिलती है—यह तम्बूरीय गूँज का ही एक रूप होता है जिसकी ध्वनि में सांगीतिक लय आ जाती है। यह ध्वनि बन्दूक की खाली नली को एक ओर ठोकने से उत्पन्न ध्वनि के सदृश होती है। चिकनी तनी हुई दीवारवाले रंध्र के ऊपर यह ध्वनि निकलती है। यह प्राय: स्वयमोत्पन्न वायुवक्ष में मिलती है और उस समय इसके साथ साथ धातविक झंकार और भृगांरिक श्वास भी होते हैं।
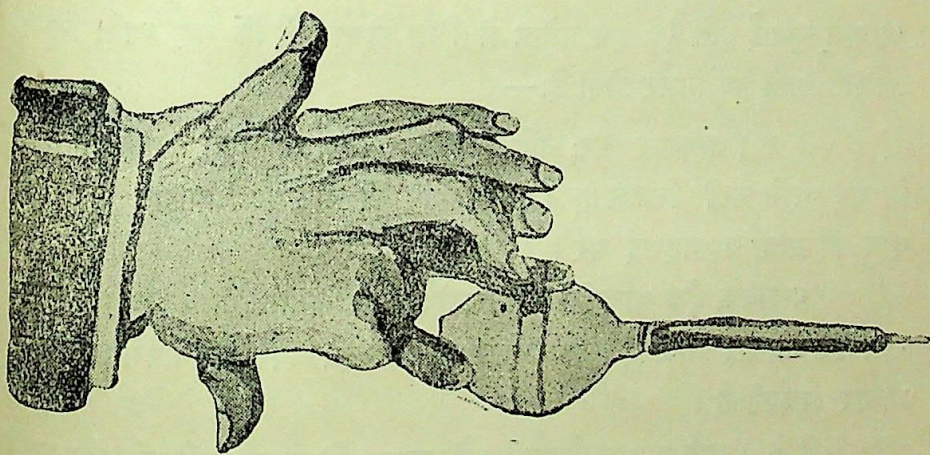
चित्र नं० ८६— फूटेपात्र की सी गूँज के प्रदर्शित करने की विधि।

यह किसी बड़े श्वासनल के ऊपर सघन ठोसपन पर—उदाहरणार्थ, ऊर्ध्व खंड के फुप्फुस प्रदाह के दूसरे दरजे में—भी मिल सकती है। ऐसे रोगियों में इसको व्यक्त करने के लिए रोगी का मुँह खुला रखवाकर प्रबल और तेज़ विघातन करने की आवश्यकता होती है।

(४) फूटे पात्र की सी गूँज—विदीर्ण पात्र ध्वनि भी तम्बूरीय ध्वनि का ही एक रूप-भेद होता है। इस तम्बूरीय ध्वनि के साथ एक

हलका सीत्कार शब्द भी होता है। वस्ति (अमल) देनेवाली पिचकारी की रबड़ की गेंद को टकोरने से जो आवाज़ निकलती है, यह उसी के सदृश होती है (चित्र नं० ८६)। एक चिकनी दीवारवाले पृष्ठस्थ रंध्र से, ठोकने पर वायु के बलपूर्वक निकलने से, यह ध्वनि उत्पन्न होती है। रोगी का मुँह खुला होना चाहिए। विघातन की चोट शीघ्र और निश्वास काल में देनी चाहिए। अक्षकास्थि से नीचे के प्रदेश में यह बहुत पाई जाती है।

(५) धातविक गूँज—यह उन रोगियों में मिलती है जिनमें कम से कम दो इञ्च गहरा बड़ा वायुपूर्ण स्थल होता है। इस वायु-स्थल की दीवारें जितनी पतली होती हैं, गूँज उतनी ही अधिक आसानी से व्यक्त होजाती है। विघातमापक के स्थान में एक रुपये को वक्ष पर रखकर और किसी धातु के विघातक या दूसरे रुपये से चोट देकर और साथ ही उरवीक्षक यंत्र लगाकर सुनने पर यह अधिक भली प्रकार समझ में आती है। गालों को फ़ुलाकर और दो रुपयों से टकोरने पर तथा उरवोक्षक यंत्र से सुनने पर ऐसी ही आवाज़ सुनाई देती है। इस प्रयोग से सिद्ध होजाता है कि यह ध्वनि निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है:—

(१) वायुभार पर; यदि यह अत्यधिक या बहुत कम होता है तो यह ध्वनि नहीं निकलती; (२) विघातन की चोट की प्रबलता पर; (३) वायु की मात्रा या गहराई पर।

धातविक गूँज वायुवक्ष में मिलती है और कभी कभी बड़े बड़े फुप्फुस-रंध्रों पर भी पाई जाती है। साधारणतः इसके साथ श्रवण करने पर धातविक-झंकार मिलती है।

(ब) वायु कम करनेवाली और फलतः विघातन ध्वनि को मंद करने वाली दशायें—

पूर्णमांद्य—विघातन ध्वनि के बिलकुल मंद या ठस होने के पाँच कारण होते हैं—

(१) पार्श्वकला के गह्वर में तरल—पीव, रक्तरस अथवा रक्त। विघातमापक उँगली को कठोर पत्थर का सा अवरोध प्रतीत होता है जो बड़ा लाक्षणिक होता है और उससे इस दशा की पहचान की जा सकती है। पार्श्वकला में तरल का पता लगाने के लिए चार और चिह्न होते हैं। वे ये हैं। बाईं ओर के स्राव में ट्राबे के स्थल का मिट जाना; पृष्ठवंश से लगा हुआ ग्रोको

के त्रिकोण का व्यक्त होना; शरीर की स्थिति बदलने पर मंदता के क्षेत्र में परिवर्तन होना; यदि स्राव अधिक हो तो हृदय और यकृति का अपने स्थान से हटना।

(२) वायुकोष्ठों में तरल स्राव, जैसा कि फुप्फुस शोथ और लेटे रहने के कारण प्रदाह में होता है।

(३) फेफड़े का ठोसपन—यह क्षय-रोग में फुप्फुस प्रदाह या श्वासनल फुप्फुस प्रदाह और फेफड़े के सम्पीडन इत्यादि के कारण हो सकता है।

(४) फेफड़े, पार्श्वकला या मध्य वक्ष में रसौली या रक्त-कोष।

(५) यकृति या प्लीहा का बढ़ना अथवा जलंधर या अन्य उदर रोग के कारण ऊपर को खिंच जाना।

मंदता कारण के अनुसार विस्तार में न्यूनाधिक होती है। जब मंदता का कारण क्षय-रोग जैसा कोई पुरातन रोग होता है तो मंद भाग के आसपास साधारणतः परिपूरक वायुध्मान के कारण गूँजाधिक्य के क्षेत्र होते हैं। जब फेफड़े के पृष्ठ के समीप बड़ा रंध्र होता है, तो कभी कभी तम्बूरीय गूँज भी मिलती है। कभी कभी जब रंध्र होता है तो रोगी की स्थिति बदलने से विघातन-ध्वनि में अन्तर होजाता है। जो भाग पहले मंद होता है, स्थिति बदलने पर वही गूँजयुक्त होजाता है।

टेंटुआ और श्वासनलों की ग्रन्थियों की वृद्धि—वक्ष का विघातन करते समय मध्य वक्ष के ग्रन्थि-रोग को ध्यान में रखना चाहिए। फेफड़ों के मूल की ग्रन्थियाँ क्षय-रोग में लगभग सदैव बढ़ जाती हैं। इससे सामने दूसरे और तीसरे अन्तर्पार्श्विक स्थलों में, वक्षोऽस्थि के इधर उधर मंदता मिल सकती है। सामने की अपेक्षा पीठ के अधिक समीप होने के कारण पीछे उनका पता अधिक सुगमता से चल सकता है। ऊपर के ५ या ६ वक्ष कशेरुकंटकों के ऊपर टकोरने पर ध्वनि गूँजयुक्त मिलती है। यदि टेंटुआ की ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई होती हैं तो पहले से चौथे वक्ष कशेरुकंटक तक ध्वनि मंद होजाती है। यदि टेंटुआ के विभागस्थान की ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई होती हैं तो चौथे, पाँचवें और छठवें कंटकों के ऊपर ध्वनि मंद होजाती है।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

श्रवण-परीक्षा

विषय प्रवेश—फेफड़ों के विघातन के बाद साधारणतः श्रवण-परीक्षा की जाती है। यह बताया जा चुका है कि प्रारम्भिक क्षय की पहचान में विघातन एक बड़ी महत्वपूर्ण परीक्षा होती है। विघातन से फेफड़ों की सघनता अर्थात् उनके अन्तर्गत वायु की दशा का पता लगता है। परन्तु इससे इस बात का पता नहीं लग सकता कि जो मंदता या गूँजाधिक्य इस प्रकार मिलता है उसका कारण क्या है, और न इस बात का पता लग सकता है कि रोग सक्रिय है या शान्त। श्रवण-परीक्षा से इन बातों का पता लग जाता है और इससे प्रायः पार्श्वकला के रोग की फुप्फुस रोग से, पार्श्वकला के स्राव की ठोस फुप्फुस तन्तु से, वायुध्मान की वायु वक्ष से और नवीन रोग की पुरातन रोग से पहचान की जा सकती है। श्रवण-परीक्षा से बहुधा यह भी बताया जा सकता है कि रोग वायु-कोष्ठों, अन्तर्वर्ती तन्तु, श्वासनल, पार्श्वकला या मध्यवक्ष किस भाग में है। कभी कभी श्रवण-परीक्षा से उन रोगियों में बहुत कुछ सूचना मिल जाती है, जिनमें रोग के केन्द्रस्थ या वायुध्मात फेफड़ों में होने के कारण विघातन से कोई सूचना नहीं मिलती। इसी प्रकार कुछ रोगियों में श्वास शब्दों के विकार और कणों अर्थात् ऊपरी शब्दों (Rǎles) के सुन पड़ने से विघातन से पूर्व रोग की सूचना मिल जाती है।

श्रवण-परीक्षा की विधियाँ

प्रत्यक्ष विधि—श्रवण-परीक्षा की दो विधियाँ होती हैं, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष विधि में परीक्षक रोगी के वक्ष पर अपना कान लगाकर

सुनता है। फेफड़े की सामान्य दशा का अनुमान करने के लिए यह विधि अच्छी होती है। यह स्वयं स्पष्ट है कि इस विधि में अनेक बुराइयाँ हैं जिनके कारण सर्वत्र इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

अप्रत्यक्ष विधि—श्रवण-परीक्षा की अप्रत्यक्ष विधि में श्वास-शब्दों के सुनने के लिए एक यंत्र की आवश्यकता होती है, जिसको उरवीक्षक यंत्र (Stethoscope) कहते हैं। यह विधि परीक्षक और रोगी, दोनों के लिए सुविधाजनक होती है। इसलिए साधारणतः इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों में और रोगी की हर अवस्था में स्वच्छन्दतापूर्वक किया जा सकता है। इसी विशेष कारण के लिए लैनेक ने उरवीक्षक यंत्र का आविष्कार किया था। इसके आविष्कार का इतिहास बड़ा रोचक है। सन् १८१६ ई० में एक युवती हृदय रोग के लिए उनके पास आई। रोगी की आयु, दशा और स्त्री होने के कारण प्रत्यक्ष श्रवण-परीक्षा अनुचित थी। जब लकड़ी के एक सिरे पर आलपिन से खुरचा जाता है तो उसकी आवाज़ दूसरे सिरे पर सुनाई पड़ती है, यह बात उनको सूझ गई। उन्होंने तुरन्त कागज़ के एक दस्ते को लपेटकर उसकी एक चोंगी बनाई और उसे रोगी के हृदय पर रक्खा। इससे जो परिणाम निकला, उससे उनको बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ। हृदय के शब्द बहुत साफ़ साफ़ और स्पष्ट सुनाई देने लगे। इस साधारण यंत्र से अनेक प्रकार के उरवीक्षक यंत्रों का आविष्कार हुआ है।

उरवीक्षक यंत्र दो प्रकार के होते हैं—(१) एक कानवाले और (२) दो कानवाले। इन दोनों में कौन अधिक अच्छा है, यह अपने अपने मत पर निर्भर होता है। कुछ लोग एक को पसन्द करते हैं और कुछ दूसरे को। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं पता लगा लेना चाहिए कि उसके लिए कौन-सा यंत्र अच्छा है। यह आवश्यक है कि हरएक परीक्षक को दोनों प्रकार के यंत्रों के प्रयोग का ज्ञान हो।

एक कानवाला उरवीक्षक यंत्र (Monaural Stethoscope) एक कानवाला उरवीक्षक यंत्र हलकी लकड़ी का बना हुआ सर्वोत्तम होता है (चित्र नं० ८७)। धातु या काँच का यंत्र संतोषजनक नहीं होता। कानवाला सिरा लगभग चपटा होना चाहिए और वक्ष भाग गुलाईदार तथा
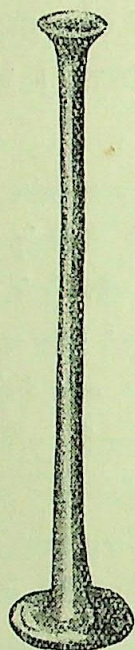
चित्र नं० ८७—
एक कानवाला
उरवीक्षक यंत्र
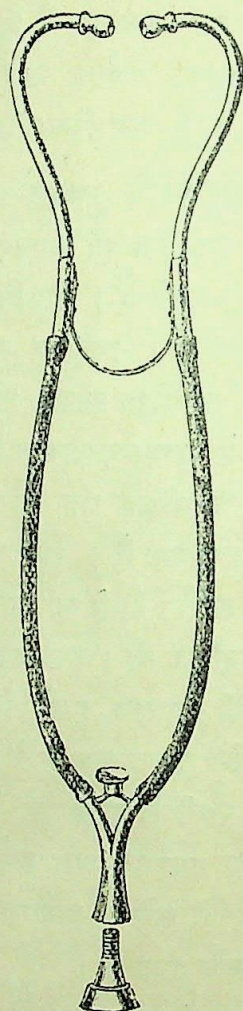
चित्र नं० ८८—दो कान-
वाला उरवीक्षक यंत्र

लगभग एक इञ्च व्यास का होना चाहिए। ६ या ७ इञ्च लम्बे साधारण यंत्रों की अपेक्षा १२ या १४ इञ्च लम्बे लकड़ी के यंत्र अधिक अच्छे होते हैं।

दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र (Binaural stethoscope)—दैनिक काम के लिए, बच्चों और शय्यागत रोगियों की परीक्षा के लिए और कोलाहलपूर्ण स्थानों में काम करने के लिए दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र बड़े उपयोगी होते हैं (चित्र नं० ८८)। दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र के निर्वाचन

में तीन बातें अवश्य देखनी चाहिए। (१) यंत्र के कर्ण भाग (Ear Pieces) कान के छिद्र में ठीक बैठने चाहिए, क्योंकि उनके छोटे बड़े होने से ठीक ठीक सुनाई नहीं पड़ता। (२) यंत्र के क्षितिज भाग जिनमें कर्ण भाग लगे रहते हैं, कान की नली की सीध में होने चाहिए। (३) कमानी ऐसी होनी चाहिए कि यंत्र अपनी स्थिति में रह सके। कमानी इससे अधिक तेज़ नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि कान के छिद्र पर दबाव पड़ने से शब्द के वाहन में बाधा पड़ती है। एक बात यह और है कि रबड़ दृढ़ होनी चाहिए ताकि वह सहज में मुड़ न सके। रबड़ की लम्बाई १८ इञ्च के लगभग होनी चाहिए। आजकल नाना प्रकार के वक्ष भाग अर्थात् मुँह काम में लाये जाते हैं। सरल बनावट और मामूली क़द का शंकाकार वक्ष भाग अच्छा होता है। आवाज़ को तेज़ करने को विविध तरकीबों का त्यागना ही अच्छा होता है। उनसे श्वास-शब्दों में गड़बड़ होजाती है और नक़ली ऊपरी शब्दों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। दो कान वाले उरवीक्षक यंत्र के पसन्द करने में वही यंत्र लेना चाहिए जिससे सर्वोत्तम शब्द वाहन हो। इसका पता कागज़ों के ढेर के नीचे घड़ी रखकर और उसका 'टिक' 'टिक' शब्द सुनकर लगाया जा सकता है। वही यंत्र सबसे अच्छा होता है जिससे अधिक से अधिक मोटी तह में से घड़ी का शब्द सुनाई दे।

श्रवण-परीक्षा के नियम—परीक्षा के संतोषजनक और फलप्रद होने के लिए कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है।

(१) परीक्षक की स्थिति—परीक्षक की स्थिति में किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक बाधा नहीं होनी चाहिए। परीक्षक को एकाग्र चित्त होना चाहिये। और उसका सिर सीधा होना चाहिए।

(२) रोगी की स्थिति—रोगी को खड़ा या किसी ऊँची तिपाई पर बैठा होना चाहिए। उसकी स्थिति बाधारहित होनी चाहिए। चारपाई पर लेटे हुए रोगी की सन्तोषपूर्वक परीक्षा करना बड़ा कठिन होता है। रोगी के कमर के ऊपर के सब कपड़े उतरवा देने चाहिए। श्रवण करने से पूर्व परीक्षक को यह देख लेना चाहिए कि रोगी को ठीक ठीक श्वास लेना आता है या नहीं और यदि न आता हो तो उसको बता देना चाहिए। श्रवण-परीक्षा में एक बड़ी कमी यह होती है कि अधिकांश रोगी श्वास को ठीक तरह से

बाहर निकालना नहीं जानते। वे ज़ोर से सांस अन्दर लेकर रोक लेते हैं। कुछ रोगी बहुत जल्दी-जल्दी श्वास लेने लगते हैं। अधिकांश रोगियों में थोड़ी शिक्षा से काम चल जाता है, परन्तु कुछ रोगी ऐसे होते हैं जिनको ठीक ठीक श्वास लेना नहीं आता। ऐसे रोगियों में परीक्षा उस समय तक स्थगित कर देनी चाहिए जब तक उनको श्वास लेने की विधि न आ जाय।

परीक्षा के समय श्वासक्रिया नियमित, यथाक्रम, कुछ अधिक गहरी और नाक से होनी चाहिए। मुँह से श्वास लेने से कभी कभी कुछ खाँसी आने लगती है और श्वास-शब्द का रूप कुछ श्वासनालिक श्वास का सा प्रतीत होने लगता है जिससे भ्रम होने की सम्भावना होती है।

(३) उरवीक्षक-यंत्र—उरवीक्षक-यंत्र को वक्ष पर सावधानी से दृढ़ता-पूर्वक और समान भाव से लगाना चाहिए ताकि उसके और त्वचा के बीच में वायु न आ-जा सके। यंत्र के वक्ष-भाग के हिलने डुलने से परीक्षा की ठीक ठीक क्रिया में बाधा पड़ती है। यदि वक्ष पर बालों के कारण यंत्र ठीक ठीक न लगाया जा सके अथवा उनसे भ्रमोत्पादक मिथ्या शब्द उत्पन्न होते हों तो बालों को साफ़ करा देना चाहिए या वैसलीन लगाकर उनको चिपका देना चाहिए।

(४) किन स्थानों की परीक्षा करनी चाहिए—फेफड़ों की खंडवार परीक्षा करनी चाहिए। फुप्फुस-खण्डों की पृष्ठस्थ सीमा रेखाओं को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। उरवीक्षक यंत्र को प्रत्येक अक्षकास्थि पर दो बार और प्रत्येक अन्तर्पार्श्विक स्थल में सामने, बग़ल में और पीछे तीन तीन या चार चार बार लगाना चाहिए। फेफड़ों के किनारे और खण्डों के बीच की दरारों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बायें फेफड़े की जिह्वा को जो हृदय के ऊपर होती है, कभी नहीं भूलना चाहिए; क्योंकि यहाँ पर भी प्रायः क्षय-रोग मिलता है। एक ओर के प्रदेशों की दूसरे ओर के अनुरूप प्रदेशों से तुलना करनी चाहिए, यद्यपि प्रकृतिस्थ दशा में भी दोनों ओर के अनुरूप प्रदेशों में कुछ कुछ अन्तर होता है।

कुछ स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—किस स्थान से सुनना आरम्भ करना चाहिए ? जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो पाददेश से आरम्भ कर ऊपर को बढ़ना अच्छा होता है। रोग के प्रारम्भ में पाददेश साधारणतः रोग से मुक्त होते हैं। यथार्थ में यदि रोग के चिह्न अकेले

पाददेश में मिलें तो क्षय-रोग के मानने में तब तक शंका करनी चाहिए जब तक कफ में क्षय-कीटाणु न मिलें। आरोग्य भाग से चलकर रुग्न भाग पर पहुँचने पर विकारों का पता अधिक सुगमता से चल जाता है। इन चार त्रिकोण प्रदेशों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) अक्षकास्थि से ऊपर का त्रिकोण, (२) वह त्रिकोण जो अक्षकास्थि, वक्षोऽस्थि और उस कल्पित रेखा से बनता है जो चौथे उपपर्शुका और स्कंधास्थि के अंसकूट (Acromion) को जोड़ती है; (३) वह त्रिकोण जो रोगी के बग़ल में हाथ लटकाकर और सिर को कुछ झुकाकर खड़े होने पर अंसप्राचीरक, पहले चार वक्ष कशेरूकंटक, और प्रथम कशेरूकंटक तथा अंसप्राचीरक के बाहरी सिरे को जोड़नेवाली कल्पित रेखा से बनता है;
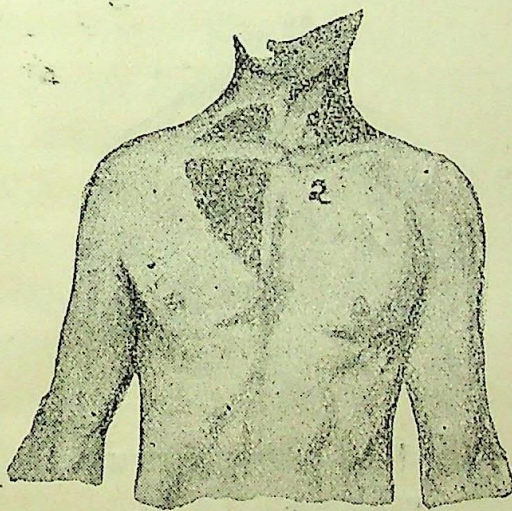
चित्र नं० ८६—सामने के त्रिकोणप्रदेश जहाँ प्रारम्भिक क्षय-रोग के चिह्न बहुधा पाये जाते हैं।

(४) वह त्रिकोण जो अंसफलक की वंशानुगाधारा, चौथी से आँठवीं वक्ष कशेरुकंटक तथा आठवीं कशेरुकंटक और अंसफलक के निम्न कोण के जोड़नेवाली कल्पित रेखा से बनता है। इस अन्तिम प्रदेश की परीक्षा के लिए हाथ को दूसरे कंधे पर रखना और कोहनी को उठाना चाहिए, ताकि फेफड़े का बड़ा से बड़ा भाग अनाच्छादित होजाय। यह क्षेत्र फेफड़ों के ऊपरी और निचले खंडों के शिखरों के और फुप्फुस-मूलों के लगभग अनुरूप होते हैं। प्रारम्भिक क्षय बहुधा इन्हीं स्थानों में मिलता है (चित्र नं० ८९ व ९०)।

श्रवण का क्रम—श्रवण करने में एक निर्दिष्ट क्रम का पालन करना अच्छा होता है। श्रवण करने में चार बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(१) श्वास-शब्द का रूप—प्रश्वास और निश्वास के सापेक्षिक काल-परिमाण और स्वर पर ध्यान देना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वे एक दूसरे के बाद तत्काल होते हैं या उनके बीच में कुछ अन्तराल होता है।

(२) यह देखना चाहिए कि श्वास-शब्दों के अतिरिक्त अन्य कोई ऊपरी शब्द सुनाई देते हैं या नहीं, और यदि सुनाई देते हैं तो प्रश्वासकाल में सुनाई देते हैं या निश्वासकाल में अथवा दोनों में और उनपर खाँसने का क्या प्रभाव पड़ता है। जो ऊपरी शब्द खाँसने से सुनाई देते हैं और खाँसने पर भी बने रहते हैं, वे सदैव किसी न किसी प्रकार के रोग के द्योतक होते हैं।
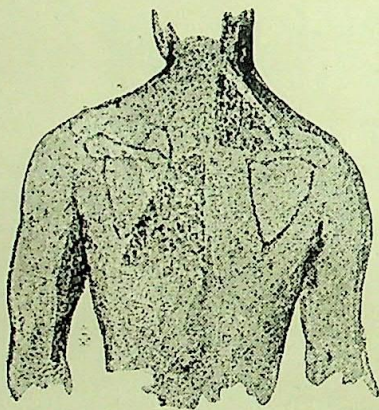
चित्र नं० ६०—पीछे के त्रिकोण प्रदेश
जहाँ प्रारम्भिक क्षय के चिह्न
बहुधा पाये जाते हैं।

(३) बोल की गूँज (Vocal resonance)

(४) हृदय के शब्दों का वाहन।

एककालिक श्रवण विधि—श्वास-शब्द के गुण, लक्षण और काल-परिमाण में सूक्ष्म परिवर्तनों का पता लगाने के लिए श्वास क्रिया के प्रश्वास और निश्वासकाल में अलग अलग श्रवण करना चाहिए। प्रश्वास शब्द को सुनने के समय निश्वास शब्द की ओर और निश्वास शब्द को सुनते समय प्रश्वास शब्द की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। श्वास-शब्दों की जाँच करने के बाद कणों (R^les) को अलग से सुनना चाहिए।

यदि बायें फुप्फुस शिखर पर श्रवण करना आरम्भ किया जाय तो वहाँ सावधानी से प्रश्वास शब्द को सुनना चाहिए और जब तक रोगी श्वास को बाहर निकाले, उरवीक्षक यंत्र को शीघ्रता से दाहिनी ओर ले जाकर वहाँ पर श्वास शब्द को सुनना चाहिए। इसप्रकारबाईं और दाहिनी ओर के प्रश्वास शब्दों की तुलना होजाती है और यदि उनमें कुछ अन्तर मिले, तो उसको साव-धानी से देख लेना चाहिए। इस रीति से किसी एक ओर के श्वास-शब्द में यदि थोड़ा भी बिकार होता है तो दूसरी ओर से तुलना करने पर तुरन्त पता लग जाता है; किन्तु जब दोनों ओर रोग होता है, तो इस रीति से अधिक ज्ञात नहीं होता। इसी भाँति निश्वास शब्द की भी जाँच करनी चाहिए और उरवीक्षक यंत्र को प्रश्वासकाल में एक ओर से दूसरी ओर ले जाना चाहिए। श्वास-शब्दों को सुनते समय ऊपरी शब्दों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। इन पर बाद को अलग से विचार करना चाहिए।

प्रकृतिस्थ श्वास-शब्द—फेफड़े के रोग की दशा में श्रवण से उपलब्ध बातों को ठीक ठीक समझने के लिए, उससे पूर्व परीक्षक को स्वस्थ वक्ष के श्वास-शब्दों का ज्ञान और अनुभव होना आवश्यक है। जब तक स्वस्थ वक्ष के श्वास शब्दों का परीक्षक को ठीक ठीक ज्ञान नहीं होगा तब तक प्रारम्भिक क्षय में श्वासक्रिया के किसी भाग के स्वरों के परिवर्तन समझ में नहीं आ सकते।

स्वस्थावस्था में श्वास शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) कोष्ठीय, (२) श्वासनालिक और (३) श्वासनल-कोष्ठीय।

कोष्ठीय श्वास (Vesicular respiration) **और उसके लक्षण**—स्वस्थ फेफड़े पर जो श्वास-शब्द सुनाई देता है उसको फुप्फुसीय या कोष्ठीय श्वास-शब्द कहते हैं। फेफड़े में अनेक वायुकोष्ठों के होने के कारण इसको कोष्ठीय कहते हैं। वक्ष के विभिन्न भागों में कोष्ठीय श्वास-शब्द में कुछ कुछ अन्तर होता है। स्वस्थ फेफड़े में यह शुद्धतम दशा में ऊर्द्ध कक्षीय और निम्नांसफलक प्रदेशों में सुनाई देता है। इसके निम्नलिखित लक्षण होते हैं:—

(१) प्रश्वास कोमल और धीमी हवा के हलके झोंके के समान होता है। इसकी ताल धीरे-धीरे बढ़ती है, अन्त में सबसे अधिक तेज़ होती है और सबकी सब समानभाव होती है।

(२) निश्वास बहुत छोटा होता है। इसका काल-परिमाण प्रश्वास

का चौथाई होता है। इसका स्वर नीचा और कुछ कर्कश होता है। यह धीरे धीरे हलका होता जाता है।

प्रकृतिस्थ कोष्ठीय श्वास में निश्वास को प्रश्वास के बन्द होने पर फेफड़ों के लचकदार होने के कारण अपनी पूर्वावस्था को लौटने का फल समझना चाहिए। जब यह प्रश्वास का केवल एक चौथाई या एक तिहाई होता है तो इससे वायुकोष्ठों और श्वासनलों के बीच में वायु के आने-जाने में किसी रुकावट का न होना सूचित होता है। कोष्ठीय श्वास में प्रश्वास के बाद तुरन्त निश्वास होता है। बीच में कुछ अन्तराल नहीं होता।

कोष्ठीय श्वासशब्द का कारण—कंठ में वायु के आने-जाने से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह स्पञ्जरूप फुफ्फुसतन्तु में होकर गुज़रने से कुछ परिवर्तित होजाता है। यह परिवर्तित शब्द कोष्ठीय श्वास-शब्द कहलाता है।

विभिन्न स्वस्थ व्यक्तियों के कोष्ठीय श्वास-शब्द में कुछ कुछ अन्तर होता है।

(क) मुँह से श्वास लेनेवालों में निश्वास बड़ा होता है।

(ख) शिशुकाल में वायुकोष्ठों के छोटे होने और वक्ष की दीवार के पतला होने के कारण श्वास-शब्द अधिक तेज़ होता है। इसको बालिश (Puerile) श्वास कहते हैं। अन्यथा इसके लक्षण वैसे ही होते हैं।

(ग) वृद्धावस्था में प्रश्वास-काल कम होजाता है और निश्वास-काल बढ़ जाता है।

(घ) दाहिने फुफ्फुसशिखर पर टेंटुआ के समीप होने के कारण प्रश्वास साधारणतः कुछ ऊँचे स्वर का और तेज़ होता है। निश्वास भी कुछ कर्कश और बढ़ा होता है। कुछ व्यक्तियों में श्वास-शब्द बहुत दुर्बल होता है और कठिनता से सुनाई पड़ता है। यह निर्बलता जब स्वस्थावस्था में होती है तो व्यापक होती है, कहीं पर स्थानाबद्ध नहीं होती।

श्वासनालिकश्वास (Bronchial breathing)—श्वासनालिक श्वास के तीन लक्षण होते हैं (१) प्रश्वास और निश्वास दोनों काल में बराबर होते हैं। (२) दोनों में कुछ अंश तक "शकार" सा गुण होता है। (३) प्रश्वास और निश्वास के मध्य में व्यवधान होता है। आवाज़ की तेज़ी श्वास का विशिष्ट लक्षण नहीं होती। प्रकृतिस्थ दशा में यह फुफ्फुस-

तन्तु के ऊपर कभी सुनाई नहीं देता। सामने गर्दन की जड़ में वक्षोऽस्थि से ऊपर के गड्ढे में और पीछे पाँचवे या छठवें ग्रीवाकशेरूकंटक के ऊपर यह सुनाई देता है।

श्वासनल-कोष्ठीय श्वास(Broncho-vesicular breathing)— श्वासनल-कोष्ठीय श्वास में प्रश्वास और निश्वास दोनों समान होते हैं। प्रश्वास श्वासनालिक श्वास का सा होता है, परन्तु अधिक कर्कश होता है। निश्वास रूप में कोष्ठीय परन्तु अधिक तेज़ और लम्बा होता है। दोनों के बीच में अन्तराल नहीं होता। प्रकृतिस्थ दशा में श्वासनल-कोष्ठीय श्वास दो स्थानों में सुनाई देता है—(१) वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि के बीच के कोण में, विशेषकर दाहनी ओर; (२) अंतरासंफलक प्रदेशों में, प्रधानतः पाँचवीं से सातवीं वक्ष कशेरूकंटक तक।

रोग में श्वास शब्द— श्वास-शब्दों के उपरोक्त तीन रूपों के अनुरूप उनके विकार भी तीन समूहों में विभाजित किये जा सकते हैं—

(१) कोष्ठीय श्वास के विकार—(क) निर्बल श्वास, (ख) दानेदार या विषम श्वास, (ग) झटकेदार श्वास, (घ) दीर्घ निश्वास (च) कर्कश श्वास।

(२) श्वासनालिक श्वास के विकार—विक्षिप्त श्वासनालिक, रांध्रिक और भृङ्गारिक।

(३) मध्यरूप के विकार—श्वासनल-कोष्ठीय और कोष्ठीय श्वास-नालिक।

निर्बल कोष्ठीय श्वास—क्षय के आरम्भ में सबसे पहले, जब न ऊपरी शब्द सुनाई देते हैं और न श्वास के रूप में कोई परिवर्तन होता है, उस समय श्वास फेफड़े के किसी शिखर पर एक परिमित क्षेत्र में निर्बल होजाता है अथवा बिलकुल सुनाई नहीं देता। यह दशा अधिकतर पीछे अंसप्राचीरक के निकट पाई जाती है। इसलिए इस स्थान को 'भय-मंडल' (Alarm Zone) कहते हैं। प्रश्वास की निर्बलता प्रारम्भिक क्षय में सामने अक्षकास्थि के भीतरी तिहाई भाग के नीचे भी मिलती है। कभी कभी इस निर्बल श्वास में श्वासनालिक गुण भी आ जाता है और प्रश्वास के अन्त में कुछ करकर कण भी सुनाई देने लगते हैं।

रोग की पहचान में निर्बल श्वास का महत्व तभी होता है जब यह किसी शिखर

पर स्थानाबद्ध, सुपरिगत, स्थिर और स्थायी होता है और जोर से साँस लेने या खाँसने का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। श्वास की निर्बलता इस बात की सूचक होती है कि श्वासनलिकाओं का परिवेष्टक फुप्फुस-तंतु यक्ष्मों से अभिव्याप्त होगया है और अभिव्यापन से श्वासनलिकाओं का संपीडन होजाने से तत्सम्बंधी वायुकोष्ठ पिचककर वायुशून्य होगये हैं; अथवा परिफुप्फुसिया कला का स्थानाबद्ध प्रदाह होगया है जिससे रुग्न भाग के वायुकोष्ठों की श्वासक्रिया में रुकावट होती है।

निर्बल श्वास-शब्द निवृत्त क्षयी-विकारों के ऊपर और फुप्फुस शिखर की पार्श्वकला में बंधन बन जाने पर भी सुनाई देते हैं। परन्तु सक्रिय क्षय की प्रारम्भिक अवस्था में निर्बल श्वास के साथ साथ खाँसी, ज्वर, शीघ्रगामी नाड़ी इत्यादि लक्षण भी होते हैं और साधारणतः उस स्थान के टकोरने पर कुछ रोग-चिह्न मिल जाते हैं। रोग के लक्षणों के अभाव में फुप्फुस शिखर पर निर्बल श्वास निवृत्त क्षयी विकार का चिह्न होता है।

सम्वृद्ध रोग में भी परिमित क्षेत्रों में श्वासनलों के श्लेष्म से रुक जाने के कारण प्रायः निर्बल श्वास पाया जाता है; परन्तु श्वासप्रणाली में वायु को रोकनेवाली जो श्लेष्म की डाट लगी होती है वह ज़ोर से खाँसने पर हट जाती है और तब श्वास-शब्द सुनाई देने लगते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि श्वासप्रणाली में एकत्रित श्लेष्म से रुकावट होजाने पर तत्सम्बंधी वायुकोष्ठ पिचककर वायुशून्य होजाते हैं और उस स्थान पर टकोरने पर गूँज की मंदता मिलने लगती है; परन्तु इस दशा में कोई श्वास-शब्द या कोई ऊपरी शब्द सुनाई नहीं पड़ता। जब यह दशा फेफड़े के निम्न भाग में हो जाती है तो पार्श्वकला के मोटेपन से इसकी पहचान करना बड़ा कठिन होता है; क्योंकि उसमें भी श्वास-शब्द निर्बल होजाते हैं।

उग्र प्रदाह रूपी क्षय-रोग में फेफड़े के रुग्न भाग पर मंदता के साथ साथ प्रायः श्वास-शब्द निर्बल पाया जाता है और कभी कभी श्वास बिलकुल नहीं सुनाई देता; परन्तु कुछ स्थूल कण सुनाई देते हैं। इसीप्रकार सम्वृद्ध क्षय में, जब कभी कभी रोग-वृद्धि का दौरा होता है, तो नये आक्रान्त भागों में श्वास निर्बल सुनाई देने लगता है जो कालान्तर में श्वासनालिक श्वास में परिणत होजाता है।

विषम या दानेदार श्वास—(Grannular or rough breathing) कोष्ठीय श्वास के वर्णन में यह बताया गया था कि सब का

सब श्वास समानभाव होता है। रोग में कभी कभी श्वास का यह समभाव मारा जाता है, तब श्वास विषम होजाता है। प्रारम्भिक क्षय में श्वास प्रायः विषम पाया जाता है। श्वास के प्रश्वासीय भाग पर विशेष प्रभाव पड़ता है और वह शुष्क, कर्कश तथा निम्न स्वर का होजाता है। भूल से इसको कर्कश श्वास नहीं समझ लेना चाहिए। विषम श्वास तीव्रता में कम भी हो सकता है और कभी कभी तो बहुत धीमा होजाता है; परन्तु कर्कश श्वास सदैव तीव्र और बिलकुल शुद्ध होता है। दूसरी ओर विषम श्वास में सदा यह सन्देह रहता है कि श्वास-स्वर में कुछ ऊपरी शब्द भी मिले हैं। साहली के मतानुसार विषम श्वास, वायु-प्रणाली की श्लेष्मकला के प्रदाह का एक चिह्न होता है। श्वास-प्रणाली के छिद्र में श्लेष्मकला के प्रदाह के कारण असमता आजाने से तत्सम्बन्धी फुप्फुस तंतु के वायु-संचालन में विषमता आजाती है और श्वास-प्रणालियों में श्लेष्म जमा होने से उसके छिद्र में रुकावट होने के कारण कुछ ऊपरी शब्द उत्पन्न होजाते हैं। जब ये ऊपरी शब्द बिलकुल पृथक् होजाते हैं तो उनको कण कहते हैं; परन्तु जब वे अस्पष्ट और मिले हुए रहते हैं तो कोष्ठीय श्वास अशुद्ध या विषम होजाता है। यह साधारणतः अंसप्राचीरक से ऊपर के प्रदेश (Supra spinous fossa) में और अक्षकास्थि के ऊपर और नीचे सुनाई देता है।

जैसा कि ब्रे ने बताया है, फुप्फुस-शिखर पर विषम श्वास के सन्तोषजनक प्रदर्शन के लिए उस स्थान के मांसपेशियों का शिथिल अवस्था में रहना आवश्यक होता है; क्योंकि उनमें अकड़न होने से विषम श्वास के समान स्वर उत्पन्न होजाता है और रोग के पहचानने में भ्रम होने की सम्भावना रहती है। उनका कहना है कि श्रवण करते समय रोगी को पेट से श्वास लेना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से शिखर की मांसपेशियाँ ढीली रहती हैं। उनका कहना है कि कोष्ठीय श्वास में निश्चित विकार तभी माना जा सकता है जब कि रोगी के केवल उदर से श्वास लेने पर विषम श्वास सुनाई दे।

परन्तु ग्राञ्चर इस बात पर ज़ोर देते हैं कि विषम श्वास-स्वर उपक्रांत क्षय का निश्चयात्मक चिह्न होता है और क्लाइव रिवरी कहते हैं कि यह प्रारम्भिक क्षय का सबसे पहला श्रुत-चिह्न होता है; परन्तु पीयरी इनसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह निवृत्त क्षय का चिह्न होता है और यह

फुफ्फुस तंतु के सीमित क्षेत्र में क्षत-चिह्न बन जाने से उत्पन्न होता है। यह ठीक भी प्रतीत होता है। ऐसे बहुत से रोगी देखने में आते हैं जिनके फुफ्फुस शिखर पर वर्षों तक विषम श्वास बना रहता है और सक्रिय रोग के कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते। वास्तव में बात यह है कि यदि रोग के लक्षण विद्यमान हों तो विषम श्वास एक विश्वस्त रोग-चिह्न होता है। रोग के लक्षणों के अभाव में इससे सूचित होता है कि क्षयी व्रण होकर पुर चुके हैं।

झटकेदार श्वास—(Cogwheel breathing) झटकेदार श्वास बहुत दिनों से प्रारम्भिक क्षय का विशिष्ट चिह्न समझा जाता है। प्रश्वासीय भाग साधारण श्वास की भाँति सम और अविरत नहीं होता, परन्तु झटकेदार और कई भागों में विभक्त प्रतीत होता है। विषम श्वास से यह इस बात में भिन्न होता है कि इसका प्रत्येक भाग सम और सीत्काररूपी होता है। वायुकोष्ठों में प्रवेश करते समय वायु के प्रवाह में रुकावट होने से यह उत्पन्न होता है।

पीयरी का मत है कि शिखर पर झटकेदार श्वास पार्श्वकला में बंधन सूचित करता है, जो अधिकतर निवृत्त क्षयी-विकार के अवशिष्ट चिह्न होते हैं। कभी कभी यह सक्रिय क्षय के प्रारम्भ में भी मिलता है।

झटकेदार श्वास कभी कभी उद्विग्न चित्तवाले रोगियों के वक्ष में भी मिलता है; परन्तु उस समय यह सम्पूर्ण वक्ष में भी सुनाई देता है। क्षय-रोग में यह केवल परिमित क्षेत्र में मिलता है।

दीर्घ निःश्वास—(Prolonged expiration) ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि क्षय-रोग की प्रारम्भिक अवस्था में श्रवण करने पर केवल प्रश्वासीय भाग में परिवर्तन मिलते हैं। क्षय-रोग के कुछ पुराने ग्रंथों में यह लिखा हुआ मिलता है कि निःश्वास के परिवर्तन प्रारम्भिक क्षय के निश्चयात्मक चिह्न होते हैं। इसका कारण यह है कि पुराने ज़माने में उपक्रांत क्षय की पहचान नहीं हो पाती थी। वस्तुतः आजकल भी अधिकांश रोगी रोग की उपक्रान्त अवस्था में परीक्षा के लिए नहीं आते हैं, इसलिए साधारणतः प्रथम परीक्षा में दीर्घ-निःश्वास अधिक पाया जाता है; परन्तु जिनको अधिक उपक्रान्त रोगियों को देखने के अवसर प्राप्त होते हैं, वे कह सकते हैं कि प्रश्वास के निर्बल, विषम अथवा झटकेदार इत्यादि उपर्युक्त परिवर्तन निःश्वासीय परिवर्तनों से कहीं पहले मिलते हैं।

प्रकृतिस्थ कोष्ठीय श्वास में निश्वास बहुत कम सुनाई देता है और प्रश्वास का केवल चौथाई होता है। यदि यह प्रश्वास के बराबर या उससे भी अधिक समय तक रहे तो इसको निस्सन्देह एक रोगसूचक चिह्न समझना चाहिए। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह रोग क्षय-रोग ही हो। जब यह वक्ष भर में सुनाई देता है तो यह कास-रोग या वायुध्मान रोग का सूचक होता है; परन्तु जब यह केवल फुप्फुस-शिखर पर आबद्ध मिलता है तो क्षय-रोग का द्योतक होता है। फुप्फुस-तन्तु के किसी परिमित भाग में सूत्र-निर्माण (Sclerosis) होजाने से भी निश्वास दीर्घ हो सकता है जैसा कि निवृत्त क्षयी-विकारों में होता है। यथार्थ में जब इसमें कुछ श्वासनालिक गुण भी आ जाता है तो यह सूत्र-निर्माण का निश्चयात्मक चिह्न होता है।

सक्रिय प्रारम्भिक क्षयी विकारों में शिखर पर स्थानाबद्ध दीर्घ निश्वास से यह सूचित होता है कि सूक्ष्म श्वास-प्रणालियों की श्लेष्मकला में प्रदाह होगया है अथवा क्षयी अभिव्यापन से दबकर इनका छिद्र संकीर्ण होगया है। अतएव यह साधारणतः प्रश्वासीय परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक देर में मिलता है। दीर्घ निश्वासीय स्वर प्रायः कर्कश और रूक्ष होता है और रोग के बढ़ने पर धीरे धीरे श्वासनालिक श्वास का रूप धारण करता जाता है और अन्त में शुद्ध श्वासनालिक श्वास में परिणत होजाता है। ऊपरी श्वास-शब्दों की अनुपस्थिति में भी यह मिल सकता है, परन्तु ऐसा विरल होता है।

दीर्घ निश्वास को प्रारम्भिक क्षय का चिह्न मानने में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कभी कभी निवृत्त क्षयी विकार का यही एकमात्र चिह्न होता है; परन्तु कभी कभी दाहिने शिखर पर विशेषकर पतले सीनेवाले युवकों में यह पाया जाता है; परन्तु इसका क्षय-रोग से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। संगतराश, बढ़ई, खानक इत्यादि धूलमय व्यवसाय करनेवालों में दाहिने शिखर पर निश्वासीय स्वर प्रायः कर्कश, रूक्ष और दीर्घ होजाता है। अतएव जब यह बायें शिखर पर मिलता है, तो इसका महत्व अधिक होता है और दाहिनी ओर मिलने पर कोई महत्व देने से पूर्व रोग के अन्य लक्षणों पर ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए।

प्रखर या कर्कश श्वास (Harsh or sharpened breathing)—श्वास के इस रूप-भेद में श्वास की तेज़ी बढ़ जाती है। निश्वास प्रश्वासकाल

का तिहाई या आधा होजाता है। बारह वर्ष की आयु तक लड़कों और लड़कियों में इस प्रकार का श्वास साधारणतः पाया जाता है, इसलिए इसको 'बालिश' (Puerile) श्वास भी कहते हैं। व्यापक 'बालिश' श्वास का कोई महत्व नहीं होता। जब फेफड़े के एक भाग में 'बालिश' श्वास हो और दूसरे भाग में श्वास निर्बल हो तो यह रोग का द्योतक होता है।

स्थानाबद्ध प्रखर श्वासों से साधारणतः यह सूचित होता है कि इस भाग में फेफड़े को अधिक कार्य करना पड़ता है। जब फेफड़े के एक भाग में ठोसपन या सम्पीडन होने के कारण वायुसंचालन कम होजाता है तो दूसरे नीरोग भाग में श्वास-क्रिया बढ़ जाती है। प्रखर श्वास इसी प्रतिपूरक दशा का द्योतक होता है। इस प्रकार का श्वास कृत्रिम वायु-वक्ष में बहुधा मिलता है। जब एक फेफड़ा पिचक जाता है तो दूसरा इसका कार्य ले लेता है। पुरातन क्षय-रोग में अभिव्यापन के निकट भी यह साधारणतः पाया जाता है।

श्वासनालिक श्वास के विकार—रोग के बढ़ने पर फेफड़े में बिखरे हुए यक्ष्म बढ़कर एक दूसरे से मिल जाते हैं और उनके मिल जाने से एक सुपरिगत सघन राशि बन जाती है, जिसके ऊपर सुनने से विशिष्ट श्वास-शब्द सुनाई देने लगते हैं। श्वास का कोष्ठीय गुण क्रमशः बदलता जाता है और अन्त में उच्चस्वर का सुस्पष्ट और प्रश्वास तथा निश्वास दोनों में फूँक के सदृश होजाता है तथा निश्वास पहले की अपेक्षा दीर्घ होजाता है।

श्वासनालिक श्वास फुप्फुस-तंतु के ठोस होजाने का चिह्न होता है। कंठ और टेंटुआ का स्वर ठोस फेफड़े में से ज्यों का त्यों वक्ष के पृष्ठ तक पहुँच जाता है। साहली का तो यह कहना है कि सघन फुप्फुस-तंतु से गुज़रते समय वह कुछ बढ़ भी जाता है। अस्तु, यह उन स्थानों में सुनाई देता है जो टकोरने पर मंद मिलते हैं, विशेषकर वक्ष के ऊपरी तिहाई भाग में, आगे और पीछे। पुरातन राजयक्ष्मा के अवधि-काल में श्वास ऐसे अन्य अनेक उपद्रवों से भी श्वासनालिक होजाता है जिनमें दबाव के कारण वायु-कोष्ठ पिचक जाते हैं, जैसा कि पार्श्वकला के स्राव, वायुवक्ष और बारिवक्ष इत्यादि में होता है। इन दशाओं में श्वासनालिक श्वास केवल तभी होता है जब वायुकोष्ठों का अथवा अधिक से अधिक सूक्ष्म श्वास-प्रणालिकाओं का

संपीडन होजाता है। जब बड़ी श्वास-प्रणालियाँ दबकर पिचक जाती हैं तो श्वास-शब्द बिलकुल सुनाई नहीं देते।

उग्र फुप्फुस क्षय में श्वासनालिक श्वास का प्रधान कारण रोगाक्रान्त भाग में किलाटीय अभिव्यापन होता है। फुप्फुस तंतु की सघनता जितनी अधिक और विस्तृत होती है, श्वासनालिक श्वास उतना ही कर्कश, तेज़ और ऊँचे स्वर का होता है। क्षय-रोग में श्वासनालिक श्वास इतना तेज़ और ऊँचे स्वर का नहीं होता जितना साधारण फुप्फुस-प्रदाह में होता है और जब कभी ऐसा होता है तो यह उग्र और प्रगतिशील गंभीर रोग का सूचक होता है। इसलिए यह रोग के प्रारम्भ में, उग्र प्रदाह रूपी क्षय में, पुरातन क्षय में, रोग के नये दौरों में अर्थात् नये स्थानों के रोगाक्रान्त होने पर और रोग की अन्तिम अवस्था में घातक फुप्फुस प्रदाह के होने पर होता है। पुरातन क्षय-रोग में श्वासनालिक श्वास का स्वर जितना ऊँचा होता है, फुप्फुस-तन्तु उतना ही अधिक सघन समझा जाता है।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि साधारण पुरातन क्षय-रोग में श्वासनालिक श्वास एकदम प्रकट नहीं होता, किन्तु क्रमशः धीरे धीरे होता है। कोष्ठीय श्वास धीरे धीरे श्वासनल-कोष्ठीय और अन्त में श्वासनालिक श्वास में परिणत होजाता है।

रांध्रिक श्वास—(Cavernous breathing) रांध्रिक श्वास श्वासनालिक श्वास का एक बढ़ा हुआ रूप होता है। यह निम्न तथा उच्च दोनों स्वरों का हो सकता है। निम्न स्वर के रांध्रिक श्वास से मिलती जुलती आवाज़ दोनों हाथों को मिलाकर एक प्याले का रूप बनाकर, उसको मुँह के पास लेजाकर एक छोटे से छेद से उसमें फूँकने से उत्पन्न की जा सकती है। ऊँचे स्वर के रांध्रिक श्वास की सी आवाज़ एक नली में फूँकने से उत्पन्न की जा सकती है। जब यह ऊँचे स्वर का होता है तो इसको नालिक श्वास (Tubular breathing) कहते हैं। रांध्रिक श्वास में प्रश्वास और निश्वास दोनों समान होते हैं। इसके साथ सदैव फुसफुस-वक्ष-मौखर्य (Whispering-pectoriloquy) होता है। श्वासनालिक श्वास की भाँति यह फैला हुआ नहीं होता, प्रत्युत एक स्थान पर परिमित होता है। लाक्षणिकरूप से रांध्रिक-श्वास दो दशाओं में मिलता है—

(१) रंध्र-निर्माण में, जो बहुधा क्षय-रोग में होता है; परन्तु कभी कभी गलाव, विद्रधि और श्वासनल के फूलने से भी हो सकता है।

(२) एक बड़े श्वासनल के चारों ओर सघन ठोसपन में।

कभी कभी यह बताना बड़ा कठिन होता है कि उपरोक्त दोनों दशाओं में से कौनसी रांध्रिक-श्वास का कारण है। यदि उसके साथ गहरी मंदता हो अथवा वह रोगी में बहुत थोड़े दिनों में उत्पन्न होगई हो, तो वह ठोसपन की सूचक होती है। रोञ्जन-किरण-परीक्षा से इसका निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। श्वासनल के फूलने के कारण जो रांध्रिक-श्वास उत्पन्न होता है, वह साधारणतः फेफड़े के निचले भाग में होता है और उसके साथ अधिक मंदता नहीं होती। क्षय-रोगजनित रांध्रिक श्वास बहुधा फेफड़े के ऊपरी भाग में होता है और प्रायः सबसे पहले अंसप्राचीरक के ऊपर के प्रदेश में मिलता है। इसके साथ साधारणतः मंदता बहुत मिलती है।

भृंगारिक या एम्फोरिक श्वास—यह श्वास रांध्रिक श्वास के सदृश होता है, परन्तु ऊँचे स्वर का होता है और इसमें घंटी के समान सांगीतिक लय होती है। एक बड़े प्रतिध्वनिकारी रंध्र के समीप श्वासनालिक श्वास के होने से यह उत्पन्न होता है। यह श्वास-शब्द बन्दूक की नाल अथवा बोतल या लम्बी नारवाले मिट्टी के बर्तन के मुँह पर फूँकने से उत्पन्न आवाज़ के समान होता है। इसीलिए इसको भृंगारिक या एम्फोरिक श्वास कहते हैं। यह रंध्र का निश्चयात्मक चिह्न होता है। इसकी उत्पत्ति की सब आवश्यक दशायें क्षयी-रंध्रों में बहुत कम मिलती हैं। रंध्र की दीवारें चिकनी और तनी हुई होनी चाहिए और उसका किसी बड़े श्वासनल से सम्बंध होना चाहिए। प्रायः यह बन्द वायुवक्ष अथवा फेफड़े के बन्द रंध्रों के ऊपर मिलता है। भृंगारिक श्वास के साथ धातु की-सी झंकार, घंटी-शब्द और भृंगारिक गूँज भी मिलती है। यदि पार्श्वकला में तरल हो, तो झकोर-छलक भी मिलती है।

बीच के (मध्य रूपवाले) श्वास-शब्द

श्वासनल कोष्ठीय श्वास (Broncho vesicular breathing)—जब यक्ष्म बिखरे हुए होते हैं और उनसे फुप्फुस-तंतु ठोस नहीं होता तब श्वासनल कोष्ठीय श्वास सुनाई देता है। यह कोष्ठीय और श्वासनालिक श्वास-शब्दों का सम्मिश्रण होता है जिनमें से प्रथम छोटे छोटे सघन क्षेत्रों से आता है और दूसरा यक्ष्मों के चारों ओर से घिरे हुए अरुग्न फुप्फुस-तंतु के वायुकोष्ठों से। अतः यह स्पष्ट है कि श्वासनाल कोष्ठीय श्वास स्वस्थ

फुफ्फुस-तंतु के बीच बीच में बिखरे हुए यक्ष्मों का होना सूचित करता है। साधारणतः इससे पूर्व दीर्घ निश्वास होता है जो क्रमशः श्वासनल-कोष्ठीय श्वास में परिवर्तित होकर अन्त में श्वासनालिक श्वास में परिणत होजाता है।

भ्रम होने के कारण—श्वासनालिक और श्वासनल-कोष्ठीय श्वास स्वयं क्षय-रोग के सूचक नहीं होते। अनेक रोग-दशाओं के अतिरिक्त जिनमें ये श्वास-शब्द मिलते हैं, कभी कभी ये स्वस्थ वक्षों में भी सुनाई देते हैं। कुछ व्यक्तियों में श्वासनालिक श्वास वक्ष के ऊपरी भाग में सुनाई देते हैं। अन्तरांसफलक और दाहिने ऊर्ध्व प्राचीरक तथा ऊर्ध्वाक्षक स्थानों में, नीरोग मनुष्यों में साधारणतः श्वानालिक श्वास सुनाई देता है। इसका कारण दोनों फेफड़ों के शिखरों की बनावट का अन्तर होता है। दाहिने फेफड़े में तीन प्रधान श्वास-नल होते हैं और बायें में केवल दो। इसके अतिरिक्त श्वास-नलों की जो शाखाएँ दाहिने शिखर को जाती हैं, वे चौड़ी होती हैं और अधिक गहराई तक जाती हैं। इसलिए इस ओर श्वास-शब्दों के पृष्ठ तक पहुँचने में बाईं ओर की अपेक्षा अधिक सुविधा होती है।

इन स्थानों में श्वासनालिक श्वास साधारणतः पाया जाता है, इसलिए रोग-निरूपण में यदि रोग के अन्य लक्षण और चिह्न न हों, तो उस पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। पतले वक्षवाले व्यक्तियों में इस प्रकार के श्वास-शब्द अधिक पाये जाते हैं और ज़ोर से श्वास लेने से बढ़ जाते हैं। रोग-निर्णय में श्वासनालिक श्वास का महत्व उसी समय होता है जब कि वह केवल एक समिति क्षेत्र में पाया जाता है और उसके साथ अन्य रोग-चिह्न, विशेषकर उस स्थान को टकोरने पर मंदता, मिलते हैं।

ऊपरी शब्द—श्रवण-विधि का उल्लेख करते समय यह बतलाया गया था कि श्वास-शब्दों के रूपान्तरों की जाँच करने के बाद ऊपरी शब्दों पर पृथक् रूप से विचार करना उत्तम होता है। एकही समय दोनों पर विचार करना ठीक नहीं होता क्योंकि इससे रोग की पहचान तथा साध्यासाध्यता सम्बन्धी बहुत सी महत्वपूर्ण बातों के छूट जाने की सम्भावना होती है।

ऊपरी शब्द क्या हैं?—स्वस्थ वक्ष में श्वास-शब्दों के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द सुनाई नहीं देते। परन्तु रोग की विभिन्न दशाओं में रोगियों के वक्ष में अनेक प्रकार के ऊपरी या नैमित्तिक (Adventitious)

शब्द सुनाई देने लगते हैं। इन ऊपरी शब्दों को श्वास-कण (Rales) कहते हैं।

ऊपरी शब्दों के उद्गम-स्थान—वक्ष की परीक्षा में निम्नलिखित स्थानों और दशाओं में ऊपरी शब्द उत्पन्न होते पाये जाते हैं:—

(१) वक्ष की दीवार के तन्तुओं (त्वचा, मांसपेशियाँ) से।

(२) पार्श्वकला से—उसमें प्रदाह और बंधन होजाने पर।

(३) मध्य वक्ष के रोगों में।

(४) फेफड़े के वायुकोष्ठों, अन्तर्कोष्ठीय तन्तुओं और वायुमार्गों के रोगों में।

(५) बड़े श्वासनल और टेंटुआ के प्रदाही रोगों में।

(६) आमाशय, अन्नप्रणाली, हृदयकोष्ठ इत्यादि निकटस्थ स्थानों से शब्दों के आने से।

अतएव ऊपरी शब्दों के दो विभाग किये जा सकते हैं अर्थात्—

(१) असली श्वास-कण अर्थात् फेफड़ा या पार्श्वकला में रोग होने से उनमें उत्पन्न होने वाले कण।

(२) नक़ली श्वास-कण। नक़ली कण निम्नलिखित दशाओं में उत्पन्न हो सकते हैं।

(क) उरवीक्षक यंत्र के ठीक ठीक न लगने से—यदि उरवीक्षक यंत्र दृढ़तापूर्वक समानभाव से वक्ष पर न रक्खा जाय, तो एक अजीब प्रकार के शब्द, जिनसे 'करकर' कणों का भ्रम हो सकता है, सुनाई पड़ सकते हैं। यदि दो कानवाले उरवीक्षक यंत्र की रबड़ की नलियाँ एक दूसरे से रगड़ खाने लगें तो तीव्र संघर्षण शब्द उत्पन्न होने लगते हैं। यंत्र के वक्ष भाग को दृढ़ता से वक्ष पर रखना चाहिए और रबड़ की नलियों को एक दूसरे से कभी छूने न देना चाहिए।

(ख) मांसपेशियों के शब्द—वक्ष की दीवार की मांसपेशियों से भी शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। ये तरलयुक्त और कर्कश होते हैं और चतुरस्रा तथा उरच्छादनी पेशियों पर विशेषतया सुनाई देते हैं। ये फेफड़े के शब्द नहीं होते, यह इस बात से सिद्ध होता है कि बाँह को कंधे के जोड़ पर से घुमाने पर ये मिट जाते हैं।

(ग) वक्ष पर बालों से उत्पन्न शब्द—बालों की रगड़ से पार्श्वकला के नवीन प्रदाह के से 'करकर' क्रण उत्पन्न हो सकते हैं। बालों को साफ़ करने से अथवा "वैसलीन" या गीला साबुन लगाकर उनको चिपका देने पर वे मिट जाते हैं।

(घ) टूटी पसली से उत्पन्न शब्द—टूटी पसली से पार्श्वकला के प्रदाह के समान संघर्षण शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। चोट का हाल मिलने से और वक्ष के उस भाग को दबाने पर पीड़ा होने से उनकी पहचान की जा सकती है।

(ङ) वक्ष पर अंसफलकों की गति से—वक्ष पर अंसफलकों की हरकत होने से भी शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे शब्द स्थूल और कर्कश होते हैं और विशेषत: पतले दुबले व्यक्तियों में सुनाई देते हैं।

(च) त्वचा के नीचे वक्ष की दीवार के तन्तुओं में वायुध्मान (वायु भर जाने) से—पसली के टूटने से ऐसा प्राय: होजाता है। वायुवक्ष में भी ऐसा हो सकता है। इन 'करकर' शब्दों का श्वास-क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता। श्वास के रोकने पर भी उरवीक्षक यंत्र की हरकतों से ये घट-बढ़ सकते हैं। उरवीक्षक यंत्र को दृढ़तापूर्वक दबाने से वे मिट जाते हैं।

(छ) नाक और कंठ में श्लेष्म से—इससे शब्द तभी उत्पन्न होते हैं जब रोगी नाक से श्वास लेता है। मुँह से श्वास लेने पर वे नहीं सुनाई देते।

(ज) थूक या द्रव पदार्थों के निगलने से—इससे गड़गड़ या छलक शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। ये अन्नप्रणाली में उत्पन्न होते हैं। इसलिये बायें फुप्फुस शिखर पर और बायें अन्तरांसफलक-प्रदेशों में अधिक सुव्यक्त होते हैं। अनुकाश (Post tussive) क्रणों की जाँच करते समय उनसे भ्रम होसकता है। खाँसी से थूक के निगलने के कारण करकर या गड़गड़ शब्द सुनाई दे सकते हैं।

(झ) पेट फूलने से—बाएं फेफड़े के पाददेश में पेट के फूल जाने से भी कुछ शब्द सुनाई दे सकते हैं।

फेफड़े के रोग से उत्पन्न विभिन्न ऊपरी शब्द

फेफड़ों के रोग में उत्पन्न होनेवाले ऊपरी शब्द निम्नलिखित छ: प्रकार के होते हैं:—

(१) 'करकर' क्वण (Crepitant Rales or Crepitations)--सूक्ष्म और स्थूल ।

(२) मिश्रित चटपट क्वण (Mixed Sub crepitant Rales)

(३) श्लेष्मिक क्वण (Mucous Rales) ।

(४) रांध्रिक क्वण (Cavernous Rales) ।

(५) ऊँचे स्वर के प्रखर कास-क्वण (High Pitched Sibilant Rhonchi) ।

(६) नीचे स्वर के मंजुल कास-क्वण (Low Pitched Sonorous Rhonchi) ।

इनके साथ धातु-झंकार (Metallic tinkling) को भी रक्खा जा सकता है, यद्यपि यह क्वण पार्श्वकला के रोग में पाया जाता है । वायुवक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी दशा में यह नहीं मिलता । इसके उत्पादन के लिए चिकनी दीवारवाली बन्द कोठरी चाहिए ।

क्वणों की जाँच केवल साधारण श्वास में ही नहीं करनी चाहिए, अपितु गहरे श्वास में और खाँसने के बाद भी करनी चाहिए । ऊपरी शब्द, जब उनके मिलने की सम्भावना होती है, प्रायः नहीं मिलते । इसलिए समय समय पर बार-बार परीक्षा करनी चाहिए ।

क्वणों के वर्णन में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए:—

(१) उनका स्थान

(२) उनका रूप-भेद

(३) उनकी संख्या

(४) श्वासक्रिया के किस भाग से उनका सम्बन्ध है ?

(५) गहरे श्वास और खाँसने का उन पर क्या प्रभाव होता है ?

ऊपरी शब्दों के विभिन्न रूप-भेदों का निम्नलिखित महत्व होता है:—

(१) करकर क्वण—उनके लक्षण और कारण—'करकर' क्वण कान के निकट बालों को मलने से उत्पन्न करकर शब्द के समान होते हैं । उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कोई कोमल तंतु फट रहा है । ये प्रश्वास के अन्तिम तिहाई या आधे भाग में सुनाई देते हैं । खाँसने से ये नहीं मिटते, बल्कि खाँसी के बाद अधिक सुव्यक्त हो सकते हैं ।

रोग-दशाओं में सूक्ष्म 'करकर' कण निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं:—

(क) वायुकोष्ठों और सबसे छोटी श्वासनलिकाओं से सटे हुए फुप्फुस तंतु में गाढ़े स्राव से।

(ख) वायुकोष्ठों के उपस्तरण के अपकर्ष से और वायुकोष्ठों में स्राव के कारण कुछ रुकावट होने से।

(ग) गाढ़े श्लेष्म से वायुकोष्ठों की दीवारों के परस्पर चिपक जाने से।

(घ) फुप्फुस मूल की ग्रन्थियों के बढ़ जाने के कारण रक्तावष्टम्भ होने से। इस दशा में कण स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के तथा निश्वास और प्रश्वास दोनों में हो सकते हैं।

सूक्ष्म करकर स्वरों का महत्व—सूक्ष्म 'करकर' कण फुप्फुस-प्रदाह के प्रारम्भिक अवस्था में और राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था में सबसे अच्छे सुनाई देते हैं। जब क्षय-रोग फैलता है तो क्षयी अभिव्यापन की बढ़ती हुई सीमा पर भी ये साधारणतः सुनाई देते हैं। जैसे जैसे रोग बढ़ता है, वैसे वैसे कण स्थूलरूप के होते जाते हैं। ये कास-रोग में नहीं सुनाई देते। जब वे क्षय-रोग से उत्पन्न होते हैं तो बहुत स्थायी होते हैं और महीनों या वर्षों तक बने रहते हैं। उनके साथ विषम-कोष्ठीय या श्वासनल-कोष्ठीय श्वास और टकोरने पर कुछ मंदता मिलती है। वे इतने लाक्षणिक होते हैं कि यदि वे उन स्थानों में से, जिनमें क्षय-रोग सबसे अधिक होता है, किसी पर भी मिलें और खाँसने पर बने रहें तो केवल उन्हीं से क्षय-रोग का निश्चय हो सकता है। जिन रोगियों में क्षय-रोग का सन्देह हो, उनकी परीक्षा करने में फेफड़े के खंडों की चोटियों पर खाँसने से पहले और बाद को विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि फिर भी सन्देह रहे तो आठ-दस दिन बाद रोगी की फिर परीक्षा करके देखना चाहिए कि कण हैं या नहीं। ऐसा करने से रोग का निर्णय होजाता है।

यदि 'करकर' कणों का फिर भी सन्देह रहे तो प्रातःकाल खाँसने और कंठ साफ करने से पूर्व अथवा दिन में तीन बार ५ से १० ग्रेन तक पोटास आयोडाइड देने के बाद रोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

जब उनका कारण क्षय-रोग होता है तो वे रोग के बढ़ने पर चटपट कणों में परिणत होजाते हैं और कोष्ठीय-श्वास श्वासनल कोष्ठीय अथवा श्वासनालिक होजाता है।

(२) चटपट या भर्जन क्वण,–उनके लक्षण—ये करकर क्वणों से बड़े तथा मोटे और विभिन्न परिमाण के चटपट शब्द से होते हैं। गरम तवे पर नमक छिड़कने से उनके सदृश शब्द उत्पन्न किये जा सकते हैं।

चटपट क्वणों का महत्व—चटपट क्वण प्रधानतः प्रश्वास-काल में सुनाई देते हैं। खाँसने के बाद वे सबसे अच्छे सुनाई देते हैं, यह बात स्मरण रखनी चाहिए और यदि उनका सन्देह हो तो निम्नलिखित विधि से काम लेना चाहिए। रोगी से गहरा निश्वास लिवाकर यथासम्भव सब वायु को बाहर निकलवा देना चाहिए और तब बिना प्रश्वास लिए उससे खँसवाकर तुरन्त गहरा श्वास लिवाना चाहिए। ऐसा करने से करकर और चटपट क्वण प्रायः प्रश्वास में सुनाई दे जाते हैं। चटपट क्वणों के साथ साधारणतः श्वास-नल कोष्ठीय या श्वासनालिक श्वास होता है। वे फुप्फुस-प्रदाह के पूर्व और उत्तरकाल में, सूक्ष्म श्वासनलिकाओं के प्रदाह में और लाक्षणिक रूप से क्षय-रोग में पाये जाते हैं। श्वासनलों की अन्तिम सूक्ष्म शाखाओं में प्रदाह होने से वे उत्पन्न होते हैं। यदि क्षय-रोग में वे साधारण श्वास में सुनाई दें तो रोग को प्रारम्भिक दशा से कहीं आगे बढ़ा हुआ समझना चाहिए।

जब उनका कारण फुप्फुस-प्रदाह होता है, तो वे करकर क्वणों के बाद मिलते हैं और टकोरने पर उनके साथ मन्दता मिलती है। वे एक फुप्फुस खंड में, प्रधानतः निम्न खंड में पाये जाते हैं।

जब वे फुप्फुस शिखर पर स्थानाबद्ध होते हैं तो वे निश्चित रूप से क्षय-रोग के द्योतक होते हैं, विशेषकर जब कि उनके साथ विघातन ध्वनि की मंदता, गति की कमी और पेशियों की अकड़न तथा अन्य रोग-लक्षण भी विद्यमान हों। जब क्षय-रोग के कारण होते हैं तो सूक्ष्म करकर क्वणों की भाँति वे भी महीनों तक रहते हैं। उनकी संख्या में कमी होना और विस्तार में घटना शुभ लक्षण होता है।

(३) श्लेष्मिक क्वण—ये विभिन्न परिमाण के विशद गूँजयुक्त गुड़गुड़ या बुदबुद शब्द होते हैं। ये प्रश्वास और निश्वास दोनों में होते हैं और करकर या चटपट क्वणों की भाँति झोंकों में नहीं, बल्कि लगातार एक नियमित क्रम से आते रहते हैं। खाँसने से श्लेष्म के निकल जाने पर वे मिट जाते हैं और जब कफ फिर जमा होजाता है तो फिर

सुनाई देने लगते हैं। वे द्रवरूप होते हैं और ऐसा विदित होता है कि किसी तरल में होकर वायु के आने जाने से उत्पन्न होते हैं। उनका परिमाण वायु-प्रवाह के परिमाण पर निर्भर होता है। जब वे टेंटुआ में होते हैं तो आसन्न मृत्यु के सूचक होते हैं। इन्हीं को लोग मरणासन्न रोगियों के कंठ में कफ का घरघराना कहते हैं। जब वे बड़े श्वासनलों में उत्पन्न होते हैं तो स्थूल, नीचे स्वर के होते हैं और प्रधानतः पाददेश में होते हैं। छोटे श्वासनलों में वे छोटे, कुछ ऊँचे स्वर के और स्थानाबद्ध होते हैं। उनका रूप केवल वायुमार्गों के परिमाण पर ही निर्भर नहीं होता, बल्कि श्वासनलों में तरल और उनके परिवेष्टक तंतुओं की दशा पर भी आश्रित होता है। जब तरल पतला होता है तो वे बुदबुदरूप के और जब गाढ़ा होता है तो तेज़, और चिपकीले होते हैं। यदि निकटस्थ तंतु सघन होता है तो आवाज़ तेज़, स्पष्ट और ऊँचे स्वर की होती है। यदि फुप्फुस तंतु कोष्ठीय होता है तो वे सुदूर और कुछ अस्पष्ट होते हैं।

श्लेष्मिक कणों का महत्व—जब ये क्षय-रोग से होते हैं तो उनसे यह सूचित होता है कि फुप्फुस-तंतु नष्ट-भ्रष्ट होगया है और रोग उग्र तथा प्रगतिशील है। उनकी संख्या जितनी अधिक और वे जितने विस्तृत होते हैं, रोग उतना ही विस्तीर्ण और गम्भीर होता है। श्लेष्म-कण उग्र कास, श्वासनलोत्फुलन, फुप्फुस-शोथ, फुप्फुस-प्रदाह का शमनकाल, और रक्त-निष्ठीवन, पार्श्वकला तथा विद्रधि से श्वासनलों में पीप के फूटने में भी मिलते हैं।

रोगी के हाल, विघातन ध्वनि के रूप, श्वास-शब्द के रूप, स्थानाबद्ध अकड़न या क्षीणता और रोग-लक्षण तथा एक्सरे परीक्षा से उनके कारण के पता लगाने में सहायता मिलती है।

(४) रांध्रिक या सुरीले कण (Cavernous or Consonating rales) **और उनके लक्षण**—ये एक प्रकार के श्लेष्म कण होते हैं और अनेक बातों में उनसे मिलते जुलते हैं। ये पोले, बड़े और धातविक प्रतीत होते हैं और निश्वास तथा प्रश्वास दोनों में मिलते हैं। वे रंध्र-निर्माण के सूचक होते हैं और उनके साथ रांध्रिक श्वास होता है। रंध्र में उसके द्वार से ऊपर तक तरल स्राव भर जाने से और उसमें होकर वायु के आने जाने से वे उत्पन्न हो सकते हैं। रांध्रिक कण फेफड़े के सम्वृद्ध क्षय-रोग,

विद्रधि-निर्माण, श्वासनलोत्फुलन और पूयवक्ष के श्वासनलों में फूटने पर भी मिलते हैं।

धातविक झंकार—धातविक झंकार मैंडोलिन बाजे की-सी अथवा कांच या चीनी के प्याले को आलपीन से ठोकने से उत्पन्न शब्द के सदृश होती है। जब वायुवक्ष में कुछ तरल भी होता है तो यह पाई जाती है। वायुवक्ष की थैली में तरल के पृष्ठ से नीचे अवस्थित किसी छिद्र से वायु के बुलबुलों के ऊपर उठने से भी यह उत्पन्न हो सकती है। उन बड़े पृष्ठस्थ रंध्रों में भी, जिनकी दीवारें चिकनी होती हैं, जो तरल से अधभरे होते हैं, और जिनका बड़े श्वासनलों से सम्बंध होता है, धातविक झंकार मिल सकती है। बंद वायुवक्ष में भी धातविक झंकार मिल सकती है और इसका कारण सम्भवत: पार्श्वकला के दोनों परतों का एक दूसरे से स्निग्ध श्लेष्म से चिपकना होता है। जब वे इस प्रकार चिपके होते हैं तो गहरा श्वास लेने पर उनके यकायक अलग होते ही झंकार शब्द उत्पन्न होता है।

छलक—वायु या पूयवक्ष में रोगी के हिलने या हिलाने पर छलक भी सुनाई दे सकती है। प्रत्यक्ष श्रवण-परीक्षा से इसका सबसे अच्छा पता लगता है। साधारणत: चिकित्सक की अपेक्षा रोगी को स्वयं यह अधिक अच्छी सुनाई पड़ती है और वे ही पहले चिकित्सक को बतलाते हैं। इसके उत्पादन के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं—(१) तरल, (२) वायु, और (३) तनी हुई दीवारवाला रंध्र।

कास-कण और उनका कारण—कास-कणों से कभी क्षय-रोग की निश्चित पहचान नहीं की जा सकती। वे कास-रोग का द्योतक होते हैं। कास-रोग क्षय-रोग का गौणफल हो सकता है और प्राय: होता भी है। जब श्वासनल के परिवेष्टक तन्तु में क्षयी अभिव्यापन होता है तो उनके भीतर भी श्लेष्मकला में प्रदाह होजाता है। जब कास-कणों की संख्या अधिक होती है तो क्षय-रोग का पहचानना बड़ा कठिन होजाता है, क्योंकि उनसे श्वास के परिवर्तन और अन्य ऊपरी शब्द जो अधिक निश्चयवाचक होते हैं, छिप जाते हैं। निम्नलिखित दो में से किसी बात से वायुमार्गों में रुकावट होने से कास-कण उत्पन्न हो सकते हैं—

(क) नष्ट भ्रष्ट तन्तु या श्लेष्म के जमा होने से।

(ख) प्रदाह से श्लेष्मकला में सूजन होने से।

वे प्रश्वास और निश्वास किसी भी काल में हो सकते हैं। वे तीव्रता, परिमाण तथा काल में विभिन्न प्रकार के होते हैं और उनका नियमित क्रम नहीं होता।

मंजुल और प्रखर कास-कण और उनका महत्व—जब बड़े श्वासनल अभिभूत होते हैं तो कास-कण मंजुल, गम्भीर और नीचे स्वर के होते हैं। जब छोटे श्वासनल अभिभूत होते हैं तो वे प्रखर और ऊँचे स्वर के सीटी के सदृश या सीत्काररूप होते हैं। यदि कास-कणों की संख्या अधिक और अन्य लक्षण तथा रोग-चिह्न अनिश्चित हों तो संदेहयुक्त रोगियों में उनसे क्षय-रोग के होने या न होने का निश्चय करना बड़ा आशंकापूर्ण होता है। पहले इलाज से कास को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और तब रोग का निर्णय करना चाहिए। जब केवल कास-रोग होता है तो कास-कण फेफड़ों के पाददेशों में अन्त तक रहते हैं और देर में मिटते हैं। यदि कास के साथ क्षय-रोग होता है, तो कास-कण फुप्फुस शिखर पर क्षयी प्रक्रिया के आसपास देर तक और सबसे पीछे तक रहते हैं। क्षयी प्रक्रिया के आसपास इक्कादुक्का कास-कण प्रायः सुनाई देते हैं।

कणों का देर तक रुकना—क्षय-रोग में किसी भी प्रकार के ऊपरी शब्द मिल सकते हैं। रोग-निर्णय में उनका मूल्य इस बात में होता है कि वे बहुत दिनों तक रहते हैं, कई बार परीक्षा करने पर लगातार मिलते रहते हैं, परिमित क्षेत्र में स्थानाबद्ध होते हैं और रोग के प्रारम्भिक अवस्था में वक्ष के केवल एक पार्श्व में मिलते हैं। कणों का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण होता है। जब वे पाददेश में हों तो उनके काफ़ी विस्तृत और अधिक दिनों तक स्थाई होने पर भी उनको तब तक क्षयज नहीं समझना चाहिए जब तक अन्य साक्षी से इस बात का समर्थन न होजाय। इसके विपरीत फुप्फुस-शिखर पर स्थानाबद्ध और टिकाऊ कणों को सदा और तब तक क्षयी समझना चाहिए जब तक यह ग़लत न सिद्ध हो जाय।

कणों पर खाँसने का प्रभाव—कणों पर खाँसने का क्या प्रभाव होता है, यह भी एक महत्वपूर्ण बात होती है। जो कण पहले सुनाई दें और खाँसने पर मिट जायँ, उनका कोई महत्व नहीं होता। यदि कण खाँसने के बाद सुनाई देने लगें या खाँसने से बढ़ जायँ, तो वे महत्वपूर्ण होते हैं। जब उनका पता लगाने में कठिनाई हो, तो रोगी से निश्वास के अन्त में एक

दो बार खँसवाकर और फिर गहरा श्वास लिवाकर वे व्यक्त किये जा सकते हैं। ऐसा करने से प्रश्वास-काल में कण सुनाई दे सकते हैं। जब क्षय-रोग का सन्देह हो, तो इस विधि से रोगी के वक्षभर की परीक्षा करनी चाहिए और उन स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए जहाँ क्षय-रोग प्रारम्भ में सब से अधिक होता है।

क्षय-रोग में कणों और श्वास-शब्दों का अनुक्रम—क्षय-रोग में नैमित्तिक शब्दों का लगभग निश्चित क्रम और कुछ श्वास शब्दों से सम्बन्ध होता है।

(१) प्रारम्भ में जब केवल थोड़े यक्ष्मों का निर्माण होता है और उसके बाद कुछ रक्तावष्टम्भ होता है तो प्रश्वास के अन्त में थोड़े से सूक्ष्म करकर कण सुनाई पड़ सकते हैं। इस समय श्वास केवल कोष्ठीयरूप का होता है।

(२) जैसे जैसे अभिव्यापन और रक्तावष्टम्भ बढ़ते जाते हैं, कण बड़े तथा अधिक स्निग्ध होते जाते हैं। अन्त में लाक्षणिक चटपट कण उत्पन्न होजाते हैं। इस समय श्वासश्वासनल-कोष्ठीयरूप का होजाता है।

(३) जब श्वासनल अभिभूत होजाते हैं तो कास-कण सुनाई देने लगते हैं। पहले पहल जब केवल छोटी छोटी श्वासनलिकाएँ आक्रान्त होती हैं तो वे प्रखर तथा ऊँचे स्वर के होते हैं। बाद को जब बड़े श्वासनल अभिभूत होजाते हैं तो कासकण नीचे स्वर के और मंजुल होजाते हैं।

(४) जब फुप्फुस-तंतु सघन होजाता है, रोगस्थल गलकर श्वासनलों में फूट जाता है और श्वासनल फूल जाते हैं तथा उनमें व्रण होजाते हैं, तो कण सुरीले होजाते हैं और श्लेष्म कण प्रगत होने लगते हैं। इस दशा में श्वास-शब्द श्वास-नालिकरूप का होता है।

(५) जब रंध्रनिर्माण होता है और रंध्रों में स्राव होता है, तो निश्वास और प्रश्वास दोनों में बुदबुद या गुड़गुड़ रांध्रिक क्वण सुनाई देने लगते हैं और श्वास रांध्रिक होता है।

(६) यदि पार्श्वकला रोगाक्रान्त हो जाय तो संघर्षण शब्द सुनाई देने लगते हैं। सूक्ष्म करकर कणों से उनकी पहचान करना प्रायः बड़ा कठिन होता है।

(७) अन्त में यदि वायुवक्ष हो जाय और उसके साथ, जैसा साधारणतः होता है कुछ स्राव भी हो, तो सुरीले घातविक शब्द सुनाई देने लगते हैं।

साधारण रोगी सभी अवस्थाओं में से पार नहीं होता। रोग किसी अवस्था में रुककर शान्त हो सकता है। जब रोग शान्त होने लगता है तो ऊपरी शब्द विपरीत क्रम से मिटने लगते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अवरुद्ध रोग के रोगियों में भी प्रायः किसी शिखर पर या पाददेश में सूक्ष्म करकर कण शेष रह जाते हैं। ऐसे रोगियों में उनके महत्व का निर्णय रोगी की सम्पूर्ण दशा पर विचार करके और बार-बार परीक्षा करके करना चाहिए। ऐसे शेष रहने वाले कण वायुकोष्ठों के पिचकने का फल होते हैं और खाँसने से कुछ काल के लिए मिट जाते हैं अथवा वे सूत्र-निर्माण से उत्पन्न होते हैं।

ऊपरी शब्दों का साध्यासाध्य विचार सम्बंधी महत्व—वक्ष में कणों की उपस्थिति से साध्यसाध्यता के विषय में क्या सूचना मिलती है, इस सम्बंध में मतभेद है। इलाज से ५ से १० वर्ष बाद तक के १००० रोगियों के ट्रूडो द्वारा संकलित आँकड़े बड़े रोचक और क्षय-रोग के कार्यकर्त्ताओं के सामान्य अनुभव के प्रतिनिधि रूप हैं। इन १००० रोगियों में से ६३.८ प्रतिशत इलाज से ५ से १० वर्ष बाद अच्छे थे, २१.५ प्रतिशत मर चुके थे, और २३.८ प्रतिशत जीवित थे परन्तु कार्य करने के योग्य नहीं थे। जिन रोगियों में अस्पताल से निकलते समय रोग चिह्न कम होगये थे, उनमें से ६९.९ प्रतिशत अच्छे थे, १५.८ प्रतिशत मर चुके थे, और १२.८ प्रतिशत जीवित थे, परन्तु काम करने के योग्य नहीं थे। जिन रोगियों में अस्पताल से निकलते समय रोग चिह्न बढ़े हुए थे, उनमें से ५२ प्रतिशत अच्छे थे, ३१.८ प्रतिशत मर चुके थे और १४.७ प्रतिशत जीवित थे, परन्तु काम करने के योग्य न थे। जिन रोगियों में रोग चिह्न स्थिर थे, उनमें से ७७.९ प्रतिशत अच्छे थे, १०.१ प्रतिशत मर चुके थे, और १०.७ प्रतिशत जीवित पर काम करने योग्य नहीं थे।

पार्श्वकला के रोगों से उत्पन्न ऊपरी शब्द—जब पार्श्वकला विकार-शून्य होता है तो श्रवण करने पर वक्ष में कोई शब्द सुनाई नहीं देता। जब पार्श्वकला में रोग होता है तो चार प्रकार के शब्द सुनाई पड़ सकते हैं—रगड़ने का सा, खुरचने का सा, करकराहट या खरखराहट सा।

(१) रगड़-शब्द—पार्श्वकला के शब्दों में यह सबसे कोमल होता है और साधारणतः पार्श्वकला के प्रदाह के प्रारम्भिक अवस्था में परिमित क्षेत्र में पाया जाता है। यह अनियमित होता है और परीक्षाकाल में ही मिल और मिट सकता है। पार्श्वकला के अन्य शब्दों से भिन्न यह केवल प्रश्वासकाल में ही मिलता है। क्षय रोगी बहुधा वक्षशूल की शिकायत किया करते हैं। रगड़ के मिलने से उनके कारण का पता लग जाता है।

(२) खुरच-शब्द— खुरचने के से शब्द से ऐसा विदित होता है कि दो रुक्ष पृष्ठ एक दूसरे से रगड़ रहे हैं। यह शब्द निश्वास और प्रश्वास दोनों में सुनाई देता है और निम्नलिखित बातों से उत्पन्न हो सकता है:—

(क) पार्श्वकला के उग्र प्रदाह में रगड़ शब्द के बाद झिल्लियों के अत्यधिक शुष्क या रुक्ष होने से।

(ख) पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह से बन्धनों के आसपास।

(ग) वायुध्मान में उभरे हुए और अनियमित पार्श्वकला के भीतरी परत का बाहरी परत पर दबाव होने से।

(३) करकर-शब्द—यह शब्द नये चमड़े से उत्पन्न शब्द के समान होता है। इसके साथ साधारणतः श्वास शब्द निर्बल होता है। यह पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह का सूचक होता है और राजयक्ष्मा के पुराने रोगियों में प्रायः पाया जाता है। पार्श्वकला के दोनों परतों के चिपक जाने से करकराहट उत्पन्न होती है और साधारणतः बहुत विस्तृतक्षेत्र में सुनाई देती है।

(४) खरखराहट—यह एक तीक्ष्ण शब्द होता है जो प्रश्वास में आदि से अन्त तक सुनाई पड़ता है। अन्य शब्दों से भिन्न इससे वक्ष के स्पर्श करने पर खरखराहट मिलती है। यह बहुधा स्राव के शोषण के बाद पाई जाती है।

पार्श्वकला और फेफड़े के ऊपरी शब्दों में प्रभेद—कभी कभी पार्श्वकला के संघर्षण शब्दों की करकर कणों से पहचान करना बड़ा कठिन होता है। प्रभेद का निर्णय करने में निम्न बातों पर भरोसा किया जा सकता है:—

(१) कुछ अपवादों को छोड़कर पार्श्वकला के शब्द प्रश्वास और निश्वास दोनों में सुनाई देते हैं। करकर कण केवल प्रश्वास में ही सुनाई देते हैं।

(२) पार्श्वकला के प्रदाह पर खाँसने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फेफड़े के शब्द खाँसने पर तेज़ हो जाते हैं और बढ़ जाते हैं या कम होजाते हैं।

(३) उरवीक्षक यंत्र को दबाने से पार्श्वकला के संघर्षण-शब्द अधिक स्पष्ट होजाते हैं, परन्तु फेफड़े के करकर कणों पर कोई असर नहीं होता।

(४) पार्श्वकला के शब्द उरवीक्षक यंत्र के समीप उत्पन्न प्रतीत होते हैं और फेफड़े के शब्द दूर।

(५) पार्श्वकला के शब्द स्पर्श से भी ज्ञात हो सकते हैं, पर करकर कण कभी नहीं होते।

(६) केवल पार्श्वकला के प्रदाह से विघातन-ध्वनि की मंदता कभी नहीं उत्पन्न होती। फेफड़े के रोग में जब करकर कण उत्पन्न होते हैं तो टकोरने पर कुछ न कुछ मंदता अवश्य मिलती है। एक्सरे से भी इसका पता लग सकता है।

(७) पार्श्वकला के प्रदाह में बहुधा रोगस्थल पर शूल होता है और फुप्फुस रोग स्वयं पीड़ारहित होता है।

(८) पार्श्वकला के संघर्षण-शब्द बिना किसी परिवर्तन के महीनों या वर्षों तक बने रह सकते हैं, परन्तु करकर कणों में ऐसा नहीं होता। वे प्रतिदिन या प्रतिसप्ताह बदलते रहते हैं।

(९) शान्त श्वास की अपेक्षा प्रबल श्वास से संघर्षण-शब्द बढ़ जा सकते हैं, परन्तु करकर कणों में कभी नहीं बढ़ते।

(१०) पार्श्वकला के अकेले प्रदाह में विष-व्याप्ति के लक्षण नहीं होते। क्षय-रोग में जब संघर्षण-शब्दों से मिलते-जुलते करकर कण होते हैं तो विष-व्याप्ति के लक्षण अवश्य होते हैं।

बारि-वायुवक्ष के ऊपरी शब्द—पार्श्वकला की रोग दशाओं में जो अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं, वे उसमें वायु और तरल के होने से होते हैं। ये छलक, धातविक झंकार और मुद्राशब्द होते हैं।

छलक— यह किसी अधभरे बर्तन को हिलाने से उत्पन्न शब्द के सदृश होती है। तरल जितना पतला होता है, यह उतनी ही सुव्यक्त होती है।

धातविक झंकार—या बिन्दुपात शब्द धातु के बजने का-सा शब्द होता है। यह मैंडोलिन बाजे के अथवा काँच या चीनी के प्याले को आलपीन से ठोंकने से उत्पन्न शब्द के सदृश होता है। यह कई भाँति उत्पन्न हो सकता है।

(१) पार्श्वकला की थैली के निम्नभाग में भरे हुए तरल पर सिकुड़े हुए फेफड़े के पृष्ठ से बूँदों के टपकने से।

(२) पार्श्वकला में एकत्रित तरल के पृष्ठ पर वायु के बुलबुलों के बनकर फूटने से।
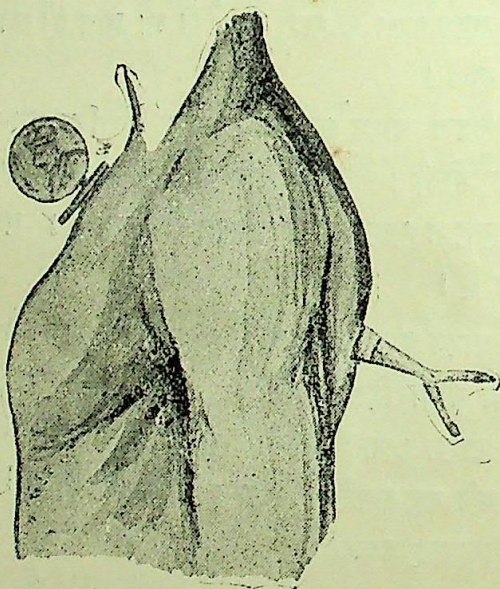
चित्र नं० ९१—मुद्राशब्द व्यक्त करने की विधि

(३) श्लेष्म के किनारे के पतला पड़कर गहरे प्रश्वास में फटने से। प्रत्येक दशा में पार्श्वकला की कोठरी उत्पन्न शब्द के अनुनादक का काम करती है।

गार्डनर का मुद्राशब्द—यह वायुवक्ष के कुछ रोगियों में मिलता है। उरवीक्षक यंत्र पीठ पर लगाया जाता है और एक दूसरा व्यक्ति सामने एक सिक्के को वक्ष पर रखकर दूसरे सिक्के से ठोंकता है (चित्र नं० ९१)।

जब बहुत तना हुआ स्थान होता है तो गूँजता हुआ धातु का सा शब्द उत्पन्न होता है। यह शब्द निहाई पर हथौड़े की चोट से उत्पन्न शब्द के सदृश होता है। जब तक तनाव न हो, यह शब्द सुनाई नहीं देता। इसलिए वायुवक्ष के अनेक रोगियों में यह नहीं मिलता। गालों को फुलाकर और एक गाल पर एक सिक्का रखकर दूसरे सिक्के से ठोंकने और दूसरे गाल पर यंत्र रखकर सुनने से इसके सदृश शब्द सुना जा सकता है और तनाव का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है।

बोल की गूँज (Vocal Resonance)

जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो उस समय उसके वक्ष पर उरवीक्षक यंत्र लगाकर सुनने से वह शब्द सुनाई नहीं पड़ता; प्रत्युत उसकी केवल भनभनाहट या गूँज सुनाई देती है। इसको बोल की गूँज कहते हैं। परीक्षा में उच्चारण के लिए साधारणतः 'एक' 'दो', 'तीन', या 'निन्यानवे' शब्द का प्रयोग किया जाता है। रोग में इस 'बोल की गूँज' के रूप और तीव्रता में परिवर्तन होजाता है। श्वास-शब्द और कणों की जाँच के बाद परीक्षक को बोल की गूँज की परीक्षा करनी चाहिए।

बोल की गूँज की तेजी रोगी की आवाज़ की तेजी और फेफड़े की वाहक दशा पर अवलम्बित होती है। स्वस्थावस्था में भी दोनों पार्श्वों में और फेफड़े के विभिन्न भागों में बोल की गूँज की तीव्रता में कुछ कुछ अन्तर होता है। बायें की अपेक्षा दाहिने पार्श्व में यह अधिक तेज़ होती है। उरवीक्षक यंत्र बड़े बड़े श्वासनलों के जितना अधिक समीप होता है यह उतनी ही अधिक तेज़ होती है।

बोल की गूँज का पता लगाने में एक पार्श्व की दूसरे पार्श्व से और एक प्रदेश की दूसरी ओर के अनुरूप प्रदेश से तुलना करनी चाहिए। वायु-कोष्ठीय फुप्फुस-तंतु शब्द का अच्छा वाहक नहीं होता। इसलिए उच्चारित शब्द की केवल गूँज सुनाई देती है। फुप्फुस तंतु के अधूरे ठोसपन में, जिसमें श्वास-शब्द श्वासनल-कोष्ठीय होजाता है, शब्दवाहन और भी अच्छा होता है, फलतः बोल की गूँज कुछ बढ़ जाती है। फेफड़े के ठोसपन में, जिसमें श्वास-शब्द श्वासनालिक होजाता है,शब्दवाहन और भी अच्छा होता है,बोल की गूँज बढ़ जाती है और शब्द कुछ स्पष्ट से प्रतीत होने लगते हैं। इस

दशा को श्वासनल-वाक्-ध्वनि (Bronchophony) कहते हैं। जब फेफड़े में विस्तृत सघनता या रंध्र होते हैं और उनसे श्वासनल तथा वक्ष की दीवार में सम्बन्ध स्थापित होजाता है तो रोगी के उच्चारित शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगते हैं। इस दशा को वक्ष-मौखर्य (Pectoriloquy) कहते हैं। रोग में बोल की गूँज की तेज़ी सघनता या रंध्रनिर्माण के अनुसार होती है।

जब पार्श्वकला में अर्थात् फेफड़ों और वक्ष की दीवार के बीच में स्राव होता है तो बोल की गूँज बहुत कम होजाती है अथवा बिलकुल मारी जाती है। पार्श्वकला के मोटेपन में और वायुध्मान में बोल की गूँज कम होजाती है।

बोल की गूँज के रूप के परिवर्तन

कुछ दशाओं में बोल की गूँज के रूप में परिवर्तन होजाता है। इसका एक उदाहरण वक्ष मौखर्य ऊपर दिया जा चुका है। वायुवक्ष में भी बोल की गूँज के रूप में अवेक्षणीय परिवर्तन होजाता है। बोले हुए शब्दों में एक विशेष प्रकार का अनुनाद, जिसको भृङ्गारिक अनुनाद या गूँज (Amphoric resonance) कहते हैं, आ जाता है। पार्श्वकला के प्रदाह के कुछ रोगियों में बोल की गूँज के रूप में कुछ परिवर्तन होजाता है। जब स्राव की मात्रा इतनी कम होती है कि फेफड़ा और वक्ष की दीवार के बीच में स्राव की केवल पतली तह होती है तो बोले हुए शब्दों में कुछ मिमियाहट या अनुनासिकता आ जाती है। भेड़ों की मिमियाहट के सदृशहोने के कारण इसको रेभण-ध्वनि (Aegophony) कहते हैं। यह रेभणध्वनि पीठ या अंसफलक के निम्न कोण के निकट अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है।

फुसफुस वक्ष-मौखर्य—(Whispering Pectoriloquy) बोल की गूँज की परीक्षा में रोगी से मामूली आवाज़ में शब्दोच्चारण कराया जाता है; परन्तु फुसफुस वक्ष-मौखर्य की जाँच के लिए रोगी से बहुत धीरे धीरे कानाफूसी के समान आवाज़ से बोलवाया जाता है। इस प्रकार का शब्दोच्चारण निश्वास-काल में करवाया जाता है। जब श्वास-शब्द कोष्ठीय या श्वासनल-कोष्ठीय रूप का होता है अर्थात निश्वास प्रश्वास से छोटा होता है तो रोगी की फुसफुसाहट बिलकुल नहीं सुनाई देती; परन्तु जब

निश्वास प्रश्वास के बराबर होता है तो रोगी की फुसफुसाहट सुनाई देने लगती है। रांध्रिक, नालीय और भृंगारिक श्वास में जब कि निश्वास प्रश्वास की भाँति पोला होजाता है, फुसफुसाहट भलीप्रकार सुनाई देती है। फुसफुस शब्द उरवीक्षक यंत्र के वक्ष भाग पर उत्पन्न प्रतीत होते हैं। इस दशा को फुसफुस वक्ष-सौखर्य कहते हैं।

बोल की गूँज और बोल की खरखराहट की तुलना—बोल की गूँज की केवल श्वास के रूप से ही घनिष्ठता नहीं होती; बल्कि बोल की खरखराहट से भी सम्बंध होता है। जिन कारणों से बोल की गूँज बढ़ती है, उनसे बोल की खराहट भी बढ़ती है। बोल की गूँज ऊँचे स्वरवाले व्यक्तियों में और बोल की खरखराहट नीचे स्वरवाले व्यक्तियों में अधिक सुव्यक्त होती है। इसलिए बोल की गूँज स्त्रियों में और बोल की खरखराहट पुरुषों में अधिक स्पष्ट होती है।
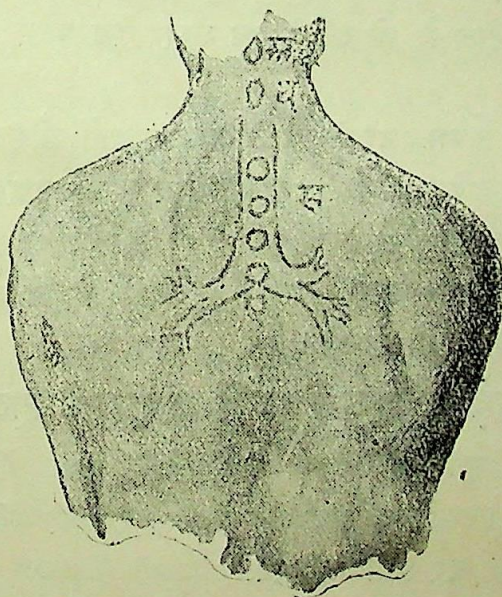
चित्र नं० ९२— डैस्पिन का रोग चिह्न

बोल की गूँज तथा खरखराहट का अभाव या कमी वायुध्मान, श्वासनलों में रुकावट, पार्श्वकला के मोटापन, वायुवक्ष और पूयवक्ष में होती है।

डैस्पिन का रोग-चिह्न—ऊपरी वक्ष कशेरुकंटकों के ऊपर बोल की गूँज की जाँच करना बड़ा मूल्यवान होता है, विशेषकर बच्चों की परीक्षा में। नीरोगावस्था में फुसफुस वक्ष-मौखर्य साधारणत: सातवें ग्रीवा कशेरुकंटक से ऊपर मिलता है। जब टेंटुआ की लसिका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं तो यह चौथे या पाँचवे वक्ष कशेरुकंटक तक सुनाई देने लगता है। डैस्पिन ने सबसे पहले इसका पता लगाया था। इसलिए इसको डैस्पिन का रोग-चिह्न कहते हैं (चित्र नं० ९२)।

खाँसी की श्रवण-परीक्षा—स्वस्थ फेफड़े पर खाँसी एक तीव्र विक्षिप्त आवाज़ सी सुनाई देती है। इसमें नालीय लक्षण नहीं होता। रोग में इसके रूप में परिवर्तन होजाता है। फेफड़े की सघनता में यह कर्कश और अधिक तीव्र होजाती है। जब फेफड़े में रंध्र होता है तो खाँसी पोली और धातविक होजाती है। जब रंध्र होता है तो खाँसने के बाद रंध्र में वायु के खिँचने से सीत्कार सा शब्द होता है। इसको अनुकाश कर्षण (Post Tussive Suction) कहते हैं। खुले वायुवक्ष में, जब कि उसका श्वासनलों से अबाध सम्बंध होता है, तो खाँसी का शब्द तेज़ और गूँजयुक्त सुनाई देता है।

खाँसी से उत्पन्न शब्द के अतिरिक्त तीन बातें और हो सकती हैं—(१) श्वास-शब्द यदि पहले अस्पष्ट हो तो खाँसी से अस्पष्ट हो सकता है, (२) ऊपरी शब्द जो पहले सुनाई देते हैं, खाँसी से विलीन हो सकते हैं और (३) खाँसी से कण उत्पन्न हो सकते हैं। खाँसने से जो कण उत्पन्न होते हैं, वे साधारत: रोग के द्योतक होते हैं।

फेफड़े के क्षय-रोग में हृदय के शब्द

फेफड़े के क्षय-रोग में हृदय के शब्दों के बादन में भी कभी कभी अन्तर होजाता है। इसलिए प्रत्येक क्षय-रोगी के वक्ष की परीक्षा करते समय हृदय की भी परीक्षा कर लेनी चाहिए।

बाईसवाँ परिच्छेद

रोञ्जन किरण-परीक्षा

रोञ्जन किरण-परीक्षा का मूल्य—रोञ्जन किरणों से परिचित होने पर लोग आशा करने लगे कि अब वक्ष के अवयवों की दशा का और फेफड़ों, श्वासनलों तथा पार्श्वकला के विकारों का पता लगाने का एक सर्वोत्कृष्ट साधन मिल गया है, परन्तु कई वर्षों के अनुभव के बाद यह विदित हुआ कि क्षय-रोग में अन्य परीक्षा-विधियों की भाँति रोञ्जन किरण-परीक्षा में भी अनेक कमियाँ होती हैं। फेफड़ों के रोगों की, विशेषकर क्षय-रोग की पहचान में रोञ्जन किरणों के मूल्य के विषय में बहुत कुछ वाद-विवाद हो चुका है और भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों ने परस्पर विरोधी मत प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ, बोनी ने लिखा है कि क्षय-रोग की पहिचान में रोञ्जन किरणों से बहुत कम सहायता मिलती है। पाविल और हार्टले ने लिखा है कि जिन रोगियों में लक्षणों और रोग-चिह्नों से फेफड़ों का प्रारम्भिक विकार सूचित होता था, उनमें से अधिकांश में उनको रोञ्जन किरणों से कोई सहायता नहीं मिली। ओस्लर ने लिखा है कि सावधानी से वक्ष की परीक्षा करने पर जितनी सूचना मिलती है, रोञ्जन किरणों से उससे अधिक सूचना नहीं मिलती। किड का कहना है कि रोग के सम्बन्ध में रोञ्जन किरणों से उतनी ही शीघ्र और उतनी ही विश्वस्त सूचना मिलती है, जितनी कि पुरानी परीक्षा-विधियों से, इसमें बड़ा संदेह है। रोञ्जन किरणों के मूल्य के सम्बन्ध में जितने मत प्रकाशित हुए हैं, उन सब में बोस्टन नगर के डाक्टर विलियम्स का मत सबसे अधिक ठीक प्रतीत होता है। उनका कहना है कि रोञ्जन किरणों से केवल रोग के विस्तार का ही पता नहीं लगता, बल्कि

अन्य परीक्षा-विधियों से जब कि रोग के स्थान का कोई पता नहीं लगता, रोञ्जन परीक्षा से लग जाता है। क्षय-रोग के कार्यकर्ताओं को यह भलीभाँति विदित होगया है कि रोञ्जन किरण-परीक्षा वक्ष के अन्दर की दशाओं का पता लगाने के लिए उतनी ही अपरिहार्य है जितनी कफ की अनुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षा करना। जब क्षय-रोग होता है तो कुशल परीक्षक को रोञ्जन चित्र (Radiogram) से इस बात का विशद पता चल जाता है कि क्या ख़राबी हो चुकी है, क्या हो रही है और क्या सम्भवतः होनेवाली है।

कुछ ऐसे रोगी देखने में आते हैं जिनके वक्ष की परीक्षा करने पर रोग के निश्चित चिह्न नहीं मिलते; परन्तु अरुचि, आलस्य, वज़न की कमी श्वास-कष्ट इत्यादि लक्षणों से रोग का सन्देह होता है। ऐसे रोगियों में रोञ्जन किरण परीक्षा से चित्र में प्रायः अवरुद्ध रोग-केन्द्रों को छायायें मिल जाती हैं। ऐसे रोगियों को यदि क्षय रोगी मानकर इलाज किया जाय तो सम्भव है कि अवरुद्ध रोग पुनः जाग्रत न हो सके। जब तक रोग-चिह्न स्पष्ट न होजाय तब तक रोग को छोड़ रखने की अपेक्षा यदि उसी समय इलाज आरम्भ कर दिया जाय तो लाभ अधिक शीघ्र, अधिक स्थायी और अल्प व्यय में हो सकता है।

रोञ्जन किरण और प्रारम्भिक क्षय की पहिचान

यह सच है कि रोञ्जन किरणों से क्षय-रोग के पूर्वतम विकारों का पता नहीं लग सकता। विकारों का पता लगने से पूर्व क्षयी अभिव्यापन इतनी मात्रा में होना चाहिए कि चित्रपट पर उसकी छाया पड़ सके। परन्तु अन्य कोई परीक्षा विधि भी तो ऐसी नहीं है जिससे प्रारम्भ में इतनी शीघ्र रोग की निश्चितरूप से पहचान की जा सके। इस अवस्था में रोग-चिह्न बहुत कम और बड़े अनिश्चित होते हैं। जैसा विलियम्स ने बताया है, प्रारम्भिक क्षय के तीन प्रकार के रोगी होते हैं:—

(१) वे, जिनमें निरीक्षण, विघातन और श्रवण-विधियों से पूर्व एक्सरे परीक्षाद्वारा रोग का पता लग जाता है।

(२) वे, जिनमें एक्सरे से और अन्य परीक्षाओं से साथ साथ रोग का पता लगता है।

(३) वे जिनमें उपरोक्त परीक्षाओं से रोग-चिह्न मिलते हैं परन्तु

एक्सरे परीक्षा से कोई विकार नहीं मिलता। इस अन्तिम श्रेणी के रोगी उतनी ही संख्या में पाये जाते हैं जितने कि प्रथम श्रेणी के।

जब क्षय-रोग भली-भाँति स्थापित होजाता है तो उसके विस्तार को दिखलाने में और पार्श्वकला में थैलीबद्ध (Encysted) स्राव अथवा स्थानाबद्ध वायुवक्ष (Localized Pneumothorax) का पता लगाने में रोञ्जन किरणों की उपयोगिता के सम्बंध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उचित रीति से प्रयोग करने पर वक्ष के अन्दर के अनेक विकारों का, जिनका पहले पता नहीं चलता था, पता लगाने में रोञ्जन किरणों से बड़ी सहायता मिलती है। फेफड़े में गहराई पर अवस्थित विकारों, पार्श्वकला में बंधनों, श्वासनलों की बढ़ी हुई लसिका ग्रन्थियों, स्थानाबद्ध तथा फुप्फुस-खंडों के अन्तर्वर्ती स्रावों, फेफड़े के छोटे छोटे रंध्रों, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी की गति और फेफड़े में विद्रधि तथा प्रणाश इत्यादि का रोञ्जन किरणों से विशेष रूप से पता लगता है।

पारम्भिक क्षय के साधारण रोगी में फेफड़े की दशा तथा रोगस्थान के विकारों का पता श्रवण और विघातन परीक्षाओं से आसानी से लग जाता है। श्रवण-परीक्षा से रोग की तेज़ी के सम्बंध में महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। परन्तु रोञ्जन किरणों से परीक्षा पूर्ण होजाती है और प्रायः गहराई पर स्थित विकारों का पता लग जाता है, जिनका अन्यथा पता नहीं चलता। जब क्षय-रोग के साथ साथ उपद्रव रूप पुरातन कास तथा वायुध्मान रोग होता है, जिससे रोग-चिह्न छिप जाते हैं, तब एक्सरे परीक्षा रोग के पता लगाने का अद्वितीय साधन होती है। इसके अतिरिक्त कृत्रिम वायुवक्ष का इलाज, जिसका हाल में बड़ी सफलतापूर्वक व्यवहार किया जारहा है, यदि रोञ्जन-किरणें उपलब्ध न होतीं, इतना सर्वमान्य कभी न हो पाता।

रोञ्जन-किरण-परीक्षा को अन्य परीक्षा-विधियों का स्थान कभी न देना चाहिए। उनका स्थान लेने के बजाय केवल उनके समर्थन के लिए रोञ्जन-किरणों का प्रयोग करना चाहिए। जब तक एक्सरे परीक्षा न कर ली जाय तब तक वक्ष की परीक्षा कदापि पूर्ण परीक्षा नहीं कही जा सकती।

सारांश—संक्षेप में एक्सरे परीक्षा के चार मुख्य उद्देश्य कहे जा सकते हैं:—

(१) अन्य परीक्षा-विधियों से ज्ञात बातों की तसदीक़ करना—वक्ष की दीवार की बनावट और गति, हृदय की स्थिति, आकार तथा परिमाण, फेफड़ों की दशा तथा फुफ्फुस-मूलों के अवयवों की दशा और वक्षोऽदर मध्यस्थ-पेशी की ऊँचाई, आकृति तथा गति-परिमाण इत्यादि के सम्बंध में अन्य परीक्षाओंद्वारा ज्ञात बातों का समर्थन करना।

(२) अन्य-परीक्षा विधियों की परिपूर्ति करना—वक्ष के अन्दर के अवयवों की, विशेषकर फुफ्फुस-मूल पर और गहराई पर अवस्थित तंतुओं के सम्बंध में अधिक पूर्णता के साथ जाँच करना। जब पुरातन कास और वायुध्मान के कारण क्षय-रोग के रोग-चिह्न आच्छादित होजाते हैं तो उनका पता लगाने के लिए रोञ्जन किरणें बड़ी उपयोगी होती हैं।

(३) कुछ अस्पष्ट दशाओं की पहचान करना—एक्सरे परीक्षा से पार्श्वकला के स्राव का तुरन्त और निश्चित रूप से पता लग जाता है। जब टकोरने पर मध्य वक्ष में गूँज की मंदता मिलती है तो उसका कारण स्थानिक प्रदाह है या रक्तकोष अथवा कोई नवोत्पत्ति अर्थात् रसौली, इसका पता एक्सरे परीक्षा से निश्चित रूप से लग जाता है।

(४) रोग की प्रगति का स्थायी लेखा रखना—समय समय पर एक्सरे परीक्षा करने से रोगी के हृदय और फेफड़े की दशा का पता चलता रहता है और यह ज्ञात होता रहता है कि रोगी कैसी प्रगति कर रहा है।

एक्सरे परीक्षा का यंत्र और विधि—एक्सरे परीक्षा के यंत्र का वर्णन इस ग्रन्थ की आलोचना का विषय नहीं है। जो इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों उनको तत्सम्बन्धी विशेष ग्रन्थों को देखना चाहिए।

एक्सरे परीक्षा की दो विधियाँ होती हैं—एक्सरे छाया निरीक्षण (Radioscopy) और एक्सरे छाया चित्रण (Radiography)

एक्सरे छाया-निरीक्षण—एक्सरे परीक्षा एक बिलकुल अंधेरे कमरे में की जाती है। छाया-निरीक्षण परीक्षा में रोगी को एक तिपाई पर बैठाकर उसके सामने एक पर्दा लगा दिया जाता है और रोगी के पीछे से उसके शरीर से रोञ्जन किरणें इस प्रकार प्रेषित की जाती हैं कि उसके वक्ष की छाया उस पर्दे पर पड़ती है। परीक्षक पर्दे के सामने बैठकर उस छाया चित्र का निरीक्षण करता है।

छाया-चित्रण विधि— इस परीक्षा में रोगी को बैठाकर एक्सरे प्रेषित करके उसके वक्ष का छाया-चित्र उतारते हैं और फिर साधारण छाया चित्रों की भाँति तैयारकर उसका निरीक्षण करते हैं।

छाया-निरीक्षण के लाभ—छाया-निरीक्षण परीक्षा के निम्नलिखित लाभ होते हैं:—

(१) यह परीक्षा शीघ्र और सुगमता से कम व्यय में होजाती है।

(२) इस परीक्षा में वक्ष के विभिन्न अवयवों का निरीक्षण गति की दशा में किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि जो भाग धुँधले प्रतीत होते हैं, उन पर गहरे श्वास का और खाँसने का क्या प्रभाव होता है। रोग की दशा में जो दो बातें बहुत साधारणतः पाई जाती हैं, वे ये हैं:—

(अ) रोग की ओर वक्षोऽदर मध्यस्थपेशी और पसलियों की गति की कमी।

(आ) रोग की ओर धुँधलापन जो खाँसने पर अथवा गहरा श्वास लेने पर दूर नहीं होता।

(३) परीक्षाकाल में रोगी की स्थिति अदल-बदलकर उसकी हर ओर से परीक्षा की जा सकती है।

(४) यदि पार्श्वकला के गर्त में तरलस्राव का सन्देह हो, तो रोगी को हिलाकर उसको गति की अवस्था में देखा जा सकता है। यदि वहाँ तरल और वायु दोनों ही हों तो रोगी के शरीर को हिलाने से तरल की सतह पर लहरें उठती हुई दिखाई पड़ती हैं।

क्षय-रोग के प्रारम्भ में रोञ्जन छायाचित्र की अपेक्षा छाया-निरीक्षण प्रायः अधिक उपयोगी होता है। कभी कभी प्रारम्भिक विकार छायाचित्र में नहीं आता। परन्तु रोगी का छाया-निरीक्षण करने पर प्रकाश की कमी, फुप्फुस शिखर अथवा रोग के किसी अन्य स्थान पर गति की कमी और वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी के परिवर्तनों से न केवल रोग की उपस्थिति का ही पता लगता है, अपितु उसके स्थान का भी पता लग जाता है।

छाया-निरीक्षण-विधि में कमियाँ—इस विधि में निम्नलिखित कमियाँ होती हैं:—

(१) इस विधि से इतना सविस्तर विवरण ज्ञात नहीं होता जितना छायाचित्रण विधि से होता है।

(२) इसका स्थायी लेखा नहीं रह सकता।

(३) एक्सरे के अधिक देर तक प्रयोग करने से परीक्षक या रोगी में त्वचाप्रदाह की सम्भावना होती है।

(४) बच्चों में जाननेयोग्य बातें कम ज्ञात होती हैं।

छायाचित्रण के लाभ—छायाचित्रण विधि के निम्नलिखित लाभ होते हैं:—

(१) मनुष्य की आँखों की अपेक्षा छायाचित्र के प्लेट अधिक चेतनाशील होते हैं, इसलिए उनसे अधिक विस्तृत विवरण ज्ञात होते हैं और प्रायः ऐसे रोग-केन्द्र का पता चल जाता है जिसका छाया-निरीक्षण से सन्देह तक नहीं होता।

(२) इसका स्थायी लेखा रहता है जिसको सुभीते से देखा जा सकता है, अन्य लोगों को दिखाया जा सकता है और जिसकी इसी प्रकार के अन्य लेखों से तुलना भी की जा सकती है।

(३) यह निरोक्षक के व्यक्तित्व के प्रभाव से मुक्त होता है, इसलिए अधिक ठीक और विश्वस्त होता है।

छायाचित्रण में कमियाँ—छायाचित्रण की विधि में निम्न-लिखित कमियाँ होती हैं—

(१) इसमें अधिक समय और व्यय लगता है।

(२) रुग्न भाग को विभिन्न मात्राओं के प्रकाशों में नहीं देखा जा सकता और न उसका गति की अवस्था में निरीक्षण किया जा सकता है।

छाया-निरीक्षण और छाया चित्रण दोनों में से कोई भी विधि स्वयं पूर्ण नहीं होती। पूर्ण परीक्षा के लिए रोगी का छायाचित्रण और छाया-निरीक्षण दोनों ही होना चाहिए। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि छाया-निरीक्षण से इन्द्रियों के कार्यसम्बन्धी परिवर्तनों के सम्बन्ध में अधिक सूचना मिलती है और छायाचित्रों से इन्द्रियों की बनावट सम्बन्धी विकारों का अधिक पता लगता है। चूँकि इन्द्रियों में कार्य्यसम्बन्धी विकार बनावट सम्बन्धी विकारों से प्रायः पहले होते हैं, इसलिए छाया-निरीक्षण से छायाचित्रण की अपेक्षा कुछ पहले रोग का पता चल जाता है।

स्वस्थ फेफड़े का छायाचित्र—फेफड़े के विकारों के रोञ्जन चित्रों का अध्ययन करने से पूर्व परीक्षक को स्वस्थ फेफड़े के एक्सरे चित्र से भली-भाँति परिचित होना आवश्यक है। वक्ष के रोञ्जन चित्र का अध्ययन विधि-पूर्वक करना चाहिए। केवल ऐसा करने से ही यह निश्चय हो सकता है कि कोई बात छूट तो नहीं गई।

स्वस्थ वक्ष के रोञ्जन चित्र में निम्नलिखित बातें देखने योग्य होती हैं:—

(१) दोनों अक्षिकास्थियों के वाक्षिक सिरे रीढ़ से समान दूरी पर होते हैं। इससे सूचित होता है कि नली ठीक बीच में लगाई गई है।

(२) पसलियों के किनारे सुस्पष्ट होते हैं। इससे विदित होता है कि रोगी हिला नहीं है।

(३) टेंटुआ और दोनों श्वास सुगमता से दिखाई पड़ते हैं।

(४) फुप्फुस शिखर से वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी तक आठ पसलियाँ गिनी जा सकती हैं। इससे विदित होता है कि मध्य किरण का समतल ठीक है, न ऊँचा है और न नीचा।

(५) वक्षोऽदर-मध्यस्थ पेशी का गुम्बद सुस्पष्ट अङ्कित होता है।

(६) पृष्ठ-वंश की कशेरुकाएं अलग अलग नहीं दिखाई देतीं।

स्वस्थ वक्ष का एक अच्छा रोञ्जन चित्र चित्र नं० ९३ में दिखलाया गया है।

रोञ्जन चित्र की परीक्षा तथा उसके वर्णन का क्रम

रोञ्जन चित्र की परीक्षा के सम्बन्ध में क्रमानुसार निम्नलिखित छः बातों पर ध्यान देना चाहिए:—

(१) वक्ष के अस्थिपञ्जर की व्यापक बनावट—स्वस्थावस्था में, जैसा कि चित्र नं० ९३ से विदित होता है, वक्ष का अस्थि-पञ्जर पूर्णतया यथाप्रमाण और दोनों ओर समान होता है। दोनों ओर की प्रत्येक पसली और अन्तर्पार्श्विक स्थल स्थिति और परिमाण में एक दूसरे के बिलकुल अनुरूप और समान होते हैं। वक्ष की कोठरी एक गुम्बद के समान प्रतीत होती है। श्वास में दोनों ओर की पसलियों की गति समान और यथा प्रमाण होती है।

(२) **हृदय**— स्वस्थावस्था में हृदय कुछ कुछ शंकाकार होता है। इसकी छाया दाहिनी ओर वक्षोऽस्थि से एक इंच दक्षिण की ओर तक जाती है और बाईं ओर मध्याक्षक रेखा से कुछ परे तक जाती है। छाया का ऊपरी किनारा वक्षोऽस्थि और अक्षकास्थि की संधि से लगभग एक इंच नीचे होता है और नीचे का किनारा छठवीं उपपर्शुका और वक्षोऽस्थि की संधि के समतल होता है। बाईं ओर हृदय की छाया में तीन गुलाई लिए हुए उभार होते हैं। ऊपर का उभार महाधमनी की गुलाई (Aortic arch) से बनता है। बीच का उभार फुप्फुसिया धमनी (Pulmonary artery) और बायें ग्राहक कोष्ठ (Auricle) से बनता है। नीचे का उभार बायें क्षेपक कोष्ठ (Ventricle) से बनता है। दाहिनी ओर दो गोल उभार होते हैं। ऊपर का उभार वृहत् धमनी और ऊर्द्ध महाशिरा से और नीचे का उभार हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ से बनता है।

(३) **मध्य वक्ष का ऊपरी भाग और फुप्फुस मूल**— मध्य वक्ष प्रदेश (media-stinum) साधारणतः वक्षोऽस्थि से कुछ चौड़ा होता है और दाहिनी ओर की अपेक्षा बाईं ओर को अधिक निकला रहता है। महाधमनी की गुलाई की छाया पाँचवें वक्ष कशेरूका के समतल बाईं ओर को अधिक सुव्यक्त होती है। फुप्फुस मूल सामने दूसरे से चौथे उपपर्शुका और वक्षोऽस्थि के जोड़ों तक और पीछे चौथे से छठवें वक्ष कशेरूकंटक तक होता है। दाहिनी ओर यह अधिक सुस्पष्ट होता है; क्योंकि बाईं ओर यह हृदय की छाया से ढका होता है। फुप्फुस मूल की छाया वहाँ के अवयवों (श्वासनल, रक्तनाड़ी, लसिकानाड़ी, और फुप्फुस तन्तु) के समवाय से बनती है। आकार में यह छाया अर्द्ध चन्द्राकार होती है और उपपर्शुकाओं से बाहर नहीं निकली होती। स्वस्थावस्था में बच्चों में पन्द्रह वर्ष की आयु तक फुप्फुस मूल की छाया में कोई विशेष बात देखनेयोग्य नहीं होती। प्रौढ़ावस्था में, विशेषकर उन लोगों में जो शहरों में रहते हैं और धूलमय व्यवसायों को करते रहे हैं, फुप्फुस मूल की छाया प्रायः प्रमुख होती है। वहाँ कभी कभी खटिक-संग्रह के कारण बड़ी सघन छायायें मिलती हैं। परन्तु उनकी सीमारेखायें अस्पष्ट या धुँधली नहीं होनी चाहिए; क्योंकि अस्पष्टता रक्तावष्टम्भ, अतएव सक्रिय रोग सूचित करती है। वहाँ की लसिका-ग्रन्थियों में श्वासनलों, फेफड़ों और पार्श्वकलाओं से वाह्य पदार्थों के

परमाणु आकर जमा होजाते हैं। वृद्धावस्था में छायायें साधारणतः सुस्पष्ट दिखाई देती हैं। मोटे तौरपर यह कहा जा सकता है कि यदि बाल्यावस्था या तरुणावस्था में फुफ्फुस मूल की छाया इतनी प्रमुख हो, जितनी कि वृद्धावस्था में होती है, अथवा वे बाहर की ओर फुफ्फुसक्षेत्र में बढ़ी हुई हों और अर्द्धचन्द्राकार न हों, तो यह निश्चय समझना चाहिए कि कोई रोग है और यदि अन्य कोई हृदय या फुफ्फुस-विकार न मिले, तो उनका कारण क्षय-रोग समझना चाहिए।

अच्छे छाया चित्रों में फुफ्फुस मूल से ऊपर, नीचे और बाहर को जाती हुई श्वासनलों की शाखाएं दिखाई दे सकती हैं। क्षय-रोग में श्वासनल सम्बन्धी लसिका-ग्रन्थियों के बढ़ जाने से ये छायायें अधिक सघन होजाती हैं।

(४) **फुफ्फुस शिखर**—स्वस्थावस्था में फुफ्फुसशिखर बिलकुल साफ़ होते हैं। वक्षोऽस्थि और अक्षिकास्थि के बीच के दोनों ओर के कोनों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यह कोन ऊपर अक्षकास्थि से और मध्यरेखा में वक्षोऽस्थि तथा मध्यवक्ष के अन्तर्गत अवयवों की छाया से बनता है। अन्य स्थानों की अपेक्षा इस स्थान में प्रारम्भिक क्षय के चिह्न अधिक मिलते हैं।

(५) **फुफ्फुस-गात** (दूसरी पसली से धरातल तक)—स्वस्थ फेफड़ों में से पार होने में रोञ्जन किरणों को बहुत कम रुकावट होती है। स्वस्थ फेफड़े के रोञ्जन चित्र का रूप समानान्तर स्वच्छ क्षितिजक्षेत्रों का सा होता है जो पसलियों की सघन छायाओं से एक दूसरे से पृथक् दिखाई पड़ते हैं। वायु की अधिकता से फेफड़े की पारदर्शिता बढ़ जाती है और वायु की कमी से किरणों के प्रेषण में रुकावट होने के कारण फेफड़ों की छाया की पारदर्शिता कम होजाती है।

स्त्रियों में स्तनों की भी, जब वे बड़े होते हैं, कुछ छाया पड़ती है जिससे वक्ष के छायाचित्रों से भलीभाँति परिचित न होनेवालों को रोग का सन्देह हो सकता है। परन्तु पीठ की ओर से रोगी का छाया-चित्र लेने से यह कठिनाई दूर होजाती है।

(६) **वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी**—बाईं ओर स्वस्थावस्था में इस मांसपेशी की छाया वक्षोऽस्थि के गात के निचले किनारे के समतल तक पहुँचती

है और दाहिनी ओर यकृति के कारण कुछ ऊँची होती है। इस मांसपेशी की गति दोनों ओर समान होती है।

इस मांसपेशी का निरीक्षण करते समय चार कोनों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पसली और इस पेशी के बीच के दाहिने और बाएं कोन, जो दोनों पार्श्वों में दिखाई देते हैं, पार्श्वकला में थोड़ा सा भी स्राव होने पर मिट जाते हैं। दाहिनी ओर हृदय और यकृति के बीच का कोन लगभग ९०° का होता है। चौथा कोन हृदय और आमाशय के बीच में होता है जो लगभग १२०° का होता है।

स्वस्थ फेफड़े के रोञ्जन चित्र के उपरोक्त विवरण को केवल पथ-प्रदर्शक मात्र ही समझना चाहिए। विभिन्न आरोग्य व्यक्तियों के फेफड़ों के चित्रों में कुछ कुछ अन्तर होता है जिससे परीक्षक को परिचित होना चाहिए और छायाचित्रों में जो परिवर्तन मिलें उनसे किसी परिणाम पर पहुँच में अत्यन्त सावधान होना चाहिए।

फेफड़े के रोग में रोञ्जन-किरण परीक्षा

जब फेफड़ों में रोग होता है, विशेषकर क्षय-रोग होता है, तो रोगी के रोञ्जन चित्रों में उपरोक्त छहों भागों, वक्ष के अस्थि-पञ्जर, हृदय, मध्यवक्ष, फुप्फुस शिखर, फुप्फुसगात और वक्षोऽदर मध्यस्थ पेशी में से किसी भी भाग में परिवर्तन हो सकता है। अतएव इन सब भागों की जाँच क्रमानुसार बड़ी सावधानी से करनी चाहिए।

रोग में वक्ष की दीवार की बनावट में परिवर्तन—वक्ष की बनावट में जितना विकार अन्य परीक्षा-विधियों से सूचित होता है, एक्सरे परीक्षा से उससे प्रायः कहीं अधिक मिलता है। यदि एक ओर की पसलियाँ गिरकर एक दूसरे के अधिक सन्निकट हो जायँ और इसका कारण पृष्ठवंश की वक्रता न हो, तो क्षय-रोग समझना चाहिए। पसलियों का थोड़ा सा गिराव सक्रिय रोग के प्रारम्भ में मिल सकता है, परन्तु दूसरी ओर पुराने रोग में सूत्रनिर्माण के कारण भी होता है।

जब फुप्फुस प्रदाह में फेफड़ा अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त नहीं होता और उसमें सूत्र निर्माण हो जाता है, जब फुप्फुस संकोच (Atelectasis) होता है, जब पुरातन बाहुवक्ष तथा पार्श्वकला का पुरातन प्रदाह होता है, विशेष-कर उस दशा में, जब स्राव होकर सूख जाता है, पसलियाँ बहुत तिर्छी हो

जाती है और छत की खपरैल के समान ढालू देख पड़ने लगती है (चित्र नं० ९४) अन्तर्पार्श्विक स्थल लगभग मिट से जाते हैं। लम्बी, संकीर्ण क्षयी वक्ष में पसलियों का तिर्छापन दोनों ओर होता है। वायुध्मान और वायुवक्ष रोगों में पसलियाँ पहले की अपेक्षा अधिक समक्षितिज होजाती हैं और अंतर्पार्श्विक स्थल अधिक चौड़े होजाते हैं। जब वायुध्मान व्यापक होता है, तो सब पसलियाँ प्रभावित होजाती हैं। परिपूरक वायुध्मान और वायुवक्ष में केवल रुग्न भाग की पसलियों में ही परिवर्तन होता है (चित्र नं० ९५)।

हृदय में परिवर्तन—क्षय-रोग में हृदय की छाया के आकार परिमाण और स्थिति में भी परिवर्तन होजाते हैं। रोग के प्रारम्भ में और उग्र रोग में, जिसमें विष-व्याप्ति के लक्षण विद्यमान होते हैं, हृदय की छाया छोटी और लम्बी होती है और मध्यरेखा में स्थित होती है (चित्र नं० ९६)। पुरातन रोग में, जब कि रोगी रोग का भली प्रकार प्रतिकार करता होता है, हृदय की छाया बड़ी और कन्दाकार होजाती है (चित्र नं० ९७)। प्रारम्भिक और उग्ररोग में अन्य मांसपेशियों की भाँति हृदय की मांसपेशियाँ भी क्षीण होजाती हैं। हृदय की यह क्षीणता क्षय-रोग के अतिरिक्त वक्ष के अन्य किसी रोग में नहीं होती। पुरातन क्षय में फुप्फुस तंतु कम होजाता है और हृदय को अधिक बाधा का सामना करना करना पड़ता है। फलतः हृदय की मांसपेशियाँ मोटी होजाती हैं। इसलिए रोञ्जनचित्र में हृदय की छाया बड़ी और कन्दाकार आती है (चित्र नं० ९८)।

रोग की किसी भी अवस्था में हृदय का छोटा होना शुभ लक्षण नहीं होता। यह इस बात का सूचक होता है कि रोगी को अब पूर्ण विश्राम करना चाहिए। यदि हृदय का आकार साधारण हो अथवा कुछ बड़ा होगया हो, तो रोगी की दशा सन्तोषजनक समझनी चाहिए। परन्तु फूले हुए हृदय को बढ़ा हुआ हृदय नहीं समझना चाहिए। हृदय का फूलना रोगी के लिए शुभ लक्षण नहीं होता।

हृदय की स्थिति—हृदय का ऊपर को ऊँचा होना फेफड़े के रोगों में बहुत विरल होता है, परन्तु उदर के रोगों में हृदय कभी कभी कुछ ऊँचा उठ जाता है। व्यापक वायुध्मान में और जब कभी पुरातन कास-रोग में हृदय कुछ नीचा होजाता है। नवोत्पत्ति (रसौली) से भी कभी कभी

ऐसा होजाता है। रुग्नावस्था में हृदय का एक ओर हटना बहुधा पाया जाता है।

पार्श्विक स्थानच्युति के कारण—हृदय के एक ओर हटने के निम्नलिखित प्रमुख कारण होते हैं—(१) फुप्फुस रोगों में सूत्रनिर्माण और वायुध्मान, (२) पार्श्वकला के रोगों में स्राव, वायुवक्ष और पूय-वायुवक्ष, (३) मध्यवक्ष के रोगों में रक्तकोष और नवोत्पत्तियाँ (बतौड़ियाँ)।

पुरातन क्षय-रोग में जब सूत्रनिर्माण अधिक होता है तो कभी कभी हृदय अपने स्थान से एक ओर को बहुत हट जाता है, जैसा कि चित्र नं० ९४ में दिखलाया गया है। इस चित्र में कुल हृदय दाहिनी ओर को चला गया है। इसी प्रकार की अतिशय स्थानच्युति पार्श्वकला में स्राव या पीव पड़ने के फलस्वरूप भी पाई जाती है। इस दशा में स्राव शोषित होने से पूर्व बहुत दिनों तक बना रहता है, जिससे फेफड़े में सूत्रनिर्माण होजाता है। सूत्रनिर्माण की अनुगामी इस स्थानच्युति के चिह्न रक्तकोष और मध्यवक्ष की नवोत्पत्ति के चिह्नों से इतने मिलते-जुलते होते हैं कि अन्य परीक्षाविधियों से उसका पहिचानना बड़ा कठिन होता है। परन्तु रोञ्जनकिरण-परीक्षा से तुरन्त इसका पता लग जाता है।

जब पार्श्वकला में स्राव या वायु के कारण हृदय दूसरी ओर को हट जाता है तो स्थानच्युति की मात्रा स्राव या वायु की मात्रा के अनुसार होती है। स्राव अथवा वायु का शोषण हो जाने पर हृदय अपनी असली स्थिति में लौट आता है। परन्तु पुरातन रोगियों में वायु या स्राव के कुछ रहते हुए भी हृदय उसी ओर को खिँच आता है जिस ओर की पार्श्वकला में स्राव या वायु होती है। इसके दो कारण होते हैं। एक तो दूसरी ओर के स्वस्थ फेफड़े में परिपूरक वायुध्मान होने से हृदय और मध्यवक्ष रोग की ओर हट जाते हैं और दूसरे रोगाक्रान्त पार्श्वकला और फेफड़े में बन्धन और सूत्रनिर्माण होने से हृदय और मध्यवक्ष उस ओर को खिँच जाते हैं।

मौरिस्टन डेवीज़ ने चिकित्सकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया था कि जब फुप्फुस प्रदाह में फुप्फुस-तन्तु की सघनता की पार्श्वकला के स्राव से पहचान करना कठिन होता है, तो हृदय की स्थिति पथप्रदर्शक का काम करती है। पार्श्वकला के स्राव में हृदय दूसरी ओर को

हटता है, परन्तु इसके विपरीत फुप्फुस-प्रदाह में वह दूसरी ओर को बिलकुल नहीं हटता, अपितु कुछ कुछ रोग की ओर को ही हटता है।

मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की छाया में परिवर्तन—मृत शरीरों की परीक्षा से विदित होता है कि जिन स्थानों में क्षय-रोग साधारणतः होता है, उनमें से फुप्फुसमूलों में सब से अधिक होता है। राजयक्ष्मा के रोगियों में से लगभग ७० प्रतिशत में मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की लसिकाग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं और किसी किसी में तो बहुत बड़ी होजाती हैं। प्रौढ़ावस्था में क्षय-रोग प्रायः इन्हीं स्थानों से आरम्भ होता है। अन्य परीक्षा-विधियों से इन स्थानों के रोग का सन्देह तो हो सकता है, परन्तु निश्चितरूप से पता नहीं चलता। एक्सरे परीक्षा से तुरन्त और निश्चय पता लग जाता है।

जिन लोगों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, जिनमें पांडुता, अवसाद श्वास कष्ट, कृशता इत्यादि लक्षण होते हैं, और जिनको बारबार बड़ी कष्टप्रद तथा साधारणतः सूखी खाँसी आती है, उनमें से अनेकों के रोञ्जन चित्र में मध्यवक्ष और फुप्फुसमूल की छाया बढ़ी हुई मिलती है। मध्यवक्ष की लसिकाग्रन्थियों का क्षय-रोग और तज्जनित विष-व्याप्ति उनकी अस्वस्थता का कारण होती है। अनेक रोगियों में, जिनमें पहले फुप्फुस क्षय के कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलते, अकस्मात् फेफड़ों का विस्तृत क्षय होजाता है। इनमें वस्तुतः पहले से मध्यवक्ष की ग्रन्थियों का क्षय होता है और जब कोई ग्रन्थि पककर श्वासनल में फूट जाती है तो फेफड़े में क्षय-रोग एक दम फैल जाता है। ऐसे रोगियों का रोञ्जनचित्र देखने में सूर्योदय के चित्र के समान होता है। इसमें फुप्फुसमूल पर छाया बहुत बड़ी और सघन होती है जो फेफड़े के वाह्य पृष्ठ की ओर अनियमितरूप से कम होती जाती है और जिससे फेफड़ा धुँधला-सा दिखाई पड़ने लगता है।

सर डागलस पावेल का कहना है कि मध्यवक्ष की लसिकाग्रन्थियाँ श्वासनलों और फेफड़ों का कूड़ाघर और अनेक कीटाणुओं की श्मशान होती हैं। उनमें आक्रमणकारी कीटाणु और शरीर की प्रतिरोधशक्तियों में निरन्तर युद्ध होता रहता है। कीटाणुओं तथा अन्य वाह्य पदार्थों की उत्तेजना से प्रकुपित होकर न केवल ग्रन्थियाँ ही फूल जाती हैं, बल्कि उनके परिवेष्टक तन्तुओं में भी प्रदाह होजाता है। इससे मटर से लेकर आलू के

आकार तक की छायायें पड़ती हैं जो कभी गोल और कभी लम्बी होती हैं। फलतः फुफ्फुस मूल की छाया अर्द्धचन्द्राकार रहने के बजाय फेफड़ों की ओर बाहर को बढ़ जाती है।

उग्र और सक्रिय रोग फुफ्फुसमूल के बढ़े हुए अवयवों के किनारों के धुँधले होने से सूचित होता है। यह धुँधलापन कभी कभी सघन छायाओं के चारों ओर दीप्तिमंडल के समान प्रतीत होता है। पुरातन और शान्त रोग छाया की सीमा के सुस्पष्ट होने से सूचित होता है। कोषबद्ध किलाटीय और कंकड़ीली गिल्टियों की छायाओं की सीमा रोञ्जनचित्र में सुस्पष्ट आती है (चित्र नं० ९८)।

जब क्षय-रोग होता है तो मध्यवक्ष और फुफ्फुसमूल की छायाओं के दो और प्रतिरूपक चित्र होते हैं। एक में छाया एक गिरे हुए वृक्ष के समान होती है जिसकी बड़ी और अनियमित शाखायें ऊपर शिखर तक, नीचे पाददेश तक और बाहर को वक्ष तक जाती हैं। ऐसे रोगियों में परिश्वासनल प्रदाह (Peribronchitis) भी होता है। दूसरे में छाया त्रिकोणाकार पंखे के समान होती है जो फुफ्फुसमूल से बाहर कक्ष तक फैली हुई होती है। फुफ्फुसमूल की बढ़ी हुई छायाओं का सबसे बड़ा कारण तो क्षय-रोग होता है, परन्तु वे कभी कभी अन्य रोगों में भी पाई जाती हैं। वक्ष की परीक्षा से इनकी पहचान की जा सकती है।

मध्य वक्ष की क्षय-रोग से बढ़ी हुई ग्रन्थियों की छाया रक्तकोष और बतौड़ी की छायाओं से मिलती-जुलती होती है। रक्तकोष से इसकी इस बात से पहचान हो सकती है कि इसकी सीमारेखा अनियमित होती है और छाया-निरीक्षण में फूलनेवाली नहीं होती, जैसी कि रक्तकोष में होती है (चित्र नं० ९९)। मध्य वक्ष की नवोत्पत्ति की छाया साधारणतः एक ओर कहीं अधिक होती है और वह गिरे हुए वृक्ष के समान नहीं होती (चित्र नं० १००)।

फुफ्फुस शिखरों के परिवर्तन—स्वस्थावस्था में फुफ्फुस-शिखर बिलकुल स्वच्छ होते हैं। शिखरों पर छाया साधारणतः क्षय-रोग के कारण होती है। अक्षकास्थि और वक्षोस्थि के बीच के कोण पर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्योंकि क्षय-रोग प्रायः यहीं पर आरम्भ होता है।

फुफ्फुस-गात में परिवर्तन—दूसरी पसली से पाददेश तक अर्थात फुफ्फुसगात में अनेक प्रकार के परिवर्तन मिल सकते हैं।

(अ) फुप्फुसक्षेत्र बिलकुल सघन या काला हो सकता है। जब पार्श्वकला के गह्वर में तरलस्राव (रक्तरस या पीव) होता है तो उसमें से होकर रोञ्जनकिरणें पार नहीं हो सकतीं, इसलिए उनकी सबसे अधिक काली छाया पड़ती है (चित्र नं० १०१)। सूत्रनिर्माण में भी काली छाया होती है। साधारणत: यह सब की सब एक-सी और इतनी गहरी नहीं होती, जितनी स्राव में होती है। परन्तु कभी कभी जब सूत्रनिर्माण बहुत होता है तो बहुत काली छाया पड़ती है और स्राव की छाया से उसकी पहचान केवल हृदय की स्थानच्युति से ही की जा सकती है (चित्र नं० १०२)। अभिव्यापन और प्रदाहज ठोसपन की भी काफ़ी काली छाया पड़ती है (चित्र नं० १०३ और १०४)। परन्तु साधारणत: इन दशाओं में सब की सब छाया एक-सी गहरी नहीं होती। कुछ भाग अधिक गहरे होते हैं और कुछ कम। इस बात से इन दशाओं की पार्श्वकला के स्राव से पहचान की जा सकती है। यद्यपि अभिव्यापन की अपेक्षा किलाटीय परिवर्तन की छाया अधिक गहरी होती है, फिर भी छाया की गहराई से सदैव इन दोनों दशाओं की पहचान नहीं की जा सकती। अन्य दशाओं को भी, विशेषकर फेफड़े की रसौलियों की ऐसी काली छाया पड़ती है जिससे भूल हो सकती है।

(आ) फेफड़े छींटेदार या चितकबरे प्रतीत हो सकते हैं। छींटेपन या चितकबरेपन में अर्द्धपारदर्शक भूमि पर विभिन्न परिमाणों के अस्पष्ट सीमावाले धब्बे अलग अलग अथवा अनेक एक साथ मिले हुए दिखाई पड़ते हैं (चित्र नं० १०५)। क्षय-रोग के रोञ्जन-चित्र का यह लाक्षणिक रूप होता है। वस्तुत: यह नियम होना चाहिए कि जब तक कुछ न कुछ निश्चित छींटापन या चितकबरापन न मिले, तब तक क्षय-रोग नहीं समझना चाहिए। स्पष्ट सीमावाले पृथक पृथक सघनक्षेत्रों को, जिनकी गणना की जा सके, भूल से चितकबरापन नहीं समझना चाहिए। रोग जितना अधिक उग्र होता है, धब्बों की परिधि उतनी ही अधिक ऊनी (अस्पष्ट) प्रतीत होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धब्बों का कारण यक्ष्म-अभिव्यापन होता है। ऊनीपन रोगकेन्द्रों के चारोंओर रक्तावष्टम्भ होने से उत्पन्न होता है। पुरातन रोग में छींटों की सीमा अधिक सुस्पष्ट होती है। पृथक् और स्पष्ट सीमावाले सघन छींटे साधारणत: कंकड़ीले किलाटीय

रोग-केन्द्रों की छाया होती है (चित्र नं० ९४ और ९८)। अवरुद्ध रोग में रक्तावष्ठम्भ नहीं होता, इसलिए छायाओं की परिधि पर अस्पष्टता नहीं होती। फेफड़े में बालुका, कर्बन तथा अन्य पदार्थों के संग्रह की भी छाया पड़ती है। अतएव रोगी की परीक्षा में इन दशाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए।

विकास की किस अवस्था में राजयक्ष्मा की रोञ्जनकिरणोंद्वारा पहचान की जा सकती है? अकेले एक यक्ष्म का पता नहीं लग सकता। पूर्व इसके कि रोञ्जन-चित्र में वे दिखाई पड़ सकें, रोग-केन्द्र कम से कम ५ या ६ सहस्रांश मीटर (लगभग $\frac{1}{6}$ या $\frac{1}{4}$ इंच) होने चाहिए। सक्रिय रोग में परिवेष्टक तन्तुओं में जो प्रदाह होता है, उससे प्रारम्भिक रोग की छाया कुछ बढ़ जाती है। छाया-निरीक्षण करने पर वक्ष और वक्षोऽदर मध्यस्थपेशी की गति की कमी के साथ साथ रोञ्जन-चित्र में स्थानाबद्ध छींटेदार क्षेत्र का मिलना फुप्फुस क्षय का सबसे पहला चिह्न होता है।

(इ) फेफड़े धुँधले प्रतीत हो सकते हैं। इससे फुप्फुस क्षेत्र में व्यापक अस्पष्टता आ जाती है। जब पुरातन प्रदाह से पार्श्वकला मोटी होजाती है तो उसकी ऐसी धुँधली छाया पड़ती है। पार्श्वकला के स्राव में, स्राव के शोषणकाल में तथा उसके पश्चात् भी रोञ्जन-चित्र में धुँधलापन होता है।

(ई) फुप्फुस क्षेत्र अधिक स्वच्छ प्रतीत हो सकता है,—जैसा कि वायुध्मान और वायुवक्ष में होता है (चित्र नं० ९४ और १०५)। परिपूरक वायुध्मान, जो क्षय-रोग में बहुत होता है, स्थानाबद्ध होता है और साधारण वायुध्मान की भाँति व्यापक नहीं होता। साधारण वायुध्मान एक व्यापक दशा होती है जिसमें सब वायुकोष्ठ फूल जाते हैं और उनकी दीवारें क्षीण होजाती हैं। इसके साथ साथ पसलियाँ अधिक समक्षितिज और हृदय की छाया कुछ नीची और खड़ी होती है। वायुवक्ष हवा से भरी हुई एक थैली के समान होता है, जिसमें फेफड़े के कोई लाक्षणिक चिह्न नहीं होते। इसके अतिरिक्त पिचके हुए फेफड़े का सुस्पष्ट किनारा साधारणतः भली-भाँति दिखाई पड़ता है और अन्तर्पार्श्विक स्थल चौड़े होजाते हैं। अस्तु, वायुवक्ष की वायुध्मान से आसानी से पहचान की जा सकती है।

श्वासनलों के परिवेष्टक अवयव मोटे होकर प्राय: फुप्फुस-मूल से किरणों की भाँति फैले हुए देख पड़ते हैं। कभी कभी ये धारी सी प्रतीत होते हैं और उनके सिरों पर गोलाकार या अंडाकार छायायें होती हैं। सक्रिय रोग में पंखाकार छाया भी देख पड़ती है। पुरातन रोगियों में फेफड़े भर में गोल गोल सघन क्षेत्र भी मिल सकते हैं, जो श्वासनलों की बढ़ी हुई ग्रंथियों अथवा कंकड़ीले क्षयी केन्द्रों से उत्पन्न होते हैं।

कभी कभी फुप्फुस-गात में काले काले क्षेत्र दिखाई देते हैं जो सूखे हुए सेव के छल्लों के समान होते हैं। इनका कारण श्वासनलों के परिवेष्टक तन्तुओं का क्षय होता है और जब एक्सरे प्लेट को श्वासनल के छिद्र के समानान्तर रखकर चित्र लिया जाता है तो वे छल्लाकार प्रतीत होते हैं। यह देखा गया है कि कभी कभी यह छल्लाकार छाया कालान्तर में रुग्नभाग के श्वासनल में फूट जाने के कारण नारंगी के आकार के ठोस काले क्षेत्रों में परिणत होजाती है। यह भी देखा गया है कि बाद को वह कम सघन और अन्त में विलीन भी होजाती है। श्वासनलस्फुलन रोग में छायायें मधुमक्खी के छत्ते के समान अथवा वर्तुलाकार तथा कोशाकार होती हैं जिनका किनारा सुस्पष्ट और बीच का छिद्र पारदर्शक होता है।

यह दोहराना आवश्यक है कि सक्रिय क्षय-रोग का लाक्षणिक चिह्न विभिन्न सघनता की छायायें होती हैं जिनके किनारे अस्पष्ट होते हैं जो उनके चारोंओर दीप्ति मंडल से प्रतीत होते हैं (चित्र नं० ९७) । ये क्षेत्र जितने अधिक संख्यक और जितने अधिक धुँधले होते हैं, रोग उतना ही अधिक सक्रिय होता है। अत्यन्त सक्रिय रोग के चित्र से हिमवर्षा का स्मरण होता है (चित्र नं० १०७) ।

पुरातन क्षय-रोग के चिह्न सुसघन क्षेत्र होते हैं जिनके बीच बीच में वायुध्मान और चितकबरेपन के चकत्ते होते हैं। टेंटुआ, मध्यवक्ष, हृदय इत्यादि स्थानाच्युत होजाते हैं और वक्ष के रूप में परिवर्तन होजाता है (चित्र नं० १०८) ।

रोग-शमन के ये चिह्न होते हैं। विभिन्न परिमाण की सुस्पष्ट सीमावाली बिखरी हुई छायायें, पृथक पृथक कंकड़ीली गिल्टियाँ, विशेषकर फुप्फुस-मूल पर, और सूत्र-निर्माण जो मूल से त्रज्याकार फैला होता है और जिसके बीच बीच में वायुध्मान के प्रकाशमय क्षेत्र होते हैं। इस दशा में ऊनीपन अथवा

चितकबरापन नहीं होता (चित्र नं० ९८)। अतएव रोञ्जन किरण न केवल रोग का पता लगाने में ही, अपितु उसकी तेज़ी, इलाज का परिणाम और इस बात का पता लगाने में भी उपयोगी होती हैं कि रोग शान्त हुआ है अथवा नहीं।

रंध्रों का पता कभो कभी अन्य परीक्षा-विधियों से बड़ी कठिनाई से लग पाता है, परन्तु रोञ्जन-परीक्षा से तुरन्त लग जाता है (चित्र नं० १०८ व १०९)। सूत्र-निर्माण और सिकुड़न होने से टेंटुआ और मध्यवक्ष रन्ध्रों की ओर हट जाते हैं। रंध्रों की आकृति उनके स्थान और उनके अन्तर्गत पदार्थों के अनुसार भिन्न भिन्न होती हैं। उनका पता लगाने के लिए परीक्षा से पूर्व रोगी को खाँसकर यथासम्भव सब कफ को निकाल देना चाहिए। प्रायः आगे पीछे दोनों ओर चित्र उतारने की आवश्यकता होती है। यदि रंध्र सम्मुख पृष्ठ के समीप हो तो पीछे से चित्र उतारने में फल अनिश्चित होगा और आगे से उतारने में चित्र विशद और स्पष्ट आवेगा तथा उससे रंध्र का निश्चयात्मक पता लग जायगा।

यदि रंध्र का परिवेष्टक भाग ठोस हो और रंध्र के अन्दर पीव या श्लेष्मादि भरा हो, तो चित्र में एक सघन काले क्षेत्र के रूप में उसकी छाया पड़ेगी। यदि रंध्र में वायु के सिवा और कुछ न हो तो उसकी छाया बहुत हलकी और स्वच्छ पड़ती है और उसकी सीमा सुस्पष्ट होती है।

छल्लाकार छायायें स्थानावद्ध वायुवक्षों से भी पड़ती है और क्षय-रोग अथवा विद्रधि के रंध्र से उनकी पहचान करना बड़ा कठिन होता है (चित्र नं० ११०)। जब छोटा वायुवक्ष होता है तो छाया का लाक्षणिक चिह्न उसका पतला तीक्ष्ण किनारा और उससे लगा हुआ चारोंओर का भाग स्वच्छ अथवा कुछ चितकबरापन लिए होता है। इसके विपरीत किलाटिय क्षेत्र से उत्पन्न फुप्फुस रंध्र की दीवारें साधारणतः सघन होती हैं और उसके चारोंओर का तन्तु ठोस होता है।

जब रोग से कोई श्वासनल निर्बल होजाता है और खांसने में ज़ोर पड़ने से फट जाता है और उससे वायु अन्तर्वर्ती फुप्फुस तन्तु में पहुँच जाती है तो उससे भी छल्लाकार छाया रोञ्जनचित्र में आ जाती है। स्थानाबद्ध वायुवक्ष से इसकी पहचान केवल रोञ्जन-चित्र से ही की जा सकती है।

उग्र वजरीले यक्ष्म जब तक बहुत पास पास नहीं होते तब तक दिखाई नहीं पड़ते। पास पास होने पर वे अनेक छोटे छोटे गोल दाने से फेफड़ों भर में बिखरे हुए प्रतीत होते हैं (चित्र नं० १११)। छायायें यक्ष्मों के समवाय से बनती हैं।

पार्श्वकला की दशाएँ—रोञ्जन चित्र में पार्श्वकला का नवीन प्रदाह सूचक कोई चिह्न नहीं होता। पार्श्वकला के पुरातन प्रदाह के छाया चित्र में निम्नलिखित चिह्न होते हैं:—

(१) व्यापक धुँधलापन, (२) अन्तर्पार्श्विक स्थलों की संकीर्णता, (३) वक्षोदरऽदर मध्यस्थपेशी की गति में कमी और रूप में परिवर्तन, (४) पृष्ठवंश का टेढ़ापन। पृष्ठवंश रोग की ओर उन्नतोदर होजाता है। साधारण प्रदाह में हृदय अपनी जगह से बहुत कम हटता है।

पार्श्वकला का स्रावक प्रदाह—पार्श्वकला का स्रावक प्रदाह एक महत्वपूर्ण लक्षण होता है। स्रावक प्रदाह के रोगियों में से लगभग ८० प्रतिशत क्षयी होते हैं। पार्श्वकला के स्रावक प्रदाह के चित्र स्राव की मात्रा के अनुसार विभिन्न रूप के होते हैं (चित्र नं० ११२)। जब स्राव थोड़ा होता है तो केवल पसली और वक्षोदरमध्यस्थपेशी के बीच के कोण भर जाते हैं। स्राव की मात्रा मध्यम होने पर एक सघन काली छाया पड़ती है जिसका ऊपरी किनारा समक्षितिज नहीं होता, वरन् टेढ़ा होता है और बाहरी सिरे पर अथवा कक्षप्रदेश में कुछ ऊँचा होता है ऊपरी किनारा कभी कभी अस्पष्ट होता है और उसके ऊपर फेफड़ा साधारणतः स्वच्छ होता है। इसके अतिरिक्त हृदय दूसरी ओर को हट जाता है और पीछे एक काला त्रिकोण 'ग्रोको के त्रिकोण' के अनुरूप दिखाई पड़ता है। अधिक स्राव में ऊपर से नीचे तक सघन काली छाया पड़ती है और हृदय, मध्य वक्ष अथवा की स्थान-च्युति सुस्पष्ट होती है। (चित्र नं० १०१)।

पार्श्वकला में पीव—पीव की वारीय स्राव से पहचान करना कठिन होता है। वारीय स्राव की अपेक्षा पूयस्राव की छाया अधिक सघन और उसकी सीमा अधिक सुस्पष्ट होती है। स्यूतबद्ध अर्थात् थैली बन्द स्रावों, फुप्फुस खंडों के अन्तर्वर्ती स्रावों और पूय स्रावों की पहचान रोञ्जन किरण-परीक्षा से सबसे अधिक निश्चयात्मक होते हैं। स्राव के स्यूतबद्ध संग्रहों के चित्र बड़े लाक्षणिक होते हैं। वे बहुत स्पष्ट और

सुसीमित होते हैं और प्रधानतः पाद-देशों में पाये जाते हैं; परन्तु कभी कभी वे फुप्फुस खंडों के बीच में और मध्य वक्ष में भी मिलते हैं।

फुप्फुस खंडों के बीच के स्राव दोनों खंडों की संधि रेखा पर मिलते हैं और उनके किनारे समक्षितिज, नतोदर अथवा उन्नतोदर होते हैं। कभी कभी वे पच्चराकार (Wedge shaped) प्रतीत होते हैं और उनका धरातल फुप्फुसमूल की ओर होता है। स्यूत बद्धस्राव से बहुधा हृदय और यकृत् के बीच का कोण मिट जाता है। कभी कभी स्यूतबद्ध स्राव, रसौली और विद्रधि में परस्पर पहचान करना बड़ा कठिन होता है। तीनों दशाओं के रोञ्जन चित्र कभी कभी बिलकुल एक-से होते हैं। इनकी परस्पर पहचान के लिए विभिन्न दिशाओं से कई एक चित्र लेने चाहिए और रोगी के लक्षणों तथा अन्य परीक्षा-विधियों द्वारा ज्ञात बातों से किसी निश्चय पर पहुँचने में सहायता लेनी चाहिए।

वायुवक्ष—वायुवक्ष को पहचान अन्य विधियों से प्रायः बड़ी कठिनता से होती है, विशेषकर जब कि वह स्थानाबद्ध और अपूर्ण होती है; परन्तु एक्सरे द्वारा तुरन्त उसकी पहचान की जा सकती है। वायुवक्ष के रोञ्जन चित्र में निम्नलिखित बातें होती हैं :—

(१) असाधारण स्वच्छ क्षेत्र, जिसमें फेफड़े के सामान्य लक्षणों का अभाव होता है, (२) वक्षोदरमध्यस्थपेशी का नीचा होजाना, (३) अन्तर्पार्श्विक स्थलों का चौड़ा होना, (४) पिचके हुये फेफड़े की स्पष्ट सीमारेखा, (५) मध्यवक्ष, टेंटुआ और हृदय का अपने स्थान से हटना (चित्र नं० ९५ और ११२)।

छल्लाकार छायायें (चित्र नं० ११०)—क्षय रोगियों में प्रायः स्थानाबद्ध वायुवक्ष की सूचक होती हैं। वे गोल अथवा अंडाकार होती हैं। परिमाण में वे कुछ सहस्रांश मीटरों के व्यास के वृत्त से लेकर दो इंच या उससे भी बड़े व्यास के वृत्तों के बराबर होती हैं। उनका भीतरी किनारा बाहरी किनारे की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण होता है। फुप्फुस-रंध्रों की भी छल्लाकार छाया पड़ सकती है। शवच्छेद से भी गुप्त रंध्रों का पता लगा है। खाँसने से वायुध्मान के फफोलों के फूटने से भी छल्लाकार छाया पड़ सकती है। बंधनों के कारण वायु की केवल एक थैली बनकर रह जाती है, फैलने नहीं पाती।

अतः इसकी भी छल्लाकार छाया पड़ती है। ऐसे स्थानाबद्ध वायुवक्षों के निम्नलिखित लक्षण होते हैं:—

(१) वे एकाएक उत्पन्न होते हैं, (२) उनमें एक-सी चमक या स्वच्छता होती है, (३) तिरछी स्थिति में चित्र लेने पर वे नहीं दिखाई पड़तीं, (४) उरवीक्षक यंत्र से वक्ष को श्रवण करने पर रंध्रों के चिह्न नहीं मिलते, (५) वे शीघ्र बदल जाते हैं अथवा विलीन होजाते हैं। मध्य वक्ष में भी कभी कभी वायुवक्ष होता है, इसका पता केवल रोञ्जन-परीक्षा से ही चल सकता है।

वारि-वायुवक्ष तथा पूय-वायुवक्ष—वारि-वायुवक्ष तथा पूय-वायुवक्ष का चित्र बड़ा विचित्र और विलक्षण होता है। पार्श्वकला के साधारण स्राव या पीवरूप-स्राव से उसकी बड़ी सुगमता से पहचान की जा सकती है। वारि-वायुवक्ष की उपमा आधे भरे हुए काँच के गिलास से दी गई है (चित्र नं० ११३, ११४ और ११५)। तरल पदार्थ वायुवक्ष की कोठरी के निचले भाग में रहता है और चित्र में बिलकुल काला दिखाई देता है। ऊपर का स्वच्छ भाग इसका बिलकुल उलटा होता है। तरल पदार्थ सदा समक्षितिज रहता है और रोगी को एकाएक झकझोरने से उसकी सतह पर हलकी लहर उठती हुई दिखाई देती है। जब वायु नहीं होती तो कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन होजाता है कि पाददेश की काली छाया का कारण पार्श्वकला का स्राव है अथवा फेफड़े का ठोसपन। निम्नलिखित बातों से निर्णय करने में सहायता मिलती है:—

(१) स्राव की छाया सदैव बिलकुल काली होती है और उसमें पसलियाँ नहीं दिखाई देतीं। (२) स्राव में अन्तर्पार्श्विक स्थलों में चौड़े होने की प्रवृत्ति होती है। फुप्फुस-रोग में उनकी प्रवृत्ति संकीर्ण होने को होती है और उनसे खपरैल की-सी आकृति बन जाती है, (३) स्राव में उस ओर के पार्श्व की चौड़ाई बढ़ जाती है और फुप्फुस-रोग में कम होजाती है, (४) स्राव में वक्षोदरमध्यस्थपेशी की सीमा स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती और समीपस्थ इन्द्रियाँ, जिस ओर स्राव होता है उससे दूसरी ओर को हटती हैं। फेफड़े के ठोसपन में इन्द्रियाँ यदि हटती हैं तो रोग की ही ओर को हटती हैं।

क्षय-रोग में वक्षोदरमध्यस्थपेशी के परिवर्तन—सन् १९०७ ई० में विलियम्स ने यह बतलाया था कि क्षय-रोग के प्रारम्भ में, जब कि रोञ्जन-चित्र में रोग की कोई छाया नहीं पड़ती, रोग की ओर वक्षोदरमध्यस्थपेशी

की गति कम होजाती है। कुछ रोगियों में गति झटकेदार होजाती है। यह चिह्न क्षय-रोग का सूचक होता है परन्तु उसका निश्चयात्मक चिह्न नहीं होता। कुछ प्रारम्भिक रोगियों में यह चिह्न नहीं भी मिलता है।

पार्श्वकला के प्रदाह में बंधनों के कारण वक्षोदरमध्यस्थपेशी के रूप में विकार होजाते हैं। कभी कभी यह शृङ्गाकार, कोणाकार अथवा अनियमितरूप का होजाता है (चित्र नं० १०५)। जब फेफड़ों में सूत्र-निर्माण होजाता है तो वक्षोदरमध्यस्थपेशी बहुधा ऊपर को उठ जाती है।

एक्सरे छाया-निरीक्षण

एक्सरे छाया-निरीक्षण में पूर्वोक्त उन्हीं छः बातों का क्रमशः निरीक्षण करना चाहिए जिनका उल्लेख छाया-चित्रण के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

(१) **वक्ष की बनावट**—स्वस्थ व्यक्तियों में दोनों पार्श्वों में पसलियाँ बनावट में एक-सी होती हैं और श्वासक्रिया में दोनों ओर एक-सी गति होती है। श्वास में वक्ष के एक पार्श्व की दूसरे पार्श्व से तुलना करनी चाहिए। जिस ओर रोग होता है उस ओर की पसलियों की गति कम होजाती है। जब दोनों ओर की पसलियाँ अधिक क्षितिज होती हैं तो वायुध्मान रोग की द्योतक होती हैं और जब यह क्षितिजता केवल एक ओर होती है तथा फेफड़े के कोई चिह्न नहीं होते, तो वायुवक्ष की सूचक होती है।

(२) **और (३) हृदय और मध्यवक्ष**—इसमें हृदय के सम्बन्ध में वही बातें देखने योग्य होती हैं जिनका उल्लेख छाया-चित्रों के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

(४) **फेफड़ों के शिखर**—फेफड़ों के शिखरों का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिए और उनकी पारदर्शिता की जाँच करनी चाहिए। सिद्धान्तरूप में दोनों शिखरों की छायाओं में पारदर्शिता एक-सी होनी चाहिए, परन्तु व्यवहार में साधारणतः कई कारणवश दोनों ओर की छायायें बिलकुल एकसी नहीं होतीं; किसी न किसी ओर की छाया दूसरी ओर की अपेक्षा कुछ अधिक गहरी होती है। इस सम्बन्ध में खाँसने पर जो विचित्र घटना होती है, वह उल्लेखनीय है। स्वस्थ मनुष्यों में शिखरों की छायाओं की पारदर्शिता में विभिन्न दशाओं के अनुसार

अंतर पड़ जाता है। गहरी साँस लेने से शिखर की छाया कुछ अधिक स्वच्छ होजाती है। शिखरों की छाया पहले धुँधली होने पर भी खाँसने पर चमकने लगती है। परन्तु जब शिखर में रोग होता है तो रुग्न शिखर की छाया खाँसने पर भी स्वच्छ नहीं होती, काली ही बनी रहती है। यह घटना छाया-चित्रण की अपेक्षा छाया-निरीक्षण में कहीं अच्छी देखी जा सकती है। कुछ लोगों का मत है कि यह घटना छाया-चित्रों में आ ही नहीं सकती।

(५) **फुप्फुस शरीर**—फेफड़ां के शरीर में छाया-निरीक्षण परीक्षा में।वही बातें ज्ञात होती हैं जिनका उल्लेख छाया-चित्रण के सम्बन्ध में किया जा चुका है। छाया-निरीक्षण में अधिक बात फेफड़ों की गति के सम्बन्ध में यह मालूम होती है कि स्वस्थ फेफड़े की अपेक्षा रुग्न फेफड़े की गति कम होजाती है और पार्श्वकला में यदि बंधन होते हैं तो उनका स्पष्ट पता चल जाता है।

(६) **वक्षोदरमध्यस्थपेशी**—छाया-निरीक्षण में इस मांस पेशी की गति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अधिकांश क्षय रोगियों में रोग की ओर इस पेशी की गति कम होजाती है। गति केवल कम ही नहीं होती, किन्तु कभी कभी झटकेदार भी होजाती है।

वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के बाहरी सिरों पर पसली और वक्षोदर-मध्यस्थपेशी के बीच के कोण होते हैं। इन कोणों की प्रत्येक रोगी में भली भाँति जाँच करनी चाहिए और दोनों ओर के कोणों की परस्पर तुलना करनी चाहिए। प्रश्वास में ये कोण बढ़ जाते हैं तथा स्वच्छ होजाते हैं, और निश्वास में संकुचित तथा कम स्वच्छ होजाते हैं। इन कोणों का कम अथवा विलीन होजाना पार्श्वकला या फेफड़े के रोग का सूचक होता है। हृदय और यकृति के बीच का कोण क्षय-रोग में, विशेषकर पार्श्वकला के प्रदाह में अधिक चौड़ा होजाता है या बिलकुल मिट जाता है।

सारांश—सारांश में यह कहा जा सकता है कि फेफड़ों के क्षयी-विकार तथा अन्य रोगावस्थाओं की पहचान करने में रोञ्जन-किरणें निस्सन्देह बड़ी उपयोगी होती हैं। उनसे प्रायः सब सन्देह दूर होकर पता लग जाता है कि रोग कौन सा है और कितना फैला हुआ है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि केवल रोञ्जन-किरण-परीक्षा से ही रोग की पहचान नहीं हो सकती। कुशल निरीक्षक केवल चित्र को देखकर

कदाचित् ही ऐसा कहेगा कि यह छायायें क्षय-रोग की हैं। वह यह कह सकता है कि इन छायाओं से क्षय-रोग सूचित होता है। रोगी के वृत्तान्त, शारीरिक परीक्षा तथा अन्य परीक्षाओं के फल से उस मत का मंडन या खंडन हो सकता है। रोञ्जन-किरण-परीक्षा को सदैव अन्तिम निर्णायक न्यायालय समझना चाहिए। इनको विचार का पहला या एकमात्र न्यायालय नहीं समझना चाहिए। क्षय-रोग में रोञ्जन-किरण की सबसे अधिक उपयोगिता उन दुर्बोध रोगियों में होती है जिनमें रोग का प्रारम्भ अज्ञात रूप से होता है। उदाहरणार्थ, जिनमें रक्त-निष्ठीवन अथवा पार्श्वशूल ही केवल एकमात्र लक्षण होता है और परीक्षा करने पर कोई रोग-चिह्न नहीं मिलता। इलाज से रोगी को जो लाभ होता है उसकी प्रगति का अनुमान करने में और साध्यासाध्यता का निर्णय करने में भी रोञ्जन-किरण परीक्षा बड़ी उपयोगी होती है। समय समय पर चित्र उतारने से रोगी की प्रगति का निश्चयात्मक पता लग सकता है और यह बताया जा सकता है कि अब सन्तोषजनक प्रगति होचुकी है और रोगी प्रकटतः अच्छा होगया है।

शब्दानुक्रमणिका

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द
अप्रयोग की क्षीणता	३१२	Disuse atrophy
अप्रत्यक्ष विधि	३५७	Indirect method
अफारा	३२६	Tympanites
अभिव्यापन	३०१	Infiltration
अभिव्यापक रूप (स्वर यंत्र के क्षय का)	१७५	Infiltrative form of tuberculosis of Larynx
अभिव्यक्ति	१४१	Manifestation
अम्लस्थाई	८	Acid fast
अम्ल रंगेच्छु श्वेत कण	२७३	Eosinophils
अर्द्ध पारदर्शक	१५०	Transluscent
अवरोध	३०४	Resistance
अव्यवहित विधि	३२६	Direct method
असफल क्षय	२३६	Abortive Tuberculosis
असाध्यालय	३	Institution for incurables
अक्षकास्थि	३०४, ३२२	Clavicle
आक्सिजन	६	Oxygen
आगर	६	Agar
आक्षता	११०	Castrated
आत्म-संक्रमण	१३१	auto-infection
आत्म-पुनर्संक्रमण	१३४	auto-reinfection
आन्तरिक या रचनात्मक कारण	६७	Endgenous or constitutional causes
आदर्शमान ध्वनि—वक्ष की	३४०	Standard note of chest
आयु वितरण	५४	Age distribution
आशावाद	२८३	Optimism
इन्फ्लुएञ्ज़ा	११५, २४३, २४६	Influenza
उग्र धावमान क्षय	२६०	Acute galloping Phthisis
उग्र बजरीला क्षय	१३,२७, १६१, २२३, ३११	Acute miliary Tuberculosis

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द
ऋणात्मक	४२	Negative
ऋतुकाल	२१९	Menstrual period
एंटीफार्मिन	२०६	Antiformin
एंटीफार्मिन विधि	२०६	Antiformin method
एडीनाईड	१६०	Adenoids
एब्डामिनल ट्यूबरक्युलोसिस	२५	Abdominal Tuberculosis
एल्बुमिन	१६१, २७६	Albumin
एल्बुमिन प्रतिक्रिया	२११	Albumin reaction
एलिस का वक्र	३५१	Ellise's curve
एक्सरे छाया चित्रण	३६४	Radiography
एक्सरे छाया निरीक्षण	३६४	Radioscopy
एसिटिक एसिड	२११	Acetic Acid
औद्योगिकता	६१	Industrialism
कंकड़ीला	२८, १३१, १५४,	Calcified
कटिबंध व्रण	१७७	Girdle ulcer
कंठमाला	१२५, १८९	Scrofula
कंदाकार	४०१	Bulbous
कफ	२०१, २०३	Sputum
कफ—रक्तवर्ण	२०३	Sputum-blood tinged
कफ में कंकड़ी	२०४	Calcarious nodules in sputum
करकर कण	२७६, २७७	Crepitations
कर्ण भाग	३५९	Ear piece
कर्बोज	२५६	Carbohydrates
कशेरुका	३६७	Vertebra
कशेरुकंटक	३२३	Spine of vertebra
कक्षस्वेद	२६५	Axillary sweat
काचभ फुप्फुस प्रदाह	१६३	Vitreous Pneumonia
कार्बल फुक्सिन	८	Carbol Fuchsin
कास कण-मञ्जुल	३७६	Sonorous rhonchi
कासीय खरखराहट	३०८	Rhonchal fremitus
कास-कण	३८०	Rhonchi

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द
डमरूमध्य—क्रानिग का	३३५	Isthmus of Kronig
डिप्थीरिया	१४६	Diphtheria
डिम्बप्रणाली	१७८	Fallopian Tube
डिम्ब	१०१	Ovum
डिम्बान्तरिक संक्रमण	१०२	Intraovular infection
डेस्पिन का रोगचिह्न	३६०	D'Espine's sign
तम्बूरीय गूंज	३३८	Tympanitic resonance
तम्बूरीय ध्वनि	३४०	Tympantic note
तापनियंत्रक केन्द्र	२१२	Heat regulatingcentre
त्वचांकन	३११	Dermography
थर्मामीटर (तापमापक यंत्र)	२१२	Thermometer
थाईसिस	२	Phthisis
थैलीबद्ध	३६३	Encysted
दानेदार तंतु	१४१	Grannulation tissue
दीप्तिमंडल	४०४	Halo
दृप्ति	२६६	Flush
दैत्यसेल	१५१	Giant Cell
दौरेदार खाँसी	१६५	Paroxysmal Cough
दाम्पत्यिक क्षय	१३७	Marital Phthisis
द्वादशांगुल	१७६	Duodenum
धनात्मक प्रतिक्रिया	४६	Positive reaction
धनात्मक एल्बुमिन प्रतिक्रिया		Positive albumin reac tion
धड़कन	३०७	Palpitation
धातु-झंकार	३७६, ३८०	Metallic tinkling
धातविकगूँज	३५४	Metallic resonance
धामनिक रक्त	१११	Arterial blood
धुकधुकी	३०३, ३१४	Apex beat
नक़ली खाँसी	१६५	Spurious Cough
नवोत्पत्ति	३०५, ४०१	Neoplasm

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द
फुप्फुसांगार	१०१, १२०	Anthracosis
फूटे पात्र की सी आवाज़	३५२	Crack pot sound
बजरीला क्षय	१६६	Miliary Tuberculosis
बतौड़ियाँ	४०२	Tumours
बद्ध रोगी	१३६	Closed Cases
बनरफ	१६५	Tenea Versicolar
बंधन	१५७, १७४, २०१	Adhesions
भयमंडल	३६५	Alarm Zone
भीतरी रक्तपात	२५२	Internal haemorrhage
भृंगारिक गूँज	३५३, ३७२	Amphoric resonance
भृंगारिक या एम्फोरिक श्वास	३७२	Amphoric breathing
भ्रमणकारी सेलें	१५२	Wandering cells
मधुमेह	११६, १८६	Diabetes
मद्यसार	२०७	Alcohol
मनुष्य क्षय-कीटाणु	१४	Human Tubercle bacilli
मरण-निष्पत्ति	४३	Death rate
महालसिका नाड़ी	१५८	Thoracic duct
महाधमनी के रक्तकोष	२४४, २४६	Aneurism of aorta
मस्तिष्कावरण	१७६, १८१, २०१	Meninges
मस्तिष्कावरण का क्षय	१५, २८२	Tuberculous meningitis
माध्यमिक व्रण	१७७	Secondary ulcers
मातृरोगक्षमता	१३८	Maternal immunity
मिश्रित संक्रमण	१६६, २०८	Mixed infection
मूत्रेन्द्रियाँ	१८१	Urinary organs
मूत्रमाद	२७७	Uraemia
मेथिलीन ब्लू	८	Methylene blue
मोतीझरा	११६	Typhoid fever
यक्ष्मा	१, १५०	Tuberculosis
यक्ष्मिन	१७	Tuberculin
यक्ष्म या क्षयार्बुद	२७, १५०	Tubercle

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द
रक्त-निष्ठीवन का क्षय-रोग की गति पर प्रभाव	२५१	
रक्तपात, सूत्रोल्वण क्षय में	२३६	
रक्तमिश्रित श्लेष्म	२३३	
रगड़ शब्द	३८४	Friction sound
रंगीन धब्बे	२६५	Pigmented spots
रचनात्मक कारण	६८	Constitutional causes
रंध्र	१५७	Cavity
रसायनाकर्षक	२७४	Chemotactic
राजयक्ष्मा	१	Phthisis
रात्रिस्वेद	२३१	Night sweats
रांध्रिक श्वास	३७१	Cavernous breathing
रेभण ध्वनि	३८८	Aegophony
रोगग्रहणशीलता	१२	Susceptibility
रोगोत्पादक शक्ति	१०	Virulence
रोग-क्षमता	१६, ३०, १००	Immunity
रोञ्जन किरण	३६१	X—Rays
रोञ्जन-चित्र	३६२, ४०५	Radiogram
लसिका कण	२४	
लसिकाणु	[illegible]५१	Lymphocytes
लसिका ग्रन्थियाँ	१२, २४, २६, १३०, १५८, १८०, ४०३	Lymph glands
लसिका तन्तु के चकत्ते	१७७	Peyer's patches
लसिका वाहिनियाँ	१५५	Lymphatics
लसिका महाशिरा	२५	Thoracic duct
लासिकीय गुप्तावस्था	१३०	Lymphoid latency
लोमप सेलें	२४	Ciliated cells
वमन	१६७	Vomiting
वमनकारक खाँसी	१६७	Emetic Cough
वक्षोऽस्थि	३०४	Sternum
वक्षोदरमध्यस्थ पेशी	१७४, ३११	Diaphragm

हिन्दी	पृष्ठ	अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द
शुद्ध शस्य	१२७	Pure culture
शुष्क क्रण	३२४	Dry rales
शोथ	३२१	Oedema
शोष	१	Atrophy
श्यामता	२६४	Cyanosis
श्रवणपरीक्षा	३५६	Auscultation
श्लेष्मिक क्रण	३७८	Mucous rales
श्लेष्मकला	२४, १४६	Mucous Membrane
श्वास-कष्ट	२२३	Dyspnœa
श्वासनल	१५४	Bronchus
श्वासनल-फुप्फुस-प्रदाह	१६३	Bronchopneumonia
श्वासनल-फुप्फुस-प्रदाहरूपी क्षय	२२३	Bronchopneumonic Phthisis
श्वासनलोत्फुलन	३५०, ४०३	Bronchiectasis
श्वासनालिक श्वास	३६४	Bronchial breathing
श्वासनल-कोष्ठीय श्वास	३६५,३७२, ३७७	Bronchovesicular breathing
श्वासनल-वाक् ध्वनि	३८८	Bronchophony
श्वेत रक्त कण	२७३	Leucocytes
श्वेत कणों की निरपेक्ष वृद्धि	२७३	Absolute lencocytosis
श्वेत कणों की सापेक्षिक वृद्धि	२७३	Relative lencocytosis
संक्रमण	४	Infection
संक्रमण, आभ्यन्तरिक	१३४	Endogenous infection
संक्रामक	३	Infectious
सन्निकट सम्पर्क	६८	Close contact
समकेन्द्रिक	१५१	Concentric
सम्पीडन सघनता	१६२	Collapse induration
सहज रचनात्मक कारण	१०७	Congenital constitutional causes
सहज क्षय	१०५	Congenital Tuberculosis